ओ३म

वेदों में योगविद्या

डॉ॰ योगेन्द्र पुरुषार्थी

॥ ओ३म् ॥

वेदों में योगविद्या

[गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार की पी-एच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का संशोधित प्रकाशन]

लेखक

डॉ० योगेन्द्र पुरुषार्थी

एम० ए० (वेद-दर्शन) पी-एच० डी०

(स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती)

प्रकाशक

यौगिक शोध संस्थान

योगधाम, ज्वालापुर, (हरिद्वार)
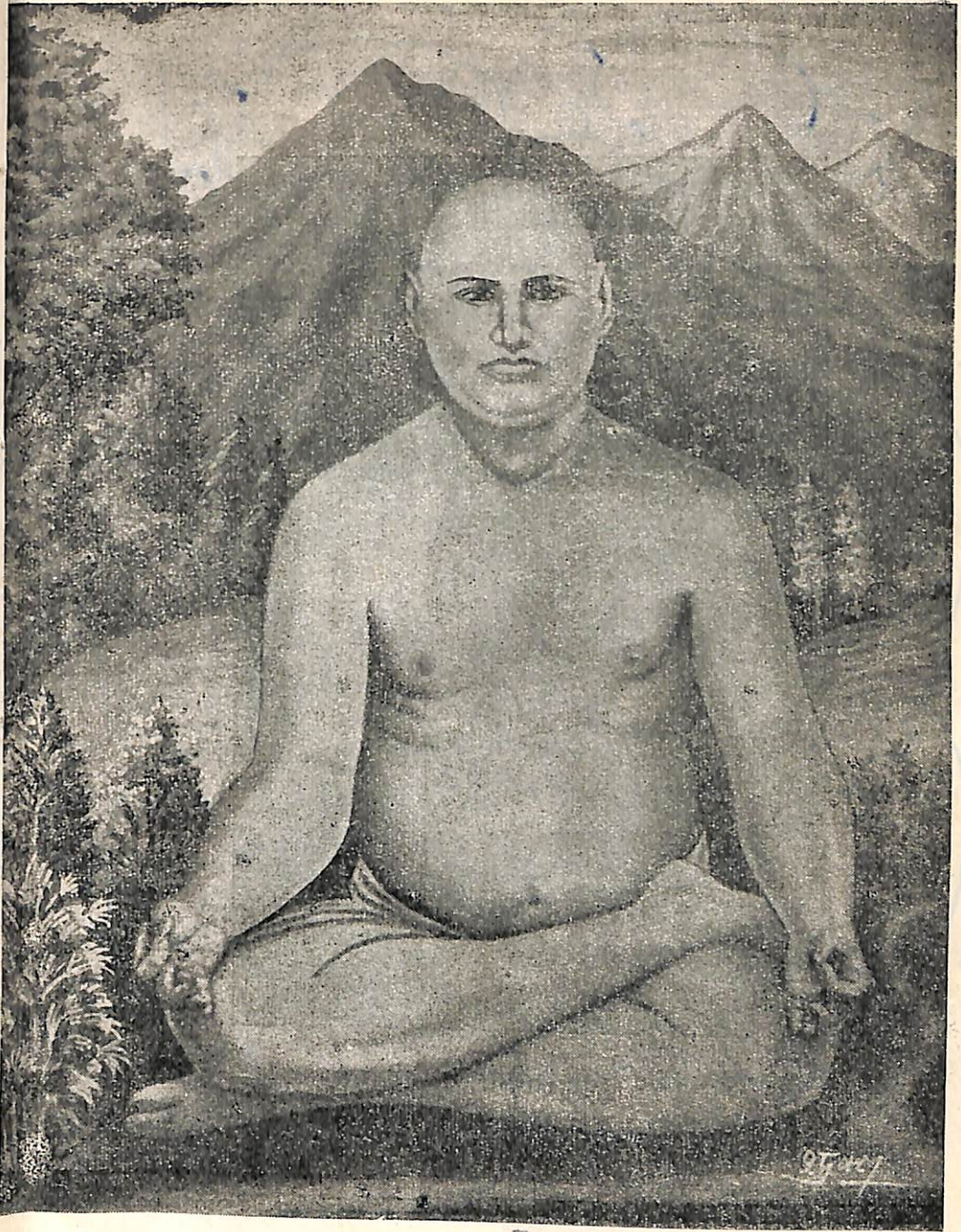
महर्षि दयानन्द सरस्वती

जो सच्चे शिव की जिज्ञासा के कारण किशोरावस्था में ही योगविद्या की ओर उन्मुख हुए तथा जिन्होंने ज्ञान एवं कर्म से वैदिक योगविद्या का पुनरुद्धार किया, उन्हें निर्वाण-शताब्दी पर हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।
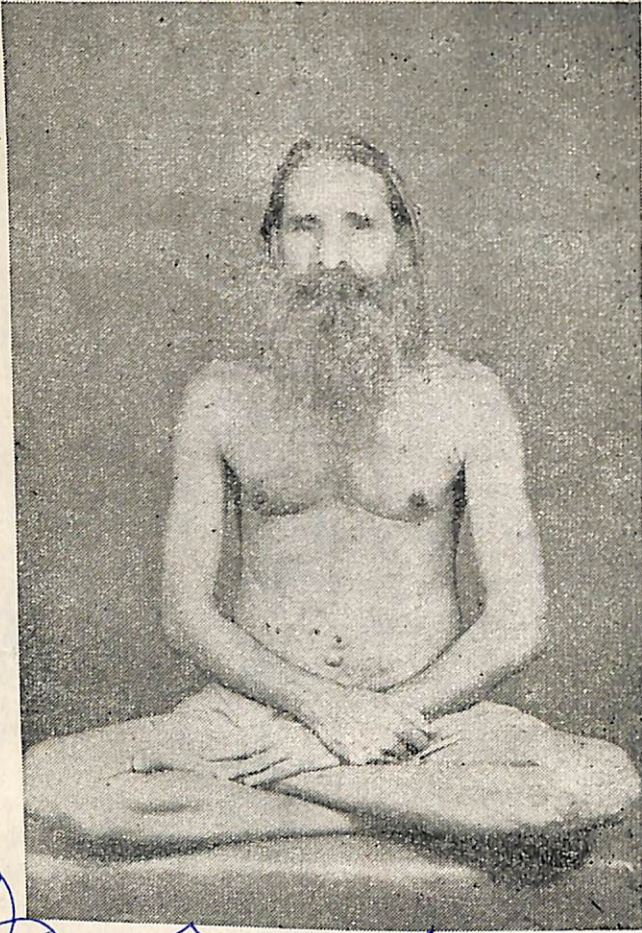
योगगवेषक, तीव्रसंवेगी, यौगिक गुरु,
स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती
को मैं यह प्रथम कृति
श्रद्धया सादर
समर्पित
करता
हूँ

★

—योगेन्द्र पुरुषार्थी

स्व० नाथूरामजी आर्य

जिन पितृचरणों की कृपा से जन्म एवं पोषण के द्वारा किशोरावस्था में ही योग-भावना अंकुरित हुई, मेरी योगाभिलाषा के प्रोत्साहन के लिए, मोहजाल को शिथिल कर, समाजसेवा हेतु आशीर्वाद दिया, स्वयं भी अन्तिम काल तक योगमयचर्या आदि चलाते रहे, उनकी पुण्य-स्मृति में प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित है।

लेखक

डॉ० योगेन्द्र पुरुषार्थी

(स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती)

जन्म सन् १९३९, शिक्षा गुरुकुल झज्जर से व्याकरणाचार्य, गुरुकुल कांगड़ी से एम० ए० (वेद-दर्शन) तथा पी-एच०डी० अध्यक्ष योगधाम ज्वालापुर, प्रधान नैष्ठिक ब्रह्मचर्य मण्डल कार्य-अहर्निश योग एवं वैदिक धर्म का प्रचार एवं प्रसार।

ग्रन्थसंकेत-सूची

अ

अ०—अध्याय
अथ०—अथर्ववेद
अथर्व० चि०—अथर्ववेद चिकित्साशास्त्र
अथर्व०पदा०—अथर्ववेद पदानुमक्रणिका
अथर्व० स्वा०—अथर्ववेद स्वाध्याय
अदादि०—अदादिगण
अमृतनादो०—अमृतनादोपनिषद्
अमृतो०—अमृतोपनिषद्
अष्टा०—अष्टाध्यायी
अष्टा०हृ०सू०अ० अष्टाङ्ग हृदय सूत्रस्थान अध्याय

आ

आ०—आत्मनेपद
आत्म०वि०—आत्मविज्ञान
आप०ध०—आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्
आश्व०गृ०—आश्वलायन गृह्यसूत्र
आर्ष०प्र०—आर्षयोग प्रदीपिका

उ

उणादि०—उणादिकोश
उ०ज्यो०—उरु ज्योति

ऋ—ऐ

ऋग्०—ऋग्वेद
ऋ०पदा०—ऋग्वेदपदानुक्रमणिका
ऋ०भा०भू०—ऋग्वेदभाष्य भूमिका
ऐत०उ०—ऐतरेयोपनिषद्
ऐत०आ०—ऐतरेय आरण्यक

क

क०योगां०—कल्याण योगाङ्क
कठो०—कठोपनिषद्
के०उ०—केनोपनिषद्
कौषी०ब्रा०—कौषीतकीब्राह्मण

ग

गी०—गीता
गुरु०प०—गुरुकुल पत्रिका
गो०श०—गोरक्ष शतक

च—छ

चु०स०—चुरादिगण सकर्मक
छान्दो०—छान्दोग्योपनिषद्

त

त०वै०—तत्त्ववैशारदी
ता०ब्रा०—ताण्ड्य ब्राह्मण
तुदादि०उ०अ०—तुदादिगण उभयपदी अनिट्
तै०आ०—तैत्तिरीय आरण्यक
तै०उप०अनु०भृगु०—तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाक भृगुवल्ली
त०ब्रा०—तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०—तैत्तिरीय संहिता

द

दया०ग्र०—दयानन्द ग्रन्थमाला
दया० द०—दयानन्द दर्शन

दिवादि०प०—दिवादिगण परस्मैपदी
दिवादि०ग्रा०ग्र०— दिवादिगणग्रात्मनेपदी ग्रनिट्

ध

धर्म०इ०—धर्मशास्त्र का इतिहास
ध्या०बिन्दू०—ध्यानबिन्दूपनिषद

न

ना०बिन्दू०—नादबिन्दूपनिषद्
निघ०—निघण्टु
नि०—निरुक्त
न्या०द०—न्यायदर्शन

प

पृ०—पृष्ठ
प्रश्नो०—प्रश्नोपनिषद्
पात०यो०द०—पातञ्जल योगदर्शन
पात०यो०सा०—पातञ्जलयोग-साधना
पार०गृ०—पारस्करगृह्यसूत्र
पारा०सं०—पाराशर संहिता

ब—म—य

ब्रह्म०वि०—ब्रह्मविज्ञान
मनु०—मनुस्मृति
मनो०वि० तथा शि०—मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प
महा०शान्ति०—महाभारत शान्तिपर्व
माण्डू०—माण्डूक्योपनिषद्
मैत्रासं०—मैत्रायणिसंहिता
यजु०—यजुर्वेद
यजु०पदा०—यजुर्वेद पदानुक्रमणिका
याज्ञ०—याज्ञवल्क्य संहिता
या०स्मृ०—याज्ञवल्क्य स्मृति
योग०तत्त्वो०—योगतत्त्वोपनिषद्
यो०—योगदर्शन
यो०सुधा—योगसुधा
योगो०—योगोपनिषद्

व

विश्वज्यो०—विश्वज्योति (योगांक)
वेदा०को०—वेदार्षकोष
वेदा०—वेदामृत

श

श०ब्रा०का०प्रा०ब्रा०—शतपथब्राह्मण काण्ड प्रपाठक ब्राह्मण
श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषद्

ष

षड्०वि०—षड्विशंब्रह्मण

स—ह

सत्या०प्र०स०—सत्यार्थप्रकाश समुल्लास
साम०—सामवेद
साम०ग्र०भा०—सामवेद ग्राध्यात्मिक भाष्य (विश्वनाथ)
साम०पदा०—सामवेद पदानुक्रमणिका
सां०—सांख्यदर्शन
स्वादि०पर०—स्वादिगण परस्मैपदी
स्वा०सं०—स्वाध्याय सन्दोह, स्वाध्याय सन्दीप
सु०सं०—सुभाषित संग्रह
सु०सं०सु०स्था०—सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान
ह०प्रदी०—हठयोग प्रदीपिका

विषय-सूची

द्वितीयाध्याय

तृतीयाध्याय

चतुर्थ अध्याय

अष्टमाध्याय

कृतज्ञता-ज्ञापन

सर्वप्रथम नित्यमुक्त, योगनिर्गम के अनादि स्रोत, परमदयालु परमेश्वर का हृदय से स्मरण करता हूँ, जिसकी असीम कृपा से मैं अनेकविध बाधाओं में भी योगाभिलाषियों का सहयोग पाकर ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य पूर्ण कर सका। पश्चात् योगविद्या के गुरु स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने योग-विषय पर शोध करने की सर्वप्रथम प्रबल प्रेरणा की। शोध-प्रबन्ध के प्रथम निर्देशक स्वामी धर्मानन्द विद्यामार्तण्ड तथा डॉ० हरिदत्त शास्त्री त्रयोदशतीर्थ ने विषय-प्रतिपादन में अमूल्य सुझाव दिये। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ, खेद है कि दोनों वदिक विद्वान् हमारे मध्य में नहीं, जिनसे पर्याप्त मार्गदर्शन की आशा थी। बाह्य निर्देशक डॉ० वाचस्पति उपाध्याय, डी० लिट्०, दिल्ली विश्वविद्यालय, ने अपने पास बुलाकर अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी विषय-प्रतिपादन हेतु विचार देकर भरपूर सहयोग किया, अत: उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। आन्तरिक-निर्देशक वेद-विभाग के रीडर एवं अध्यक्ष पं० रामप्रसाद वेदालंकार, आचार्य गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का आभारी हूँ, जिन्होंने वेद विभाग में प्रवेश तथा संवर्धन का सदैव स्नेहपूर्वक सहयोग किया।

स्वामी नारायण मुनिश्चतुर्वेद:, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री, स्वा० काव्यानन्द सरस्वती, डॉ० नरेशकुमार डी० लिट्० शाहपुर तथा डॉ० वेदव्रत आलोक श्रद्धानन्द कॉलेज दिल्ली, आदि का आभारी हूँ, जिन्होंने यथा-समय परामर्श दिया।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, आर्यवानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर, आर्यसमाज शक्तिनगर दिल्ली, आर्यसमाज अशोक विहार एवं आर्यसमाज माडल टाउन दिल्ली आदि संस्थाओं से ग्रन्थों का अमूल्य सहयोग मिला, उनका मैं आभार मानता हूँ।

निजी ग्रंथ-संग्रह से उपयोगी ग्रन्थों को देने वाले कर्मवीर दिल्ली, प्रेमदेव प्रभाकर, स्वामी विजयानन्द, विरजानन्द दैवकरणि, हरिश्चन्द्र व्रती एवं सत्यानन्द शास्त्री आदि सज्जनों का सहायता हेतु आभारी हूँ।

दिल्ली में रहकर शोधप्रबन्ध के लेखनकार्य के समय विविध प्रकार से सहायता करने वाले प्रेमपाल शास्त्री एवं आर्यसमाज शक्ति नगर के सदस्य तथा

स्त्री-समाज की प्रधाना माता लीलावती, माता सरला गुप्ता आदि को धन्यवाद देता हूँ। सत्यकाम शर्मा एम० फिल धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने, लेखन के समय पर्याप्त सहयोग किया।

स्वामी ओमानन्द सरस्वती प्रधान-परोपकापिणी सभा की प्रेरणा से ग्रन्थ-प्रकाशन शीघ्र सम्भव हुआ। शोधन तथा प्रकाशन में स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती का प्रेमपूर्वक भरपूर सहयोग रहा। डॉ० विक्रम कुमार विवेकी; मनुदेव एम० ए०, विजयपाल एम० ए०, ब्र० नन्दकिशोर, एम० ए० सुभाषचन्द्र एम०-ए०, ब्र० उपनिषत्प्रकाश एवं ब्र० ईश्वरानन्द (सागर) आदि ने विविध प्रकार से सहयोग किया।

योगाभ्यासी मूर्धन्य संन्यासियों तथा विद्वानों का कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने प्रमपूर्वक आशीर्वाद दिया। ग्रन्थ प्रकाशन में सहयोगी दानी सज्जन भी धन्यवाद के पात्रहैं।

ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन में **दुर्गा मुद्रणालय** नवीन शाहदरा के सञ्चालक, पं० रामसेवक मिश्र एवं बालकृष्ण शर्मा तथा सभी कर्मचारियों ने अत्यधिक तत्परता से सुन्दर काम किया है एवं सुनील शर्मा ने प्रूफशोधन में पूर्ण सहयोग दिया, एतदर्थ सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में, परोक्ष-प्रत्यक्ष में इस कार्य में सहयोग देनेवाले सभी प्रेमी सज्जनों का पुनः धन्यवाद करता हूँ। मेरा अपना कुछ नहीं, सभी कुछ आदिगुरु परमात्मा के द्वारा गुरुपरम्परा से प्राप्त ज्ञान-राशि का परिशोधित-स्वरूप आपके सम्मुख प्रस्तुत है। मेरी त्रुटियों को सुधार-भावना से सुझानेवाले विद्वानों का मैं भविष्य में सदैव आभारी रहूँगा।

महर्षि-दयानन्द-निर्वाण-शताब्दी वर्ष
संवत् २०४० वि०
दीपावली ४ नवम्बर, १९८३

विदुषां वशंवद :
डॉ० योगेन्द्र पुरुषार्थी
(स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती)

॥ ओ३म् तत्सत् ब्रह्मणे नमः ॥

प्राक्कथन

प्राग्योगगर्भं हि हिरण्यगर्भं,
अग्निं रविं वायुमिमानृषींश्च ।
ब्रह्माशिवं शेष-पतञ्जलिं तं,
श्रद्धासमेतं मनसा नमामि ॥१॥

वेदेषु योगाङ्ग-निरूपणं यद्,
नो दृश्यते संकलनं नु तस्य ।
तामेव विद्यां सुगमेन बोद्धुम्,
भूयोऽपि यत्नः क्रियते 'प्रबन्धे' ॥२॥

विलसति मणिराशिर्वेदरत्नाकरेऽस्मिन्,
विविधकुशलविज्ञाः पूर्वयत्नं विचक्रुः ।
तदनुगमनशैल्या योगविद्यां निभाल्य,
कृतिरियमवगम्या 'वैदिकी-योगविद्या' ॥३॥

परिशीलन प्रयोजन

सर्वनियन्ता परमात्मा की असीम सृष्टिगत कर्मों में विचित्रता एव विविधता होने से मानव सृष्टि में भी विचित्रता एवं विवधता परिलक्षित होती है। **'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्'** (सां० द० ६-४)। जन्म-जन्मान्तरों के शुभाशुभ संस्कार मानव को जीवन के उत्कर्ष तथा अपकर्ष की ओर अभिमुख करते रहते हैं। पूर्वसञ्चित संस्कारों को जिस प्रकार की अभिप्रेरक प्रेरणायें प्राप्त होती हैं मानव का चिन्तन-स्वभाव एवं जीवन-लक्ष्य भी तदनुरूप बनता चला जाता है। शिक्षा के उच्चतम साधनों द्वारा हम उत्कृष्ट संस्कारों को विकसित करते हैं एवं निम्न संस्कारों को अभिभूत करते हैं तथा उच्चादर्शों एवं उद्देश्यों की निष्ठापूर्वक परिपालना से निज-जीवन-वृत्तवनिका को पुष्पित-फलित होता हुआ देख स्वान्तः-

सुखाय एवं परजन उपकृति का अवलम्बन पाकर परमपद की प्राप्ति का निश्चय करते हैं।

उक्त शाश्वत सिद्धान्तों के अनुसार जीवन की किशोरावस्था में पितृचरणों की अनुकम्पा पाकर मुझ में ईश्वरोपासना का बीजारोपण हुआ। इन्हीं संस्कारों ने किशोरावस्था में प्रबलता धारण कर वैराग्यवृत्ति का प्रचण्ड स्वरूप धारण किया। तदनन्तर मोहजाल को शिथिल कर मैंने वैराग्यवान गरुगृहों का आश्रय लिया। लक्ष्य की पूर्ति हेतु तदनुरूप संज्ञा (योगेन्द्र) में पूर्वारोपितबीज अङ्कुरित, पल्लवित एवं परिवर्धित होता रहा। तदनन्तर श्रुति-गगन के प्रमुख नक्षत्रों का यत्किञ्चित् ज्ञान प्राप्त करके एवं इतर जगत् में दृश्यमान योग-परम्पराओं, योगाश्रमों में प्रचलित पद्धतियों को देख, साथ ही विविध पद्धतियों का अनुसरण करनेवाले साधकों की इति-कर्तव्यता का निरीक्षण कर, मुझे अपने में किंकर्तव्यविमूढावस्था का आभास हुआ। साथ ही आर्षशास्त्रों में भूरिशः योग-सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध हुआ। इन सभी ज्ञानगरिमाओं में से निर्णय-पक्ष अथवा ग्राह्य-पक्ष क्या है? श्रद्धेय क्या है? जिससे कि साधक अबाधगति से योगमार्ग पर उत्तोरोत्तर अग्रसर होता जाए। ये सभी प्रश्न निरन्तर सत्यता के अन्वेषण के लिये मुझे प्रेरित करते रहे। संहितेतर साहित्य की चिन्तनसरणी, अनादि देवकाव्य, एवं स्वतः प्रामाण्य वेद को ही अपना आदिमूल प्रकट करती है। इसी विचारसरणी से योग की भी आदिमूलकता का प्रामाण्य, ज्ञानागार वेद ही हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त सर्जनकाल से अद्यपर्यन्त मानवीय सभी समस्याओं का समाधान तथा सृष्टिरूपी यन्त्र की समुचित उपयोगिता की भरपूर व्याख्या भी वेद ही करता है, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि मानव-जन्म साफल्य कराने वाली, परमपद दिलाने वाली, निःश्रेयस की दात्री ब्रह्मविद्या का समावेश वेद में न हो।

जिज्ञासा की शान्ति के लिए, वेद की अभिव्याप्त महत्ता को प्रकाशित करने के लिए और परवर्ती ऋषिजन वेद को निजशास्त्रों में कहां तक स्थान देते हैं, इन सभी ज्वलन्त समस्याओं का समाधान प्राप्त करने के लिए, मैंने वैदिक संहिताओं में योगविद्या के परिशीलन का उपक्रम निर्धारित किया है।

आर्य संस्कृति और योगसाधन

योग आर्यों की सबसे प्राचीन और समीचीन सम्पत्ति है। यह एक ऐसी विद्या है, जिसमें विवाद का स्थान नहीं है। परन्तु संवाद का तो है, क्योंकि **'वादे वादे जायते तत्वबोधः'** यह एक सर्वसम्मत अविसंवादि तथ्य है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भव-ताप-तापित जीवों को सर्व-संतापहर-परमात्मा से मिलाने में योग और वेद-ज्ञान प्रधान साधन हैं। कालक्रम से आर्य संस्कृति का निरीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल से ही भारतीय जनसामान्य के

मानस-संयम का प्रमुख साधन योग ही प्रचलित रहा है। वैदिक संहिताएं एवं संहितेतर साहित्य इसके पुष्ट प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त भारत के सभी मत-पन्थों में प्रचलित इष्टदेवों की भक्ति, पूजन तथा आराधना के लिए अपनाये जाने वाली पद्धतियों में वैदिक योग के विकृत स्वरूपों का ही दिग्दर्शन होता है। वैदिकयोग के ये विकृत स्वरूप मोक्षप्राप्तिरूप परम-लक्ष्य की प्राप्ति कराने में सर्वथा असम्भव सिद्ध होते हैं।

योग की अन्तिम परिणति जो परमशान्ति है, वह संसार के प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय, मत, तथा पन्थों को अपेक्षित है, परन्तु उनके योगसाधनों में ही मतभेद मिलता है। बौद्धधर्म के पाली त्रिपिटकों तथा संस्कृत-ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का वर्णन मिलता है। महावीर स्वामी स्वयं योगी थे, उन्होंने जैन-धर्म के कृत्यों में योग का समावेश किया है। अब जैनधर्मानुयायी तप पर ही अधिक बल देते हैं। अंगों के अतिरिक्त उमा स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में और हेमचन्द ने योगशास्त्र का स्वतन्त्र चिन्तन किया है। प्रस्थानभिन्न होने पर भी योग के ये विवेचन उपयोगी तथा उपादेय हैं। तन्त्र-ग्रन्थों में योग का स्थान प्रसिद्ध है, इनमें तान्त्रिक सिद्धियों की प्रक्रिया वशीकरण, मारण, उच्चाटन से ओत-प्रोत है। गोरक्षनाथ के नाथ-सम्प्रदाय को योगि-सम्प्रदाय के नाम से पुकारते हैं। गोरक्ष संहिता, हठयोगप्रदीपिका घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता आदि हठयोग का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। इसी प्रकार हिन्दी एवं अन्य साहित्य में तुलसीदास कबीर, पलटूसाहब, बाबा रामलाल, गुरुनानक, दादू, सुन्दरदास, चरनदास, गरीबदास, रामसहाय, वजहन, धरनीदास, जगजीवन साहिब, धनी धर्मदास इत्यादि के द्वारा किया गया योग-तत्वों का विवेचन जनसामान्य की पद्यमय भाषा में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त उड़िया, बंगाली, तेलगू, मराठी, गुजराती, आदि प्रत्येक प्रान्तीय भाषाओं में सामान्य योगियों द्वारा मध्यकाल में लिखा गया योगविषयक साहित्य है। जिनको प्रत्येंक प्रान्तवासी अपनी गौरवपूर्ण धरोहर समझते हैं। इस यौगिक साहित्य में योगाभ्यासियों के अपने अनुभवों के आधार पर अनेक-रूपता है। निखिल भारतीय-भाषाओं में उपलब्ध योग-विषयक साहित्य तथा प्रत्येक प्रान्त में होनेवाले साधकों की गुरुपरम्परा से अनायास यह आभास होता है कि योग भारतीय-जीवन का सदैव सहायक अंग रहा है। प्रचलित सभी अन्तर्देशीय तथा विदेशीय प्रणालियों की विभिन्नता से श्रद्धेय मार्ग कौन-सा है ? उसका ज्ञान न होने से योगाभिलाषी को निराशा का मुख देखना पड़ता है। अतः ऐसी संशयपूर्ण अवस्था में भारतीय-संस्कृति के मूलस्रोत वैदिक संहिताओं में इस योगविद्या, जिसको ब्रह्मविद्या या प्राणविद्या के नाम से भी कहा गया है, का परिशीलन कर योगाभिलाषियों को संशयरहित करना ग्रन्थ का प्रमुख प्रयोजन है।

योग की आवश्यकता

'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' इस लोकोक्ति के अनुसार जिस योगविद्या के वैदिक स्वरूप का परिशीलन यहाँ करेंगे, उससे पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि हम विचार करें कि मानव जीवन में इसकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् हम योगाभ्यास क्यों करें, एवं उसकी क्या उपयोगिता है ?

मानवमात्र की यह स्वाभाविक अभिलाषा रहती है कि मैं दुःख से बचा रहूँ और सुख प्राप्त करता रहूं। संसार क्षेत्र में योग-क्षेम की सिद्धि के लिए प्रवृत्त मनुष्य विघ्नों से बचता हुआ लौकिक अभ्युदय का लाभ प्राप्त करना चाहता है, साथ ही पारलौकिक कर्मों में निरत आगामी जन्म आदि विघ्नों का परिहार और चिरन्तन परम आनन्द की कामना करता है। यही कारण है कि मानव-शास्त्राध्ययन, जप, तप आदि योगाभ्यास के कृत्यों में प्रवृत्त होता है। जब वह निश्चित जान लेता है कि इन कर्मों का फल दुःख-निवृत्ति तथा परमसुख की प्राप्ति है। नहीं तो इतने कष्टसाध्य कर्मों में उसका निरत होना असम्भव है। क्योंकि यह नियम है कि मनुष्य की प्रवृत्ति इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहाररूप फल को दृष्टिकोण में रखकर ही हुआ करती है।

दुःखों के विभिन्न रूप

मानव-जीवन में होने वाले दुःखों को यजुर्वेद ३५।१० में विविध प्रकार से प्रतिपादित किया है। यथा—'यह संसार पत्थरों से भरी नदी के समान है, जिस की तेजधारा है। आगे बारहवें मन्त्र में प्रार्थना है-प्रभो ! हम मानव जीवन में जड़ प्रकृति से संयुक्त हो अनेकों प्रकार के अन्धकारों में व्याप्त हैं। अतः प्रकाश प्राप्त नहीं कर पाते। प्रकृति के इन अन्धकारों से दूर आप ही चैतन्यस्वरूप प्रकाशयुक्त कर सकते हैं। इस तमाछन्नावस्था से हम निस्तारा चाहते हैं अतः अपनी परम-ज्योति से हमें भी प्रदीप्त करो। सुख-प्राप्ति की अभिलाषा से मानव प्रकृति में लिप्त होता है ; परन्तु सत् मात्र प्रकृति में सुखाभास होने से परिणाम में दुःख ही पाता है। इसकी पुष्टि यजुर्वेद ४०।९ में की गई है कि—'जो जन प्राकृत कार्यजगत् को ही आराधते हैं, वे घोर अन्धकार (अज्ञान से युक्त) लोकों को प्राप्त होते हैं, अर्थात् आत्मा का चिन्तन न कर केवल काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममतामय मायिक व्यवहार में ही निमग्न रहते हैं उनको अविद्या अन्धकार का कष्ट भोगना पड़ता है। प्रारम्भ में सुखकारी परन्तु परिणाम में अत्यन्त दुख-दायी कार्यों को योगदर्शनकार पतञ्जलि ने **परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वंविवेकिनः यो १. २. १५** सूत्र में परिणाम दुःख माना है।

दुखः-निवारण की प्रार्थना

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मानव-जीवन में होने वाले दुखों के तीन विभाग हैं— आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । अथर्ववेद १९।४४।६ में तीनों प्रकार के दुखों से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना की गई है—'हे देवाधिदेव ! मैं संसार के अन्दर त्रिविध तापों से सन्तप्त हूं । आप चारों ओर से मेरी रक्षा कीजिए, संसार की ये सारी बाह्य ओषधियाँ एवं पर्वतीय जड़ी-बूटियाँ मेरे इन सन्तापों के शमन में असमर्थ हैं । परमात्मा वैद्यों का भी वैद्य है वही असाध्य मानसिक रोगों को दूर कर सकता है । वैद्य तो अपनी सामर्थ्य से ओषधि दे सकता है ।

अथर्ववेद २।३।१—तथा १।२१।१-४ में शारीरिक, मानसिक, व पैतृक रोगों के शमन के लिए ओषधियों का वर्णन मिलता है । मानसिक रोगों को हटाने का, शत्रुओं को मारकर अभय करने का उपदेश तथा प्रकार वर्णित हैं । इसी प्रकार ऋग्वेद में तथा यजुर्वेद में अग्नि, जल वायु, आकाश, पृथिवीस्थ-पदार्थ, नदी, पर्जन्य, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र सभी दैवीय शक्तियाँ सुखकारी एवं शान्तिप्रद, हों, ऐसी प्रार्थना की गई है ।

उक्त वेदमन्त्रों में की गई मानसिक क्लेशों एवं रोगों के शमन की प्रार्थनाएं तथा उपचार प्रकारों के द्वारा हम मानव को आध्यात्मिक तापों से छुटकारा पाने के लिए प्रयास करता हुआ पाते हैं । इसी प्रकार ज्वर-पीलिया राजयक्ष्मा रोगों के शमन के उपचार, हिंसक जीवजन्तुओं एवं विषैले जीव-सर्पादि से रक्षा करने के लिए प्रार्थना के द्वारा आधिभौतिक दुःखों से मुक्त होने की भावना देखते हैं । इसके साथ ही पञ्चमहाभूतों, सूर्य, चन्द्र तथा नदी, मेघ, पर्जन्य, क्षेत्र, गौ आदि द्वारा शान्तिकरण की अभिलाषा से आधिदैविक दुःखों से मुक्त होने के स्रोत मिलते हैं । त्रिविधदुःख-निवृत्ति के लिए प्रवृत्त मानवीय प्रयासों को अनुभव कर वैदिक मतावलम्बी सांख्यकार कपिलमुनि ने उक्त त्रिविध दुखों की अत्यन्त-निवृत्ति को अत्यन्त-पुरुषार्थ बताया है । महर्षि पतञ्जलि सांसारिक विषय-सुखों को विवेकशील योगी की दृष्टि से परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कार दुःखों से तथा सात्विक, राजनिक तथा तामसिक वृत्तियों के परस्पर विरोध से सब दुःख ही मानते हैं । क्योंकि ये सांसारिक सुख क्षणिक हैं, जो चिरन्तन सुख (मोक्ष) प्राप्ति में बाधक हैं ।

बौद्ध-दर्शन में दुःखनिवारण का विवेचन

वेदों में दुखों का कारण तथा उनका निराकरण बताने के साथ ही सभी आर्षदर्शन शास्त्रों में दुःख निवारण के साधन बताये गये हैं । नास्तिक सम्प्रदाय में आने वाले बौद्ध-दर्शन में भी दुःख का विवेचन उपलब्ध होता है ।

'सब कुछ अनित्य है। सब कुछ निस्सार है। केवल निर्वाण में ही शान्ति है— यह शिक्षा, त्रिसूत्री बौद्ध-दर्शन के प्रासाद की आधारशिला है। भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों को कहते थे कि "संसार में काम, घृणा, दुःख, जरामरण की आग लग गयी है। इस आग में वही सुरक्षित रह सकता है जो तत्त्व मीमांसा के वाग्जाल को त्याग कर नैतिक जीवन प्रारम्भ कर देता है। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा आर्य-सत्यों में सन्निहित है—संसार में दुःख है, दुःखों का कारण है, इन दुःखों को दूर किया जा सकता है और दुःखों को दूर करने का मार्ग है। शारीरिक तथा मानसिक दुःखों के शमन के लिए चरकशास्त्र में रोग, रोग का कारण, निदान और उपचार कहकर विषयवस्तु को प्रकट किया है। योगदर्शन में इसे चतुर्व्यूहरूप में वर्णित किया है। हेय, हेयहेतु हान, और हानोपाय अर्थात् दुःख है, दुःख का कारण, अविद्यामूलक प्रकृति और पुरुष का संयोग है। दुखों की अत्यन्त निवृत्तिरुप मोक्ष, मोक्ष का साधनोपाय। इन्हीं चार प्रतिपाद्य विषयों को लेकर योगदर्शन का सारा दुर्ग विनिर्मित है। भूतकालीन दुख तो भोगे गये, वर्तमान दुख भी भोगे जा रहे हैं, अतः भावी अर्थात् अनागत दुःखों को ही हटाकर मानव दुःखों को निर्मूल कर सकता है। भावी दुःखों का निवारण संयमसाध्य योगाभ्यासमय ब्रह्म-चिन्तन से सम्भव है। अतः योगविद्या की मानव जीवन में परम आवश्यकता है। इस महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति इस ग्रन्थ से सम्पन्न हो सके, इस कारण परिशीलन, अन्वेषण, लेखन तथा प्रकाशन की आवश्यकता अनुभव की गई।

विषय-विभाजन

पाठकों की सुविधा के लिए योगविद्या के दो भाग हैं—प्रथम पद्धति—'पञ्चकोश-शुद्धि है, जो कि मोक्ष का प्रमुख साधन है, तथा द्वितीय पद्धति—'अष्टाङ्ग योग' जिसका वैदिक संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में सर्वाङ्गपूर्ण परिशीलन किया गया है। अन्त के दो अध्यायों में वेदसम्मत विभूतियों प्रस्तुत तथा मोक्ष-विषय का विस्तृत अनुशीलन किया गया है।

प्रतिपादन-शैली

ग्रन्थ की भाषा सरल सुबोध रखी गयी है। साथ ही ग्रन्थ के स्तर की सुरक्षा के लिए प्रकरणानुसार साहित्यिक संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। विषय प्रतिपादन के लिए, योग के विस्तृत विषय को प्रस्तुत करने के लिए पातंञ्जलयोग के प्रमुख तत्त्वों को आधार मानकर वेद—चतुष्टयी में अन्वेषण का भरसक प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त पातञ्जलयोग को ही परिधि न बनाकर योग-विषय में प्रचलित आर्ष-प्रणालियों के मूलाधार वेद में अन्वेषण करने का प्रयत्न किया है। योग के जिन तत्त्वों का मूल वेदों में नहीं

मिला है उनको वेद-विरुद्ध मानकर शोध-प्रबन्ध का विषयवस्तु नहीं बनाया है। योग-तत्त्वों के परिशीलन में तत्त्व की परिभाषा, वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त अन्य पर्यायवाची शब्द, तथा मन्त्रों की व्याख्या के द्वारा विषय के प्रत्येक पक्ष को प्रकाशित करने का प्रयास किया है। मन्त्रार्थ में कहीं भी पूर्वाग्रह का आश्रय न लेकर स्वतः स्फुटित होने वाले भावों का मन्थन कर नवनीत निकालने का प्रयत्न किया है। इस सूक्ष्म कार्य में शोधार्थी ने चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन का मार्ग अपनाया है। अनेक पक्षोंवाले विषय के परिशीलन में निष्कर्ष भी निकाला है। ग्रन्थ प्रबन्ध में प्रमाण हेतु महर्षि दयामन्द कृत भाष्य से सर्वाधिक सहयोग लिया है। सामवेद भाष्यकार पं० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड जोकि प्रख्यात वेदाध्यापक गुरुकुल कांगड़ी में रहे हैं, उनके ही अध्यात्मिक भाष्य से सामवेद के मन्त्रार्थ को स्पष्ट किया है। ऋग्वेदभाष्य के अन्य भाष्यकार पं० आर्यमुनि, पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ, पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार एवं आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री आदि विद्वानों का आभारी हूं जिनके वेदभाष्य का यथास्थान सहयोग मिला है। दामोदर सात्वलेकर तथा क्षेमकरण दास त्रिवेदी अथर्ववेद भाष्यकार आदि विद्वानों का आभारी हूं जिनके द्वारा कृत वेदभाष्य का उपयोग किया गया। मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प के लेखक स्वामी आत्मानन्द सरस्वती आत्मविज्ञान के लेखक स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती, तथा एकादशोपनिषद के व्याख्याकार स्वामी सत्यानन्द के ग्रन्थों से विषय स्पष्टीकरण में सहयोग मिला है। इनके अतिरिक्त डॉ० सम्पूर्णानन्द डॉ० अशोककुमार लाड, पं० आद्यारत्न ठाकुर, डॉ० जितेन्द्र भारतीय, डॉ० कपिलदेव शास्त्री, श्रीनिवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, स्वा० धर्मानन्द विद्यामार्तण्ड, बलदेव उपाध्याय, आचार्य उदयवीर शास्त्री तथा डॉ० वेदप्रकाश गुप्त आदि मूर्धन्य विद्वानों का धन्यवाद करता हूं जिनके द्वारा की गयी वैदिक साहित्य की अमूल्य सेवा से मुझे वेद तथा योग सम्बन्धी गवेषणा का विशेष मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है।

ग्रन्थ की मौलिकता

प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन ही प्रकृति की रमणीयता का स्वरूप है, अतः जिस शाश्वत वेद रत्नाकर में गम्भीर डुबकी लगाकर, रत्नों का चयन करके, क्रमिक पिरोकर हार का रूप देना एक नवीनता है। अगाध ज्ञानराशि वेद से ऋषि महर्षियों, योगी, यति, विद्वानों ने अनेकों विद्याओं का आविष्कार किया, उसी प्रकार ब्रह्मविद्या, योगप्रणाली पर भी अनेकों प्रकार से विचार होते रहे। परन्तु वर्तमान में इसका परिष्कृतरूप हमारे समक्ष उपस्थित नहीं, अत वेदों से लेकर ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् तथा योगशास्त्र तक यौगिकसाहित्य में विकीर्ण यौगिक ज्ञानराशि का चयन कर योगतत्वों का एक मनोरम भूषण तैयार किया

है, जिसकी वर्तमान समय के परिप्रेक्ष्य में नवीनता एवं मौलिकता के साथ महती आवश्यकता है ।

वैदिक संहिताओं से लेकर उपनिषद् तक उपलब्ध योगविषयक साहित्य में अनुकरणीय-क्रम का नितान्त अभाव ही है । साथ ही सम्पूर्ण विषय के जिज्ञासु को एक स्थान पर समग्र विषय उपलब्ध नहीं होता । तुलनात्मक परिज्ञान के लिए साधक को पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । किसी को तो विषय की अस्पष्टता के कारण निराश होकर योगमार्ग ही छोड़ना पड़ता है । इस प्रकार की बहुशः समस्याओं का समाधान प्रस्तुत ग्रन्थ में हो गया है ।

अतः योग विषय पर किये गये विपुल कार्यों में 'वेदों में योगविद्या' का यह परिशीलन एक कड़ी है । विद्वान् योगाभ्यासी को यह ग्रन्थ विशेष प्रकार की चिन्तन शैली प्रस्तुत करता है एवं योगविषय में फैली भ्रान्तियों को निरस्त कर निर्भ्रान्त वैदिक विचारधारा में नये तथ्यों का उद्घाटन करता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की उपादेयता इससे और अधिक बढ़ जाती है कि जनसामान्य धारावाहिक भाषा में, सुबोधगम्य रखकर, उद्भट विद्वानों के लिये वेदउपनिषद् तथा योगदर्शन के प्रमाणों से प्रमाणित करके सर्वहितकारी, सुललित, परिमार्जित स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह ग्रन्थ नवीन योगाभिलाषियों के लिए, सामान्य जनता के लिए तथा आध्यात्मिक ज्ञान पिपासुओं के लिए परमोपयोगी सिद्ध होगा । आशा है कि योगाभिलाषियों की भ्रान्तियों को निवारण करता हुआ यह परिशीलन समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए उपादेय होगा ।

—डॉ० योगेन्द्र पुरुषार्थी
(स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती)

योगधाम, ज्वालापुर, (हरद्वार)
दीपावली सं० २०४० वि०
४ नवम्बर, १९८३ ई०

॥ ओ३म् ॥

वेदों में योगविद्या

विषय-प्रवेश

योग का आदिस्रोत

वैदिक वाङ्मय का महत्त्व

वेद भारतीय संस्कृति एवं ज्ञानविज्ञान के मूलस्रोत हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। प्राक्तन काल से भारतीय समाज का वैयक्तिक जीवन, सामाजिक व्यवस्था तथा राष्ट्रीय संगठन श्रुतिभगवती की दृढ़ आधारशिला पर अवलम्बित रहा है, अतः भारतीय सभ्यता-संस्कृति के सम्पूर्ण पक्षों के परिज्ञान के लिए वेदों का अध्ययन-अध्यापन एवं चिन्तन-मनन नितान्त आवश्यक है। वेदों का शाश्वत निर्भ्रान्त ज्ञान मानवमात्र की श्रद्धेय सरणी पर आरोहण का सुगम सोपान है; क्योंकि अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मोक्ष से पुनरावर्तित तपःपूत ऋषियों को समाधि की उच्च-स्तरीय स्थितियों में वेदों का ज्ञान अवतरित हुआ है।[1]

वेद ही आर्यों का सर्वस्व है, स्वतःप्रमाण है तथा सूर्य के समान अपना प्रकाश करता हुआ समस्त अन्य पदार्थों का प्रकाश करनेवाला है। यह सत्यविद्याओं का निधान है तथा उसी के आधार पर अन्य समस्त विद्याओं का विकास हुआ है।[2] यह विश्वास अनादिकाल से चला आ रहा है। वेद को मूल प्रमाण मानकर मनुष्य-जाति के लिए

---

१. तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेः ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥
—श० ब्रा० ११।५।२।३

२. न वेदशास्त्रादन्यत्तु किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निस्सृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात् ॥—या० स्मृ०

आचार-विचार एवं धर्म-कर्म की व्यवस्था स्मृतियों, दर्शनों तथा उपनिषदों आदि में प्रतिपादित की गई है। वेद का विरोध सह्य नहीं माना गया। परमात्म-सत्ता का निषेध करनेवाले की तो बात ही क्या, अपौरुषेय वेद का विरोध करनेवाला भी नास्तिक माना गया है।[1] वेद की साक्षी के विरुद्ध स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्त या वाक्यों को अप्रामाणिक जानकर अग्राह्य माना जाता है। इस कारण जीवन के साथ वैदिक स्वाध्याय का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए मनुस्मृति में व्यवस्था दी गयी है कि जो 'द्विज वेद का अध्ययन न कर अन्य शास्त्रों में श्रम करता है, वह बन्धु-बान्धवों सहित शूद्र-[जो पढ़ाने से भी न पढ़ सके]-कोटि में चला जाता है।'[2] इसीलिए आज भी प्रबुद्ध विद्वानों एवं आर्यों में वेद के प्रति अगाध श्रद्धा देखी जाती है; क्योंकि सभी शास्त्रों में वेद ही एक ऐसा शास्त्र है जो मनुष्यमात्र के अभ्युदय तथा निःश्रेयस के लिए अद्वितीय सामग्री उपस्थित करता है।

स्मृतियों, पुराणों तथा वेदेतर साहित्य में वेद की पर्याप्त प्रशंसा उपलब्ध होती है। मनु के अनुसार 'वेद पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सनातन चक्षु है।'[3] लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए जिस प्रकार नेत्र की उपयोगिता है उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वों के रहस्य को जानने के लिए वेद की उपयोगिता है। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतलानेवाला ग्रन्थ वेद ही है। वेद का वेदत्व इसी में है कि 'वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वयं कराता है।'[4] वेद की आध्यात्मिक क्षेत्र में इतनी प्रतिष्ठा है कि अनेक प्रबल तर्कों के सहारे विपक्षियों की युक्तियों को निरस्त कर देनेवाले तर्ककुशल आचार्यों के सामने यदि कोई वेद-विरुद्ध प्रसंग दृष्टिगोचर होता है तो विपक्षी भी हतप्रभ हो जाता है। इस प्रकार वेदों का माहात्म्य प्राच्य तथा अर्वाच्य मनीषियों के ग्रथित ग्रन्थों में विशदरूप से प्रतिपादित है।

---

१. नास्तिको वेदनिन्दकः।—मनु० १।११

२. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥—मनु० २।१६८

३. पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥—मनु० १२।९४

४. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥—अज्ञात

शतपथ ब्राह्मण में वेदाध्ययन का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है कि—'धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जितना फल होता है वेदों के अध्ययन से उससे भी बढ़कर अविनाशी अक्षयलोक को मनुष्य प्राप्त करता है।'[1]

संहिताओं के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

संहिताओं में वर्णित विषयों के सम्बन्ध में विविध दृष्टिकोण मिलते हैं, यहाँ संक्षेप में उनका विवेचन करेंगे।

निरुक्त-वचन तथा सायणाचार्य

'अर्थवाचः पुष्पफलमाह याज्ञदेवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा'—निरुक्त के इस वचन का विश्लेषण करते हुए सायणाचार्य कहते हैं—पूर्वकाण्डोक्त धर्म का ज्ञान वाणी का पुष्प है और उत्तरकाण्डोक्त ब्रह्म का ज्ञान फल है। जैसे लोक में पुष्प फल का उत्पादक होता है उसी प्रकार वेद के उपदेश आदि से जो धर्म का ज्ञान होता है वह अनुष्ठान द्वारा ब्रह्मज्ञानरूपी फल की इच्छा उत्पन्न करता है...और जैसे फल तृप्ति का हेतु होता है वैसे ही यह भी कृत-कृत्यता का हेतु होता है।[2] इसी प्रकार वेद के अनुबन्धचतुष्टय का विचार करते हुए सायण ने कहा है—**'वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः'**[3] अर्थात् वेद में पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड के विषय क्रम से धर्म तथा ब्रह्म हैं। सायण ने अपने कथन की पुष्टि के लिए शाबरभाष्य तथा शांकरभाष्य का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है।[4] सायण के मत में वेद और वेदाङ्ग सभी अपराविद्या के अन्तर्गत हैं और उपनिषद् पराविद्या हैं। इस प्रकार वैदिक संहिता आदि का प्रतिपाद्य विषय धर्म है और उपनिषदों का ब्रह्म। किञ्च धर्म का अर्थ है—अनुष्ठान के अनन्तर होनेवाला अदृष्ट। अनुष्ठान का अभिप्राय है—यज्ञ आदि करना। इस प्रकार वेद का

१. **यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेनपूर्णाददल्लोकं जयति-त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहःस्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।**—श० ब्रा० ११।५।६।१

२. **पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम्। उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम्। यथा लोके पुष्पं फलस्योत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञानमनुष्ठानद्वारा फलात्मक ब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति।...यथा च फलं तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृत्य-कृत्यत्वहेतुः।**—ऋग्वेदभाष्यभूमिका सायणाचार्य, पृ १०८-१०९

३. वही पृ० ११३-११४ ४. वही

प्रतिपाद्य विषय यज्ञ आदि का विधान है और वेदार्थ-ज्ञान यज्ञानुष्ठान के लिए आवश्यक है।

सायणाचार्य एवं उवट, महीधर आदि ने वेदमन्त्रों को यज्ञानुष्ठान के लिए विभिन्न विनियोगों में नियुक्त किया है। कहीं-कहीं विनियोग अत्यन्त अनर्गल, अश्लील तथा अवैज्ञानिक हैं। सायण की मान्यतानुसार वेदों के प्रतिपादित विषय नितान्त सामान्य, व्यर्थ तथा असंगत प्रतीत होते हैं। जर्मन-विद्वान् मैक्समूलर ने वेदों में एक दूसरे ही प्रकार के देवतावाद का प्रतिपादन किया है। उनके विचार में वेदों में तेतीस देवताओं की उपासना कही गई है। एक स्थल पर तो वेदमन्त्र में ३३३९ देवता गिनाये गये हैं फिर भी वे इसे बहुदेवतावाद की संज्ञा नहीं देते, क्योंकि वेदों का बहुदेवतावाद ग्रीक व रोमन के बहुदेवतावाद से मेल नहीं खाता। ग्रीक व रोम में बहुदेवतावाद का अर्थ है एक परमदेव के शासन में अनेक छोटे-बड़े देवताओं का होना। उनके विचार में वैदिक देवतावाद इससे सर्वथा भिन्न है, क्योंकि वैदिक ऋषि प्रत्येक देवता को परमदेव मानकर पूजते थे, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो। इस वैदिक देवतावाद को मैक्समूलर ने नया नाम दिया—"केनोथिइज़्म" अर्थात् एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा "हीनोथिइज़्म" अर्थात् पृथक्-पृथक् देवताओं की पूजा।[1]

वेदों के वर्ण्य विषयों की दृष्टि से महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण व्यापक है। उन्होंने सायण के मत का निराकरण करते हुए लिखा है कि, "सायणाचार्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थ को न जानकर कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं, यह उनकी बात मिथ्या है।"[2] दयानन्द के अनुसार वेद के अवयवरूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं—विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान।

---

१. It was necessary, therefore, for the purpose of accurate reasoning to have a name different from polytheism, to signify this worship of single gods, each occupying for the time a supreme position, and I proposed for it the name of Kenotheism, that is a worship of one God after another or of Henotheism, the worship of a single God.

—F. Max Muller, 'India What Can It Teach us ? Page. 146-147, 1892

२. ऋ० भा० भू० भाष्यकरण-शंका-समाधानादिविषयः, पृ०२५१

१. **विज्ञान**—विज्ञान से तात्पर्य ज्ञान की उस प्रणाली से है जिसमें ज्ञान, कर्म, उपासना इन तीनों के समुचित उपयोग से परमेश्वर से लेकर समस्त पदार्थों का बोध होता हो तथा मानव-जाति के अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति में उनका यथावत् उपयोग होता हो। इस प्रकार विज्ञान वेदों का मुख्य विषय है। महर्षि दयानन्द विज्ञान के भी दो भेद मानते हैं—

(अ) ईश्वर का यथावत् ज्ञान एवं उसकी आज्ञाओं का पालन।

(आ) पदार्थविद्या का ज्ञान अर्थात् पदार्थों के गुणों व उपयोगों को जानना।

इन दोनों में महर्षि दयानन्द ईश्वर-विषय को ही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बताते हैं।[1]

२. **कर्म**—जीवन में परमार्थ तथा लोक-व्यवहार की सिद्धि करनेवाला कर्मकाण्ड बताया गया है। स्वामीजी का कर्मकाण्ड से तात्पर्य केवल यज्ञयाग से नहीं है, वरन् वे उसमें जीवन की समस्त क्रियाओं का समावेश कर लेते हैं जिनसे सबका उपकार होता है।[2]

३. **उपासना**—इसमें परमेश्वर की प्राप्ति के लिए स्तुति, प्रार्थना, उपासना के समस्त यौगिक साधनों का समावेश है।

४. **ज्ञान**—ज्ञान का अर्थ है पृथिवी और तृण से लेकर प्रकृति-पर्यन्त पदार्थों के गुणों से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना। इसे हम भौतिक विज्ञान के अर्थ में ले सकते हैं। वेद की भाषा में विज्ञान ईश्वर, आत्मा आदि के ज्ञान को कहते हैं, जबकि ज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों [नेचुरल साइंसिज़] के अर्थों में आता है।

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में वेदों में केवल अपरा विद्या ही नहीं है अपितु परा विद्या भी है। जिसको पहले ज्ञान कहा है उसे दूसरे शब्दों में अपरा विद्या कहा गया है। अपरा का ही फल परा है। इस प्रकार सभी वेद केवल अपरा विद्या के अन्तर्गत नहीं आते, उनमें परा विद्या भी है। उसका ही वर्णन उपनिषद्, सांख्य, योग, वेदान्तादि शास्त्रों में विशदरूप से किया गया है।

---

१. ऋ० भा० भू० वेदविषयविचार, पृ० ३१-३२

२. **तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः सर्वक्रियामयोऽस्ति।**

—ऋ० भा० भू० वेदविषय, पृ० ३२

"व्यापनशील परमात्मा के अत्यन्त आनन्दरूप, प्राप्तव्य मोक्ष-पद को योगी विद्वान् सदैव-सर्वत्र व्याप्त हुआ देखते हैं। जैसेकि स्वच्छ आकाश में देदीप्यमान् सूर्य के प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म-पद भी स्वयंप्रकाशरूप सर्वत्र व्याप्त हो रहा है।"[1] उस पद की प्राप्ति से कोई अन्य प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिए चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने का प्रबल प्रतिपादन कर रहे हैं। व्यास मुनि ने भी वेद का समर्थन किया है कि 'सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है। कहीं-कहीं साक्षात् रूप से और कहीं-कहीं परम्परा से।'[2] इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है और इससे पृथक् जो जगत् आदि अर्थ है वह गौण है। 'प्रधान जौर अप्रधान की प्रवृत्ति में प्रधान का ही ग्रहण होता है—'[3] इस शास्त्रीय नियमानुसार वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर का प्रतिपादन और प्राप्ति कराने और करने में है।[4] गौण अर्थों को विषय से सम्बद्ध जानकर इस ग्रन्थ में केवल प्रधान विषय विज्ञानकाण्ड को ही लिया है अर्थात् वेदमन्त्रों के अर्थ आधिभौतिक तथा आधिदैविक सम्भव होते हुए भी सम्बद्ध विषयानुसार आध्यात्मिक अर्थों को ही प्रकाशित किया है।

वेदों में ब्रह्मविद्या

वेदों में ऐसे मन्त्रों की कमी नहीं है जिनमें एक ऐसे परमतत्त्व का निरूपण किया गया है, जो सम्पूर्ण संसार का अनुपमपति और सब भुवनों का एक ही स्वामी है।[5] इसी परमतत्त्व का वर्णन परमपुरुष, सृष्टि का अध्यक्ष, देवों का देव ब्रह्म, अमृतधाम, मोक्ष का धारक आदि नामों से अनेक मन्त्रों में पाया जाता है।[6]

---

१. **तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥**
—ऋग्० १।११।२०; साम० १६७२

२. **तत्तु समन्वयात्॥** —वेदान्तदर्शन १।१।४

३. **प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः॥**—पा० व्या० म० भा०

४. द्रष्टव्य—ऋ० भा० भू० (वेदविषय विचार)

५. **पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।**—ऋग्० ६।३६।४

६. **सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्यात् ब्राह्मणं महत्।**—अथ० १०।८।३७
यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्मजना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।—अथ० १०।७।१०
ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भिः सखायमृग्मियम्। गां न दोहसे हुवे।
—ऋग्० ६।४५।७

वैदिक संहिताओं में ब्रह्मविद्या का स्पष्ट प्रतिपादन होने पर भी कुछ भारतीय वैदिक विद्वान् तथा पश्चिमी वेदज्ञों की मान्यता है कि 'वेदों में ब्रह्मविद्या नहीं है, ब्रह्मविद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त और उपनिषदों से हुआ है।'[1]

परन्तु वेदों के परिशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म का ही प्रतिपादन करना है, जैसाकि वेदों के प्रतिपाद्य विषय के अन्तर्गत वर्णन कर चुके हैं। वेदों के मन्त्रों में मुख्यरूप से ब्रह्म का प्रतिपादन कहीं साक्षात् कहीं परम्परा से किया गया है। उपनिषद्, दर्शन आदि इसकी पुष्टि करते हैं अर्थात् सारे वेद उसी 'ओ३म्' पद को गाते हैं।[2]

वेदों में ईश्वर किसी ऐसी शक्ति को नहीं स्वीकारा गया है जिसके कोई बराबर या अधिक शक्तिशाली हो। संहिताओं में ब्रह्म को सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दस्वरूप, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वज्ञ आदि विशेषणयुक्त माना है। वही सृष्टि का सृजन, धारण-पालन एवं प्रलय करता है। उसी नियन्ता की शक्ति से सूर्य एवं द्युतिमान नक्षत्र नियन्त्रितरूप में कार्य कर रहे हैं।[3]

उस ब्रह्म की महिमा इतनी महान् है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड उसके एक पाद अर्थात् अंशमात्र में वर्तमान है, शेष तीन अंश अमृतमय हैं। जहाँ संसार नहीं है परन्तु सर्वव्यापक होने से ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र है। यही नहीं, ब्रह्म तो इन चारों पादों से भी अतिरिक्त है, उसकी कोई सीमा नहीं।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे॥—यजु० ३१।२१
ओ३म् खं ब्रह्म।—यजु० ४०।१७

१. The conception of Brahman which has been the highest glory of the Vedanta Philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the association of the sacrificial mind.

—S. N. Das Gupta, 'A History of Indian Philosophy', Vol. I, P. 20, Printed-1922

२. **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति···तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।**

—कठ० १।२।१५

३. ईश्वर के विशिष्ट गुण, कर्म तथा स्वरूप का विस्तृत विवेचन शोध-प्रबन्ध के तृतीयाध्याय में द्रष्टव्य है।

वैदिक संहिता, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् तथा षड्दर्शनों में उसी महान् ब्रह्म की उपासना के निर्देश, उपदेश दिये गये हैं। अथर्ववेद में कहा है कि 'प्रकाशस्वरूप सूर्य जिसकी त्वचा है, जो अग्नि आदि देवताओं में ज्योतिस्वरूप पूजनीय देव है वही जगत् का पालक एवं स्वामी, एकमात्र नमस्कार तथा सेवन करने योग्य है।

उक्त परिशीलन से निष्कर्ष निकलता है कि वेदों में लौकिक विद्याओं के साथ-साथ आध्यात्मिक ब्रह्मविद्या की प्रधानता है। इस रहस्यमयी एवं स्वयं वेद के शब्दों में 'निण्या'[1] [निर्माणधेया-नामरहिता अर्थात् रूढि शब्दों से विरहित] वाणी की यह अद्‌भुत विशेषता थी कि इससे एक साथ आध्यात्मिक [आत्मतत्त्वपरक], आधियाज्ञिक [कर्मकाण्ड सम्बन्धी यज्ञ-यागपरक] तथा आधिभौतिक [प्रकृति-परक] अर्थों की अभिव्यक्ति हो सकी।[2] इस रूप में यह असाधारण वाणी अपने इन दोनों, अधियाज्ञिक तथा आधिभौतिक अर्थों के दुहरे आवरण में रहस्यभूत आध्यात्मिक ज्ञान अथवा सत्यधर्मरूप निधि को अनधिकारियों तथा अयोग्य व्यक्तियों से छिपाने में समर्थ हो सकी थी।[3]

परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि इन द्विविध आवरणों ने सत्य को सर्वथा ही छिपा दिया जिसके कारण गौण अर्थों को ही वेदों का प्रमुख प्रतिपाद्य मान लिया गया। आज बड़े दुर्भाग्य की बात है कि वेदमन्त्रों के आध्यात्मिक अभिप्राय से अथवा उनमें सुगुप्त दिव्यनिधि से हम बहुत दूर हो गये हैं। नैरुक्तों के प्रकृति-परक तथा याज्ञिकों के कर्मकाण्ड-परक अर्थों में ही आज के वेदाध्यायी वेदमन्त्रों की इतिश्री मान लेते हैं, उन्हें ही मन्त्रों का परम अर्थ समझ बैठते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थों की ही प्राथमिक महत्ता है, क्योंकि जिसने उस अध्यात्मतत्त्व अथवा वेद के ही शब्दों में 'परम-व्योम' को नहीं जाना, जिसमें सभी ऋचाएँ अनुप्रविष्ट एवं समाविष्ट

---

१. द्रष्टव्य —**एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि।**
—ऋग्० ४।३।१६

२. तुलना करो—निरुक्त ३।१२; **"यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्।"**
—ऋग्० १।१६४।२१

आदित्य इति अधिदेवतम्।
अथाध्यात्मम्···आत्मा।

३. **हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्य।**—यजु० ४०।१५

हैं, उसे वेदों के अध्ययन से कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।[1] अपूर्व प्रेरणा से अभिव्यक्त यह शाश्वत दिव्य काव्य अथवा पावमानी दैवीवाक् वस्तुतत्त्व को सर्वथा सत्यरूप में बताती है, वर्णन करती है तथा वर्णन करती हुई निष्कर्ष के रूप में जहाँ पहुँचती है उस तत्त्व को 'महद्ब्रह्म' कहा गया है।[2] इस महद्ब्रह्म तथा उपर्युक्त 'परमव्योम' में कोई अन्तर नहीं है। इसी बात को गीता में इस रूप में स्पष्ट किया गया है कि 'सभी वेदों का अन्तिम प्रतिपाद्य अथवा वेद्य 'मैं' ही हूँ।'[3]

वेदों को प्राचीन भारतीय परम्परा ने एकमत से परमप्रमाण एवं स्वतःप्रमाण उद्घोषित किया है, परन्तु वेदों की सर्वातिशायी महिमा को तभी समझा जा सकता है जब वेदों को अध्यात्म-दृष्टि से देखा जाए। अध्यात्म-दृष्टि को न अपनाया गया तो वेदों का अध्ययन-अध्यापन सर्वथा महत्त्वहीन प्रतीत होगा, जैसा कि आज सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है।[4]

ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिक कर्मकाण्ड की आध्यात्मिक तथा लौकिक दोनों ही प्रकार से व्याख्या एवं व्यवस्था है। ब्राह्मणग्रन्थ, वेद [संहिता भाग] के व्याख्यान मात्र हैं। महर्षि दयानन्द इन्हें वेदों में स्वीकार नहीं करते, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ ऋषियों द्वारा निर्मित हैं तथा वेद ईश्वरप्रदत्त ज्ञान है।[5] ब्राह्मणों में वेदमन्त्रों की प्रतीक रखकर उनकी व्याख्या की गई है। ब्राह्मणग्रन्थों में ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों को एक नये प्रतीक से बताने की चेष्टा की है। यद्यपि यह वेद के अर्थों को खोलने का प्रयास है तथापि बाद के विद्वानों के लिए यह वेदों के रहस्य-वाद से भी अधिक कठिन सिद्ध हुआ। इससे परवर्ती विद्वानों ने ब्राह्मणों में निर्दिष्ट यज्ञों की आध्यात्मिक व्याख्या तो दृष्टि से ओझल कर दी और नये प्रतीक—बादल से ढके लौकिक अर्थों को ले लिया। इससे ये

१. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥
—ऋग्० १।१६४।३९

२. अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥—अथ० १०।८।३३

३. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।—गीता १५।१५

४. द्रष्टव्य—वैदिक ऋषि : एक परिशीलन, डॉ० कपिलदेव शास्त्री

५. द्रष्टव्य—ऋ० भा० भू० वेदसंज्ञाविचार

ग्रन्थ केवल यज्ञ-याग सम्बन्धी ग्रन्थ समझे जाने लगे, जबकि हम देखते हैं कि इनमें दार्शनिक तथा आध्यात्मिक तत्त्व भी सन्निहित हैं।[1]

उपनिषदों में ऋषियों ने ज्ञान-काण्ड को पकड़ा। उन्होंने वेदों में प्राप्त होनेवाले आध्यात्मिक सिद्धान्तों के रहस्यों का समाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों द्वारा साक्षात्कार किया और वेद के प्रतीकों की आध्यात्मिक व्याख्या की। उपनिषद् के ऋषियों ने वैदिक ब्रह्मविद्या को बोधगम्य बनाने के लिए उपनिषदों की भाषा को सरल रखा है। उन्होंने भाषा की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक बल दिया तथा वेद के परम तात्पर्य ब्रह्म को अपना सीधा लक्ष्य बनाकर उसकी प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषद् वैदिक संहिताओं के बाद में ऋषियों द्वारा बनाये गये ग्रन्थ हैं। ये वेद के भाग नहीं जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं। महर्षि दयानन्द के मतानुसार उपनिषदें वेद का भाग नहीं,[2] परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि महर्षि उन्हें प्रमाण न मानते हों। हाँ, वे ब्राह्मणों व उपनिषदों को ऋषियों के वचन होने से परतः-प्रमाण मानते हैं, वेद के समान स्वतःप्रमाण नहीं।[3]

क्या उपनिषदों में वेद का विरोध है ?

कुछ विद्वानों का विचार है कि उपनिषदों में वेद के विरुद्ध क्रान्ति की गई। वेद कर्मकाण्डप्रधान ग्रन्थ हैं तथा उपनिषदें ज्ञान-प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि उपनिषदें वेदों को अपरा-विद्या के ग्रन्थ बताती हैं तथा परा अर्थात् ब्रह्मविद्या का उनमें अभाव मानती हैं।[4] इसके समाधान में यह ज्ञातव्य है कि उपनिषद्-वाक्यों के सामान्यतया अर्थ करने से तो सन्देह होता है कि चारों वेदों को अपरा-विद्या के ग्रन्थ बताया गया है, परन्तु किसी ग्रन्थ के किसी विषय में वास्तविक अभिप्राय का उसके किसी एकाध वाक्य को देखने मात्र से

---

१. दया० द० पृ० ४१; डॉ० वेदप्रकाश गुप्त

२. मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़कर अन्य उपनिषदों को वेदों में नहीं मानता।—दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास

३. वेद स्वतःप्रमाण हैं और ब्राह्मण परतःप्रमाण, किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मणग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं।—सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास

४. **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**—मु० उ० १।१।५

पता नहीं चल सकता। इसके लिए हमें उस ग्रन्थ की मूल भावना का अपने विचार का केन्द्र बनाना चाहिए। मुण्डकोपनिषद् के ही एक मन्त्र में चारों वेदों को ब्रह्म की वाणी बताया है[1] तथा एक अन्य मन्त्र में वेदों को इसी ब्रह्म से उद्भूत कहा गया है।[2] अब जबकि मुण्डकोपनिषद् का ऋषि वेदों को साक्षात् ब्रह्म से उद्भूत मानता है, तब यह समझ में नहीं आता कि वह इन्हीं वेदों को अपरा विद्या के ग्रन्थ कैसे कह सकता है? तथ्य यह है कि वेदों में परा और अपरा दोनों ही विद्याएँ विद्यमान हैं। परन्तु संसार में साधारण जन प्रेय अर्थात् अपरा विद्या से अधिक सम्बन्ध रखते हैं और वेदों की भाषा भी उभयार्थ द्योतिका है, जिससे साधारण मस्तिष्क को वह प्रेयात्मक लगती है। इसी से साधारण जन उन्हें अपरा विद्या से पूरित मानते हैं। यहाँ पर वेदों को अपरा विद्या कहने से ऋषि का केवल इतना ही तात्पर्य है कि साधारण जन वेदों में अपरा विद्या को ही देखते हैं। वस्तुतः परा विद्या भी वेदों में है जिससे अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होती है।

उक्त मन्त्र की इस व्याख्या को खींचातानी मानते हुए विदेशी विद्वानों का कहना है कि वास्तव में वेदों में ब्रह्मविद्या नहीं है और उपनिषदों के अनुसार वेद अपरा विद्या के ही ग्रन्थ हैं। इस पर म० दयानन्द का अभिमत है कि 'यदि ब्रह्मविद्या वेदों में न होती तो उपनिषदों के ऋषियों को इसका ज्ञान नहीं हो सकता था,[3] क्योंकि ब्रह्मविद्या अत्यन्त सूक्ष्म विद्या है। उपनिषदों में इसका बहुत परिष्कृत रूप है, अतः बिना किसी पूर्ववर्ती ज्ञान के उपनिषदों के ऋषियों द्वारा स्वतन्त्र रूप से इन्हें रच लेने की मान्यता नितान्त असङ्गत है, जैसे बीज के बिना अंकुर का उद्भव होना असम्भव है। म० दयानन्द के मत का समर्थन करते हुए श्री अरविन्द का कहना है कि 'ऐसे गम्भीर और चरमसीमा तक पहुँचे विचार सूक्ष्म और महाप्रयत्न द्वारा निर्मित अध्यात्म-विद्या को पद्धति जैसा कि सारतः उपनिषदों में पायी जाती है किसी पूर्ववर्ती शून्य से नहीं निकल आयी है।'[4]

१. **अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।**

—मुण्ड० २।१।४

२. **तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।**

—मुण्ड० २।१।६

३. दयानन्दग्रन्थमाला, भाग-२, पृ० ८६५

४. वेद रहस्य—श्री अरविन्द, भाग-१, पृ० ४

कठोपनिषद् ने तो चारों वेदों का प्रतिपाद्य ब्रह्मपदवाची 'ओ३म्' का गान ही स्वीकार किया है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में सामवेदीय उद्-गीथ उपासना को सभी का रस बताया है।[2] दर्शनशास्त्रों ने भी वेदों को ब्रह्मविद्या का भण्डार माना है।

इस विचार-सरणी से निष्कर्ष यह निकलता है कि वेदों में जिस परमसत्ता का वर्णन 'सृष्टि का अध्यक्ष, देवों का देव, प्रजापति, एवं ब्रह्मा' आदि नामों से किया गया है, उपनिषदों में उसी को ब्रह्म, सबका आत्मा, नित्यों-का-नित्य आदि नामों से पुकारा है। डॉ० पी० के० आचार्य, डॉ० राधाकृष्णन आदि ने भी यही तथ्य स्वीकार किया है कि 'पीछे के दार्शनिकों को उपनिषदों के सिद्धान्तों में वेदों का अन्त नहीं वरन् चरम तात्पर्य दिखाई पड़ा।'[3]

वेदों में प्राण-विद्या

ब्रह्म-विद्या में सहायक प्राण-विद्या का वेदों में विस्तार से उल्लेख मिलता है।

प्राणों का ऋषि नाम—यजुर्वेदीय **'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'।** मन्त्र में 'सप्त ऋषयः' से सात प्राणों का ग्रहण प्रायः सभी भाष्यकारों ने किया है। यहाँ तक कि ग्रिफिथ महोदय ने टिप्पणी दी है—'सप्त ऋषयः =सात प्राण। सप्तापः=सात प्राण और इन्द्रियाँ, दो जागनेवाले

---

१. **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति···ब्रवीम्योमित्येतत्।**—कठ० १।२।१५

२. **एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रसः ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः।**—छान्दो० १।१।२

३. (i) उपनिषदों में औदार्य—लेख, कल्याण का उपनिषद् अंक, जनवरी १९४९, पृ० ८७, लेखक महामहो० डॉ० पी० के० आचार्य, एम० ए०, पीएच-डी०

(ii) The chief reason why the upnishad's are called the end of the Vedas is that they represent the central aim and meaning of the teaching of the Vedas.
—The Principal Upanishads, P. 24
London, 1953, by Dr. S. Radhakrishnan

(iii) **सन्ति खलु उपनिषदो वेदमूला इति सर्वेषामेव निर्विवादमभिमतम्।**
—संस्कृत साहित्य विमर्श, पृ० १४०,
लेखक द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, १९५६

देव=प्राणापान, अर्थात् इस शरीर में सात ऋषिरूप प्राण प्रतिष्ठित हैं। ये प्रमाद-रहित रहकर इसकी रक्षा के लिए सावधान रहते हैं। सात बहिर्मुखी प्राणधाराएँ या इन्द्रियाँ सोते समय सोनेवाले के लोक में संहृत हो जाती हैं। उस समय भी स्वप्नरहित रहनेवाले देव [प्राण-अपान] जागनेवाले आत्मा के साथ स्थिर रहकर जागते हैं।[1] वेद की पुष्टि उपनिषद् में की गई है कि 'सात ऋषि ही सात प्राण हैं। दो कान गोतम और भरद्वाज हैं। दो आँखें विश्वामित्र और जमदग्नि तथा दो नासिकारन्ध्र वसिष्ठ और कश्यप हैं। वाक् अत्रि है।'[2]

यह शिर देवकोश है, इसे ही स्वर्गलोक भी कहते हैं—अथर्ववेदीय मन्त्र में कहा है कि यह शिर[3] भली प्रकार बन्द किया हुआ देवों का कोश है। प्राण मन और अन्न [या वाक्=स्थूलभूत] उसकी रक्षा करते हैं। शिर में सात छिद्र द्युलोक के सप्तर्षि-मण्डल की भाँति प्रकाशित हैं। शरीर में शिर ही ज्योति या चेतना का केन्द्र है। शिर में स्थित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की साधनभूत देवों की ज्योतियाँ हैं। ज्ञान के विविध केन्द्र ही विविध देव हैं। इस मन्त्र की व्याख्या बृहदारण्यक-उपनिषद् में[4] सविस्तर वर्णित है। उपनिषद् में शिर को ऊपर पेंदी और नीचे की ओर मुखवाला कटोरा बताया है। इसमें प्राण नामक विश्वरूप यश रखा हुआ है। किनारों पर सप्तर्षि विराजमान हैं, उसमें ब्रह्म के साथ समरसवाक् आठवीं है।

प्राण-ब्रह्म—बृहदारण्यक में प्रश्नोत्तर-प्रसङ्ग में वैदेह जनक ने प्रश्न पूछा कि 'एक देव कौन-सा है?'[5] याज्ञवल्क्य ने कहा—'वह प्राण है

---

१. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥
—यजु० ३४।५५

२. प्राण वा ऋषयः' इमौ एव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमः, अयं भरद्वाजः। इमौ एव विश्वामित्रजमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रः, अयं जमदग्निः, अयं कश्यपः। वागेवात्रिः।

३. तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमयो मनः॥ —अथ० १०।२।२७

४. अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥
—बृ० उ० २।२।३

५. कतम एको देव इति। प्राण इति। स ब्रह्म तदित्याचक्षते।—बृ० ३।६।६

और उसे ही ब्रह्म कहा जाता है, क्षर और अक्षरब्रह्म प्राण का ही विस्तार है। प्राण ही प्रजापतिरूप से सब देह के केन्द्रों में [हृदयों या गर्भों में] बैठा हुआ नाना रूप से प्रकट हो रहा है। ज्ञानी लोग नाभि-स्थित उस प्राणरूप योनि को देखते हैं।[1] शतपथ ब्राह्मण में प्राण को कई स्थानों पर[2] प्रजापति कहा है। सब देवों में[3] प्राणों को ज्येष्ठ, श्रेष्ठ तथा वरिष्ठ बताया गया है। प्राण के स्थित रहने पर अन्य सब देव इस ब्रह्मपुरी में बस जाते हैं। प्राण ही इस शरीररूपी नौका की सुप्रतिष्ठा है। प्राण ही शरीर को पूज्य बनाते हैं, अतः अमृत तथा पूजनीय हैं। इसी प्रकार कौषीतकि तथा पैङ्ग्यब्राह्मणों में प्राण को 'ब्रह्म' कहा है।[4]

प्राण ही उस चित् शक्ति का महान् लिङ्ग या शेप है। प्राणरूप शेप [सिम्बल] से उस परमचैतन्य की प्रतीति होती है। इसकारण प्राण की एक संज्ञा वेदों में **'शुनःशेप'** भी आई है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी श्वारूपप्राण का लिङ्ग है। ब्राह्मणग्रन्थों में प्राण को सोम भी कहा है। प्राण ही अग्नि है। अग्निषोमात्मक इस जगत् में एक प्राण ही प्राणापानरूप से द्विधा विभक्त होकर कार्य कर रहा है। प्राण ही मित्र और प्राण ही वरुण है। मैत्रावरुण-सम्बन्धी मन्त्रों में प्राणापान की महिमा या रहस्य बताया गया है। प्राण ही देव हैं, प्राण ही बालखिल्य है, क्योंकि प्राणों के सन्तान या विस्तार में बालमात्र का भी अन्तर नहीं है।[5]

प्राण ही ऋग्, यजुः और साम हैं। प्राण ही रश्मियाँ हैं।[6] प्राण ही

---

१. **प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।**
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
—यजु० ३१।१९

२. **प्राणो हि प्रजापतिः।**—शत० ब्रा० ४।५।५।१३
प्राण उ वै प्रजापतिः।—शत० ब्रा० ८।४।१।४
प्राणः प्रजापतिः।—श० ब्रा० ६।३।१।९

३. **प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानः।**—श० ४।४।१।१४

४. **'प्राणो ब्रह्म' इति ह स्माह।**— कौषीतकि २।१
प्राणो ब्रह्म इति ह स्माह।—पैङ्ग्य २।२

५. **बालमात्रादु हेमे प्राणा असम्भिन्नास्ते यद्बालमात्रादसंभिन्नास्तस्माद् बालखिल्याः।**—शत० ८।३।४।१

६. **सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदत्येष सूर्यः।**
—श० ब्रा० ६।७।१।२०

संवत्सर हैं। प्राण ही सत्य है। प्राण एक बड़ा भारी 'शिक्य' या छींका है जिसमें सब-कुछ बँधा रहता है।'

अथर्ववेद के प्राण सूक्त में[1] अनेक प्रकार से प्राण की महिमा का वर्णन किया है। यह सूक्त प्राण का शाश्वत यशोगान है। एक अन्य सूक्त[2] में प्राण और अपान को देवताओं का वैद्य कहा गया है। ये ही अश्विनीकुमार हैं। इस प्रकार प्राणविद्या वेदों में विशदरूप से निरूपित है।[3]

संहिताओं में तथा आरण्यक ग्रन्थों में वर्णित प्राण के सभी रूपों को जानकर गृत्समद, भरद्वाज आदि ऋषिरूप में प्राणापान की साधना करनी चाहिए। दिन प्राण तथा अपान रात्रि है, तथा प्राण ही देवता है। इसी स्वरूप का अनुभव करते हुए प्राणायाम करना चाहिए, जिसका स्वरूप इस ग्रन्थ में यथास्थान वर्णित है।

वेद और योग का सम्बन्ध

'वेद सर्व सत्यविद्याओं का पुस्तक है'। 'मानवीय जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान वेद में निबद्ध है' यह मान्यता सर्वविदित है। सब सत्य विद्याओं में प्रमुखरूपेण ब्रह्मविद्या—अध्यात्मविद्या है, यह भी सर्वगत है, अतः सिद्ध हो जाता है कि वेद का ब्रह्मविद्या अर्थात् योग-विद्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

वेद और योग के निकटतम सम्बन्ध विच्छेद का हेतु अन्वेषण करने से प्रतीत होता है कि जिस पावमानी—वरदा, अकलुषिता, मधुरिमा-मयी, अमृत वेदविद्या का पावन पीयूषपान तत्त्ववेत्ता ऋषि-महर्षिगण उपनिषद्-काल तक अविच्छिन्नरूप से करते रहे, उसके सहसा ह्रास होने की दुःखद सूचना रामायण, महाभारत एवं पुराणों ने भरपूर दी है। तब से लेकर मध्यकाल तथा वर्तमान तक इस योगविद्या को स्पष्ट करनेवाले व्याख्याग्रन्थों की अन्धाधुन्ध धाँधली ने तथा मनमानी योग-प्रणालियों के प्रचार-प्रसार ने इस सम्बन्ध को रसातल में पहुँचा दिया।

---

१. **प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।**—अथ० ११।४।१—२६

२. **प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः।**
—अथ० ७।५३।१—७

३. द्रष्टव्य—**कल्याण योगांक' 'नमः प्राणाय यस्य सर्वमिदं वशे'**
ले० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, पृ० ६५५--५८

वैदिक वाङ्मय की अपरिहार्य, अनिवार्य, कृतकार्य योगविद्या की जो उत्तरोत्तर शतमुखी उपेक्षा हुई, इसके पुनरुद्धार का कुछ-एक मध्यवर्ती योगी-मनीषियों ने यथासमय यत्न किया है परन्तु वह यत्न अबतक प्रच्युत पद को प्रत्यावर्तित कराने में अशक्त ही रहा है।

क्या इस योगविद्या का लोप ही होगा ? भ्रान्त जिज्ञासु लालिमा को देख रत्तियों [घूँघचियों] के ढेर को दहकते अंगारे जान शीत निवारण का विफल प्रयत्न कबतक करते रहेंगे ? क्या इसका सत्य-स्वरूप नहीं मिल सकेगा ? पुनः कौन अनुसन्धान करेगा ? ये सभी ज्वलन्त प्रश्न भारतीय संस्कृति के सच्चे उपासक को झकझोर देते हैं और वेद तथा योग के विच्छिन्न-वियोग का संयोग करने-कराने को बाधित करते हैं जिसके आधार पर यह ऋषिपुंगवों का पवित्र देश अन्य देशों का उन्नायक, चरित्र-शिक्षक एवं अग्रगण्य गुरु रहा है।

सर्गारम्भ-काल में प्रकट वेदों के विषय का वातावरण अपनी उदात्ततम भावनाओं से अनेक प्रकार से ओतप्रोत रहने के कारण उस समय उनके सत्यस्वरूप और उद्देश्य के ज्ञाता 'वेदवित्' पुरुष बहुत कम थे। इस तथ्य के साक्षीरूप प्रमाण इन्हीं वेदों के मन्त्रों में यत्र-तत्र बिखरे हुए उपलब्ध होते हैं। जैसे ऋग्वेद में लिखा है कि—वेदमन्त्रों में जो रहस्य भरा हुआ है उसे तो आँखोंवाला या इनके अर्थों की पूर्व-परम्परा की श्रुतियों को अनूचान, शुश्रुवान् ऋषि ही स्पष्ट रूप में देख सकता है।[1] ये आँखें क्या हैं ? इनका विवेचन वेद एवं योग के सम्बन्ध को उद्घाटित करने से स्पष्ट हो जाएगा। ऋग्वेद में इस विषय को स्पष्टतर करने की सद्भावना से लिखा है कि वेदमन्त्रों में जिन गहन विषयों का प्रतिपादन या चित्रण विचित्र शैली से किया है उसे तो वही धीर, वीर, गम्भीर या देवपुत्र ऋषि जान सकता है जो केवल 'कवि' [क्रान्तदर्शी, सूक्ष्मदर्शी, योगी या दृष्टा ऋषि] है। इस कवि शब्द का अर्थ कई धुरन्धर विद्वानों ने कविता करनेवाला या रचनेवाला किया है। परन्तु वेदों में कवि नाम तो उस अग्नि का है जो योग का प्राथमिक तत्त्व है। इसीलिए इस योग की प्रक्रिया को उसी मन्त्र में **'कवीयमान ईमा चिकेत'** कहा गया है। इसका तात्पर्य हुआ कि जो व्यक्ति योगी है

---

१. स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥
ऋग्० १।१६४।१६

वही योग की उच्चतर भूमियों पर आसीन होकर वेदमन्त्रों में निहित गूढ़ भावों को योग से उत्पन्न प्रज्ञाविवेक से देख लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि गद्य-पद्यमय काव्य की ललित रचनाएँ करते हैं, परन्तु वेदमन्त्रों की तुलना मध्ययुगीन या आजकल के कवि की रचनाओं से करना बालिशता [मूर्खता] की पराकाष्ठा है। गम्भीर रहस्यभरे इन वेदमन्त्रों में तो मननरूप योग से साक्षात्कार किया हुआ विषय परिपूर्ण है। परम्परा के अनुसार यास्क ने **'ऋषिर्दर्शनात्', 'मन्त्रं मननात्'** कहा है अर्थात् ऋषिरूप कवियों या योगियों ने जो कुछ कहा है या लिखा है उसे अपनी मननशक्ति द्वारा योगदृष्टि से साक्षात् दर्शन करके लिखा है, अतः **'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः'**—वे ऋषि या कवि हैं जिन्होंने अपने वर्णित विषय का योगदृष्टि से साक्षात्कार कर लिया था। इसीलिए मन्त्र की व्याख्या स्वयं ऋग्वेद में विहित है **'मन्त्रेभिः सत्यैः'** अर्थात् ये मन्त्र तो साक्षात्रूप में देखे गये विषयों के चित्रों को उपस्थित करते हैं। जिनके पास इन ऋषियों की योगमयी कविता की ऐसी दृष्टि नहीं है उनके बारे में पुनः प्रतिपादित किया है—**'न विचेतदन्धः'**—विना योग-दृष्टिवाला इन विषयों को नहीं देख सकता। लौकिक कवि तो स्त्रियों के अंगप्रत्यंग का, भावभङ्गिमा का शृङ्गारमय अश्लील वर्णन करते हैं। वृक्ष-फल-फूल-उद्यान-सरोवर-नदी-नाले-पर्वतशृङ्खला, उषा-सूर्य-चन्द्र-मेघमाला आदि बाह्य प्रकृति का चित्रण करते हैं। वेदों में थोथे, अश्लील-गर्हित चित्रण-उपलब्ध नहीं हैं। वास्तविक कवि आभ्यन्तर अनुभूति का चित्रण करनेवाला है। अतः जो व्यक्ति वेदों में वर्णित योग की इन प्रक्रियाओं को जानता है वह अपने देवतास्वरूप पिताओं से पुत्ररूप में उत्पन्न होने पर भी योग की प्रक्रियाओं द्वारा उन भावों को निज समाधि में जन्म देकर उद्दीप्त कर लेता है। इस प्रक्रिया के कारण वह पितारूप देवताओं का भी पिता बन जाता है।

अन्यत्र इसी सूक्त में अक्षर-ब्रह्म या एकाक्षर-ब्रह्म के अक्षरों का वर्णन गिनती की विधि [रहस्य या सांकेतिक या पारिभाषिक शब्दों] में करने के पश्चात् लिखा है कि जो व्यक्ति इस विषय को नहीं जानता वह इन ऋचाओं की रट लगाकर या उलटा-सुलटा अर्थ करके क्या[1]

---

१. **यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते ॥**

—ऋग्० १. १६४. ३९

करेगा ? उसे इन वेदों के अमृत का स्पर्श तक नहीं हो सकता । उसके लिए इन वेदों पर कहना, लिखना, पढ़ना सब व्यर्थ है । हाँ, इन विषयों को जो जानते हैं वे अवश्यमेव इन मन्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने के योग्य कहे जा सकते हैं । वेदों में वर्णित योगतत्त्वों तथा योगानुष्ठान-विषयक ईश्वराज्ञाओं से स्पष्ट हो जाता है कि वेद और योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है । ईश्वर यजुर्वेद [अध्याय ग्यारह मन्त्र एक से पाँच] में योगाभ्यास के लिए उपदेश करता है—

प्रथम चार मन्त्रों में उपासना का महत्त्व बताने के पश्चात् परमेश्वर उपासना का उपदेश करनेवाले एवं ग्रहण करनेवाले, दोनों के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम सनातन ब्रह्म की सत्य, प्रेम, सेवा एवं श्रद्धा-भाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादिपूर्वक उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद दूँगा कि सत्यकीर्ति तुम दोनों को ऐसे प्राप्त हो जैसे कि परम विद्वान् को धर्म-मार्ग यथावत् प्राप्त होता है । पुनः परमेश्वर मुमुक्षुजनों को उपदेश करता है कि—हे मोक्षमार्ग का अनुसरण करनेवाले मनुष्यो ! तुम सब लोग ध्यान देकर सुनो कि जिन दिव्य लोकों अर्थात् मोक्षसुखों को पूर्वज लोग प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासना-योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त करो, इसमें सन्देह न करो । इसीलिए मैं तुम्हें उपासना-योग से युक्त करता हूँ ।[1]

इस प्रकार वेदों में मानवीय जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के साथ-साथ निःश्रेयस् की प्राप्ति करानेवाली योगविद्या का उपदेश पदे-पदे उपलब्ध है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेद में वर्णित योगविषय का वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है । वेद से योग के इसी सम्बन्ध को स्वतः वेद-मन्त्रों द्वारा ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों के योगविषयक प्रसंगों से प्रमाणित कर पातञ्जलयोग से मिलाने का यह प्रयास किया है ।

योगपरम्परा

योगावतरण

सर्वज्ञानमयी वैदिक संहिताओं का मूलाधार यौगिक प्रक्रिया ही है, अतः वेद से भी पूर्व योगावतरण की स्थिति सिद्ध है । योगी-परम्परा

१. युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।।
—यजु० ११।५

की मान्यता है कि 'हिरण्यगर्भः' ही योग के आदि प्रवक्ता हैं, अन्य कोई नहीं।[1] ऋग्वेद में इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जब सृष्टि नहीं हुई थी तब एक अद्वितीय हिरण्यगर्भ जो सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ—उत्पत्तिस्थान, उत्पादक है वह ही प्रथम था, वह सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है।[2] इस प्रकार हिरण्यगर्भ की स्तुति वेदों में अन्यत्र भी की गई है। यह हिरण्यगर्भ परमात्मा ही है, क्योंकि वही उत्पन्न हुए सब प्राणियों का स्वामी हो सकता है जिसको अन्य शास्त्रों में भी स्वीकार किया है। यदि हिरण्यगर्भ नामक कोई ऋषि होता तो अन्य ऋषियों के समान पुराण, इतिहास आदि में उसका कोई इतिवृत्त उपलब्ध होता। हिरण्यगर्भ परमात्मा गुरुओं का भी गुरु है, वही सबसे पुरातन है।

महाभारत में सांख्य का प्रवक्ता कपिल तथा योग का आदिप्रवक्ता हिरण्यगर्भ बताया है।[3] योग-रहस्य दर्शाते हुए आगे कहा है कि यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही है जिसकी वेद में स्तुति की गई है एवं जिसकी योगी लोग नित्य पूजा करते हैं, जो संसार में विभू कहा गया है।[4] इस हिरण्यगर्भ भगवान् को समष्टि-बुद्धि कहा है, इसी को योगी-लोग महान् तथा विरञ्चि और अज [अजन्मा] भी कहते हैं।[5]

'अद्भुत रामायण' में तो स्पष्ट ही हिरण्यगर्भ को जगत् का अन्तरात्मा बताया गया है। श्रीमद्भागवत में कहा है कि 'हे योगेश्वर! यह योगकौशल वही है जिसे भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा था,[6] अतः वैदिक-योग का आदिप्रवक्ता हिरण्यगर्भ परमात्मा ही है।

---

१. हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।—याज्ञ० स्मृ०

२. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
—ऋग्० १०।१२१।१; यजु० १३।४ (आर्याभिविनय २।२०)

३. सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥—महा० १२।३४९।६५

४. हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः॥—महा० १२।३४२।९६

५. हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरंचिरिति चाप्यजः॥

६. (क) हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा···।—अद्भुतरामायण ५।६
(ख) इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्॥
—श्रीमद्भागवद् ५।१९।१३

पूर्वोक्त गुणों से युक्त परमात्मा की महत्ता बताते हुए 'महानिति च योगेषु' श्लोकांश के अर्थ में टीकाकार नीलकण्ठ ने कहा है कि **'योगेषु एष महानिति प्रथमं कार्यम्'** अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराज की यही महान् इति है कि आपने वेदों से भी प्रथम योगविद्या अर्थात् पराविद्या का प्रादुर्भाव किया।

हिरण्यगर्भ से अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा चार ऋषियों ने समाधि की उच्च-स्तरीय भूमियों में वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया। इस विषय में डॉ० कपिलदेव का कहना है कि 'अग्नि आदि का चेतन होना तथा ऋषि होने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता,[1] परन्तु शतपथ-ब्राह्मण की आख्यायिका में अग्नि आदि देवों को ज्योति कहा है। यहाँ विचारणीय है कि ज्योति से वेद कैसे प्रकट हो सकते हैं। वेदों में आगत देव शब्द की निरुक्ति **'विद्वांसो वै देवाः'** शत० ब्रा० में तथा यास्काचार्य ने निरुक्त में **'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा'** की है। अग्नि आदि ऋषि देवकोटि के विद्वान् पुरुष थे जो वेद-ज्ञान को धारण करने में समर्थ हुए। उन्हीं को ज्ञानरूप ज्योति कहा जाना संगत प्रतीत होता है, जिनपर वेद प्रकट हुए। उनके बाद ब्रह्मा नामक ऋषि चारों वेदों का ज्ञाता हुआ। पुराणों की मान्यता के अनुसार चारों वेद ब्रह्मा के चारों मुख से प्रकट हुए हैं। पुराणोक्त ब्रह्मा कौन है? इसके समय आदि का निश्चय नहीं है, अतः वह केवल आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है।

'ब्रह्मा के पश्चात् नारायण [विष्णु], भर्गः [महादेवजी], वसिष्ठ, मैत्रावरुणो, विश्वामित्रोगाथिनः, अगस्त्यो मैत्रावरुणः, मनुर्वैवस्वतः, याज्ञवल्क्य, नारद आदि ऋषि हुए जिन्होंने यजुर्वेद आदि के मन्त्रों के अर्थों का साक्षात् किया[2]। ये सभी समाधि आदि योगसाधनों की विधि भली प्रकार जानते थे, क्योंकि वेदार्थ को जानने की प्रक्रिया यही है, जैसा महर्षि दयानन्द ने माना है कि 'धर्मात्मा, योगी, महर्षि लोग जब-जब जिस-जिस के अर्थ की जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये।'[3] वही उन मन्त्रों के ऋषि कहलाये।

---

१. द्रष्टव्य—योगी का आत्मचरित्र, योगावतरण, पूर्वार्द्ध पृ० १७।१८

२. सत्य० प्र० सप्तम समु०, पृ० १६२ (अजमेर प्रकाशन सं० २०२८)

३. द्रष्टव्य—वैदिक ऋषि एक परिशीलन,

इन ऋषियों का कालक्रम पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं होता, अतः वह अन्वेषणीय है। इस ऋषि-परम्परा के अतिरिक्त मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मविद्या अर्थात् योगविद्या की शिष्य-परम्परा का प्रारम्भिक महत्त्व-पूर्ण संकेत इस प्रकार मिलता है 'देवों में मुख्य देव सर्वप्रथम ब्रह्मा हुआ, जो सारे जगत् का कर्ता और सब लोकों का रक्षक है। उसने सब विद्याओं में प्रतिष्ठित प्रधान ब्रह्मविद्या अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा को कही। अथर्वा ने अंगिरा को बताई, अङ्गिरा ने भरद्वाज-गोत्रीय सत्यवाह को बताई।'

प्रतीत होता है विभिन्न ऋषियों की पृथक्-पृथक् परम्पराएँ चलती रहीं। काठक [२।६।१८] तथा श्वेता० [२।८] आदि उपनिषदों में योगविधि और उनके साधारण उपायों का पर्याप्त उल्लेख हुआ है। कालिक दृष्टि से पातञ्जल-योग से सांख्यदर्शन प्राचीन है। सांख्य-दर्शन में भी प्रकृति-पुरुष के भेद का उपपादन है, उससे शाब्दिक रूप में ही भेद का ज्ञान हो पाता है। सां० द० तृतीयाध्याय के २३ से ३६ सूत्रों में ज्ञान से मुक्ति का विवरण दिया गया है। इसमें ज्ञान के उपायरूप से वृत्तिनिरोध, आसन, धारणा, ध्यान, अभ्यास, वैराग्य, आदि का उल्लेख किया गया है। इनके प्रयोग का विवरण योगदर्शन में उपलब्ध है। इसी प्रकार न्यायदर्शन में कहा है कि समाधि-सिद्धि के लिए यम-नियम आदि के आचरण से रागादि मलों के नाश द्वारा आत्मा को शुद्ध संस्कारयुक्त बनाकर योग एवं अध्यात्मशास्त्रों में बताये उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। वैशेषिक दर्शन में—'धर्मविशेष'[1] से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस [मोक्ष] की प्राप्ति बताई है। यहाँ भी तत्त्वज्ञान के लिए यौगिक उपायों के अनुष्ठान का संकेत उपलब्ध है।'

वेदान्तदर्शन [४।१।७—११] में चित्तवृत्ति-निरोध के लिए आसन, प्राणायाम, ध्यान, एकाग्रता आदि उन उपायों का संकेत है जिनका विधान योगदर्शन में किया गया है। योगविधानों का विरोध ब्रह्मसूत्र में कहीं उपलब्ध नहीं। इस प्रकार अन्य दर्शनों का पूरक होता हुआ यह 'योगदर्शन' पतञ्जलि ऋषि द्वारा निबद्ध योग-प्रक्रिया है तथा व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित शास्त्र है।

---

१. **धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।**—वैशेषिक १।१।४

वैदिक योग-परम्परा में पतञ्जलि

वैदिक संहिताओं से लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषदों में उपलब्ध योगतत्त्वों का सामञ्जस्य पतञ्जलि के योगसूत्रों से है, अतः पतञ्जलि वैदिकयोग-परम्परा में उच्चकोटि के ऋषि थे।

प्राचीन भारत में पतञ्जलि नाम के अनेक आचार्य हो चुके हैं। इस विषय का विवेचन आचार्य उदयवीर शास्त्री ने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक अपनी रचना में विस्तार से किया है।[1] विभिन्न कालों में हुए पतञ्जलि नामक आचार्यों का संक्षिप्त निर्देश इस प्रकार है—

१. योगसूत्रों का रचयिता।
२. व्याकरण महाभाष्य का रचयिता।
३. निदानसूत्र [अथवा छन्दोविचिति] का रचयिता।
४. परमार्थसार का रचयिता, जिसको अनेक स्थलों पर 'आदि-शेष' के नाम से लिखा गया है।
५. एक सांख्याचार्य पतञ्जलि, जिसका उल्लेख युक्तिदीपिका आदि सांख्ययोग विषयक ग्रन्थों में किया गया है।
६. आयुर्वेद-प्रवक्ता पतञ्जलि। कहा जाता है वर्तमान काल में उपलब्ध आयुर्वेद के 'चरकसंहिता' नामक ग्रन्थ का परिष्कर्ता चरक, पतञ्जलि नामक आचार्य था। इस ग्रन्थ का आरम्भिक नाम आत्रेयसंहिता अथवा आत्रेयतन्त्र प्रसिद्ध रहा है। चरक द्वारा परिष्कार किये जाने पर उसी नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस ग्रन्थ को प्रथम आचार्य अग्निवेश ने अपने गुरु आत्रेय-पुनर्वसु के नाम पर रचा था।
७. एक अन्य कोषकार पतञ्जलि का उल्लेख हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि' नामक कोष में अनेकत्र उपलब्ध होता है।
८. लोहशास्त्रकार के रूप में एक अन्य पतञ्जलि को स्मरण किया जाता है।

पतञ्जलि-विषयक उपलब्ध इतिहास के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों में विविध मत हैं। संक्षेप में यहाँ केवल इतना अपेक्षित है कि व्याकरण-भाष्यकर्ता एवं चरक-प्रतिसंस्कर्ता पतञ्जलि की कोई रचना

---

१. द्रष्टव्य—उक्त ग्रन्थ का प्रथम संस्करण, पृ० ५१२-५१३

अध्यात्मविषयक अथवा सांख्ययोगविषयक होनी चाहिए, जिसका उल्लेख पर्याप्त प्राचीनकाल से अनेक आचार्य निरन्तर करते आये हैं। अभी तक जो ज्ञात किया जा सका है, पतञ्जलि की ऐसी रचना वही सम्भव है, जिसके कतिपय सन्दर्भ युक्ति-दीपिका आदि सांख्ययोग-विषयक रचनाओं में पतञ्जलि नाम से उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं।

इन सन्दर्भों में कतिपय ऐसे दार्शनिक मन्तव्य स्पष्ट हैं जिनका सामञ्जस्य उपलभ्यमान् अथवा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के तद्विषयक प्रसंगों के साथ देखा जा सकता है। इसमें द्वादशत्रिध करण तथा सूक्ष्म-शरीर अथवा आतिवाहिक शरीरविषयक मत द्रष्टव्य हैं। इस विवेचन के फलस्वरूप यह निर्धारित होता है कि आयुर्वेद, व्याकरण, योगशास्त्र पर विभिन्न रचना करनेवाला एक पतञ्जलि नामक व्यक्ति अवश्य हुआ जो शुंगवंशीय पुष्यमित्र का समकालिक था।[1]

कई विद्वानों ने पातञ्जल-योगसूत्रों को षड्दर्शनों में सर्वाधिक प्राचीन बताया है एवं यह अभिमत व्यक्त किया है कि योगसूत्रों की रचना बौद्धयुग से पहले लगभग ७०० ई० पू० में हो चुकी थी। किन्तु राधाकृष्णन् आदि आधुनिक तत्त्वज्ञों के अनुसार 'योगसूत्र' का काल लगभग ३०० ई० है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री ने उस पतञ्जलि को शुङ्गवंशीय पुष्य-मित्र का समकालिक माना है जिसने व्याकरण महाभाष्य, चरकसंहिता तथा योग पर व्याख्या-ग्रन्थ लिखा, परन्तु योगसूत्रकार पतञ्जलि इससे अत्यन्त प्राचीन हैं। महाभारत में उपलब्ध विवरण से प्रतीत होता है योगसूत्रकार पतञ्जलि महाभारत कालिक कृष्णद्वैपायन वेदव्यास से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। पातञ्जलयोगसूत्रों के प्रामाणिक भाष्यकार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास हैं। योगसूत्रों के व्याख्याग्रन्थ तथा व्यासभाष्य के कई प्रतिष्ठित टीकाकार सर्वविदित हैं।

इस प्रकार यह वैदिकयोगपरम्परा अक्षुण्णरूप से आजतक वर्तमान है। इन सब गुरुओं का गुरु वही एकमात्र परमात्मा (हिरण्यगर्भ) है जिसने वेदों में मनुष्यमात्र के लिए योगविद्या का ज्ञान दिया। उस योगविद्या का चिन्तन-मनन कर प्रस्तुतीकरण का ही यह सामान्य प्रयास है। □

१. द्रष्टव्य—पातञ्जलयोगदर्शनम्, पतञ्जलि विवरण, पृ० ३१, प्रथम सं०, १९७८

प्रथम अध्याय

श्रुतिप्रतिपादित शारीरिक साधना

शरीर-विज्ञान की उपयोगिता

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—हमारा यह शरीर धर्म-कर्म का प्रथम साधन है। भौतिकविज्ञान-वेत्ता वैज्ञानिकों ने आज मानव के सम्मुख, अपने जीवन का अमूल्य समय लगाकर जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, वे वास्तव में मानवमात्र के लिए अमूल्यनिधि एवं उपयोगी हैं। तत्सम भौतिक तत्त्वों के संयोग से निर्मित हमारा यह शरीर जो चेतन-तत्त्व के सहयोग से कार्यरत रहता है, इसके सम्बन्ध में भी शारीरिक विज्ञानवेत्ता वैज्ञानिकों ने अथक परिश्रम से अमूल्य अन्वेषण किया है। इसी भाँति आत्म-परमात्मविज्ञान के जिज्ञासु के लिए यह परमावश्यक हो जाता है कि आत्म-परमात्मशक्ति से सञ्चालित इस देह का विज्ञान भी प्राप्त करे। परमाणु से लेकर परमात्मा तक का ज्ञान प्राप्त करना ही विवेक और मानव-जीवन का चरमलक्ष्य है। खेद है कि आज धराधाम के सभी वैभवशाली देशों ने भौतिक पदार्थों के विश्लेषण एवं शारीरिक रोगों की मूल्यवान् परन्तु परिणाम में घातक औषधियों के अन्वेषण में जो शक्ति, समय और वित्त का व्यय किया है, इससे आधी भी शक्ति, समय और वित्त आध्यात्मिक विकास में लगा देते तो संसार की यह भयावह, अशान्त और व्यथित अवस्था न होती। आध्यात्मिक विज्ञान की चरमावस्था तक पहुँचने के लिए शरीर-रथ पर आरूढ़ आत्मा ही समर्थ हो सकता है।[1]

---

१. द्रष्टव्य—'प्राणायाम का शरीर पर प्रभाव'

—स्वामी कुवलयानन्द योगांक, पृ० ५६३

सामवेद की एक ऋचा[1] में 'रथेभिः' शब्द इस बात का द्योतक है है कि "जबतक जीवात्मा शरीर में रहता है, तभी तक योग-साधनाओं के कारण परमात्मा को पा सकता है। विना शरीर के न साधनाएँ हो सकती हैं और न परमेश्वर को ही पाया जा सकता है।" वेद के इस तथ्य को योगबीज में इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'हे विधे ! विना इस मानव-देह में अधिकृत योग के ज्ञानी, विरक्त, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ भी मोक्ष नहीं पा सकता।'[2] इससे सिद्ध हुआ कि मानव-देह में ही योग-साधना सम्भव है, अन्य किसी योनि के जीवधारियों में नहीं। मानव-देह की महिमा वेदों में बहुत वर्णित है। वेद में मानव-शरीर को 'योगयज्ञ[3] का सहायक' कहा है कि—हे मानव ! तुझे यह शरीर मिला ही योग द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिए है।[4]

शरीर-विज्ञान का विश्लेषण करने से पूर्व साधक यह भी विचार करे कि जैवीजगत् की रचना से पूर्व की सब सृष्टि-रचना, जो पञ्च-महाभूतों से होती है, वह जड़ात्मक होने से 'ब्राह्मी सृष्टि' कहलाती है और जैवी जगत् की पूर्वावस्था में तो 'अमैथुनी' अर्थात् नर-नारी के संयोग विना प्राणिजगत् की उत्पत्ति होती है, पश्चात् मिथुन-संयोग से जैवीजगत् बनता चला आ रहा है। मोक्ष-साधनों में योगी को अपने ही शरीराङ्गों से कार्य लेना होता है, अतः स्थूल देह ही देही का रथ है जिसपर आरूढ़ हो लक्ष्य तक जाना होता है। स्थूल देह ही अन्य दोनों शरीरों का अधिवास है तथा तीनों शरीरों का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध के विना न तो जीव को भोग सिद्ध होता है, न योग, न मोक्ष।

शरीर यौगिक सिद्धियों में बाधक है ?—यहाँ यह तर्क दिया जाता है कि शरीर में निहित इन्द्रियाँ तो आत्मप्रत्यक्ष में समर्थ ही नहीं; अतः वे बाधक ही बनती हैं।

---

१. यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे॥—साम० ९३३

२. ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि, धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना देहेऽपि योगेन, न मोक्षं लभते विधे॥—योगबीज ३१

३. इयं ते यज्ञिया तनुः।—य० ४।१३

४. यत्सोम चित्रमुक्थ्यं दिव्यं पार्थिवं वसु।
तन्नः पुनान आ भर॥—साम० ९९९; ऋग्० ९।१९।१

उक्त प्रकरण में यह स्पष्टीकरण दिया था कि मानव-शरीर साधना में साधक ही है। हाँ, इतना अवश्य जान लेना आवश्यक है कि सदोष इन्द्रियगण योग में बाधक तथा योगानुसारी निर्दोष संयत शरीर अत्यन्त सहायक है। कुछ योगचिन्तकों ने शरीर को बाधक रूप में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि स्वरूप-स्थिति के मध्य में जो १५ तत्त्वों का समूह बाधक बनता है, इसका विश्लेषण प्राप्त करें, नहीं तो शरीर के व्यामोह में जीवात्मा प्रकृति की रंगरेलियों में रम जाता है। चित्त और अहंकार से परिवेष्टित आत्मा अपने-आपको शरीर से अभिन्न समझ बैठता है। स्वरूप से सुखमय प्रतीयमान क्षणों के लिए अत्यन्त दुःखराशि से आपूर खारे सागर में गोते खाता रहता है। पौनःपुन्येन दारुण दुःख-दानव के अहर्निश खुले विकराल जबड़े में गिरता है। 'त्राहि-त्राहि' कर उससे निकलना चाहता है। बचने को यत्नशील होता हुआ अज्ञानवश पुनः-पुनः उसी में फँसता जाता है। अज्ञानावृत जीव के लिए यह सृष्टि-रचना भयानक जंगल बन जाती है। परमज्ञानी तत्त्ववेत्ता तो अज्ञान के भँवर से पार होने के लिए विविधरूपा प्रकृति को केवल नौका के रूप में प्रयोग करता है और निर्लेप पार उतर जाता है, अतः यहाँ मानव-देह की रचना का रहस्य जानना आवश्यक है।

समष्टि से व्यष्टिरूप मानवदेह का निर्माण-क्रम

सर्वशक्तिमान्-सर्वाधार-नित्य-चेतन-सर्वव्यापक प्रजापति तथा सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति का संयोग-सम्बन्ध नित्य है। प्रलय के पश्चात् जीवात्माओं के भोगवशात् जब परमेश्वर का ईक्षण, प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है तब यह प्रकृति विषमभाव को प्राप्त होकर त्रिगुणात्मक कार्यजगत् की उत्पत्ति करने लग जाती है। यद्यपि ब्रह्म [प्रजापति] और प्रकृति इन दोनों नित्य पदार्थों का सम्बन्ध व्याप्य-व्यापकरूपेण नित्य है, अतः प्रलयकाल में भी इस सम्बन्ध का अभाव नहीं होता। यह सम्बन्ध केवल अव्यक्त हो जाता है जैसे निद्राकाल में जीवात्मा के जागृत अवस्था के स्थूल व्यापारों का अभावमात्र हो जाता है। इसी प्रकार प्रलयकाल में ब्रह्म के स्थूल-व्यापारमात्र का अभाव हो जाता है। जब यह प्रकृति अपने साम्यरूप का

परित्याग कर देती है तब कार्यरूप में सर्वप्रथम महद्-आकाश, दिशा, काल और महत् सत्त्व, महत् रजस् तथा महत्तमस् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इनमें महत् सत्त्व, महत् रजस् और महत् तमस् अन्तःकरण-चतुष्टय के उपादान कारण होते हैं, क्योंकि प्राकृतिक नियमानुसार त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों ही गुण न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य विद्यमान रहते हैं। कोई एक या दो गुण मिलकर पदार्थ के निर्माण में समर्थ नहीं होते।

मानव-शरीर का निर्माण समष्टिरूप महापृथिवी के सात्त्विक भाव से कार्यरूप में परिणामभाव को प्राप्त होकर होता है।[1] सब लोकों में जितने भी जीवों के शरीर हैं उन सबकी रचना पृथिवी-सत्त्व के सात्त्विक भाग से ही होती है। गौणरूप से अग्नि, जल, वायु, एवं आकाश सभी सहायक होते हैं।

वेदों में समष्टि से व्यष्टि-शरीर-रचनाक्रम

अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि समष्टि के इक्कीस पदार्थ [पाँच सूक्ष्म भूत, पाँच स्थूल भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा वीर्यशक्ति] स्थूल शरीरों के सब रूपों को धारण करते हैं, जो कि आकाश में व्याप्त हैं। वेदवाणी का स्वामी, प्रजापति परमात्मा, इनका मेरे शरीर में आधान निज सृजन-शक्ति से करके, बलों का समावेश करे।[2]

सामवेद में 'समिद्भिः' पद से आध्यात्मिक यज्ञ में सहायक, मानव-शरीर के उपादानभूत उक्त इक्कीस तत्त्वों का ही ग्रहण किया गया है जिनमें से बीस पदार्थ तो समिधारूप में ग्रहण किये गये हैं। इक्कीसवाँ घृतस्थानीय वीर्य को ग्रहण किया है।[3] अथर्ववेद में वीर्य तथा रज को मानव-शरीर-निर्माण में सहायक माना है।[4] सांख्यदर्शन में इन तत्त्वों

---

१. स्वामी योगेश्वरानन्द कृत ब्रह्मविज्ञान—समष्टि पृथिवी महाभूत पृ० ५७

२. ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥—अथ० १।१।१

३. तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठय॥—साम० ६६१

४. अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥—अथ० ११।८।२९

की संख्या पच्चीस मानी है।[1]

सामान्य परिवर्तन से आगत चारों वेदों के पुरुषसूक्त में निरूपण किया गया है कि अन्न से अथवा अन्य भौतिक पदार्थों के संयोग से भौतिक सृष्टि का विकास होता है, जिस प्रकार "पूर्ण परमात्मा[2] में चेतन-मात्र जीवों के शरीर तथा शिर, नेत्र, पैर आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गों की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। इसका एक समष्टिरूप प्रकृति में विद्यमान रहता है, उसी से व्यष्टिरूप शरीर तथा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों का निर्माण होता है परन्तु परमात्मा पंचस्थूलभूत, पंचसूक्ष्मभूत से बने समष्टि-व्यष्टिरूप जगत् से पृथक् ही है।" वर्तमान सृष्टि तथा भूत-भावी सृष्टिक्रम का वही अधिष्ठाता होता हुआ, पृथिवी आदि भूतों के संयोग से सृष्टि का परिवर्धन करता है।

'परमेश्वराधिष्ठित प्रकृति से समष्टिरूप से प्रकाशमान विराट् [ब्रह्माण्ड] उत्पन्न होता है, विराट् के अनन्तर भूमि तथा शरीर आदि पुरियों का निर्माण होता है।[3] इस प्रकार श्रुति-प्रतिपादित समष्टि से व्यष्टि-शरीर-निर्माणक्रम का निरूपण प्रस्तुत किया, इससे आगे स्थूल शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का निर्माणक्रम तथा उनके उपादान-कारणों का उपनिषद्-सम्मत मन्तव्यों से निरूपण करेंगे।

ऐतरेयोपनिषद् में समष्टि से व्यष्टिरूप मानव-शरीर की रचना का क्रम सुन्दर वैदिकशैली से व्यक्त किया है कि—सृष्टि-रचना से पूर्व ज्ञानस्वरूप एक परमात्मा विद्यमान था। अन्य सब कारणजगत् अज्ञात, अकम्प और अव्यक्त था। उस परमात्मा ने ईक्षण किया कि कर्मफल-भोगों के स्थानरूप लोकों को रचूँ। सर्वप्रथम द्युलोक में स्थित

---

१. **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पंच-विंशतिर्गणः ।।**—सांख्य० १।६१

२. **सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।**
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।।
—ऋग्० १०।९०।१; यजु० ३१।१; साम० ६१७; अथ० १९।६।१; तै० आ० ३।१२।१

३. **तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।**
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ।।
—ऋग्० १०।९०।५; यजु० ३१।५; अथ० १९।६।१९; तै० आ० ३।१२।२

वाष्प की ऊपर आकाश में रचना की। शून्य अन्तरिक्ष से आनेवाली किरणों का स्थान अन्तरिक्ष बनाया, पुनः मरनेवाली पृथिवी। इस भूमि के नीचे-ऊपर वाष्पमय जलों को रचा। इन चार लोकों का सृजन करके परमात्मा ने लोकपालों की रचना की। तब उसने जलों के सूक्ष्मतत्त्वों से विराट्पुरुष को पुरुषाकार रूप दिया। विराट् पुरुष में जो उत्पादक-शक्ति बीजत्व विद्यमान है वही सूक्ष्मतत्त्वों से उद्भूत पुरुषभाव, जीवन, शक्ति तथा प्राण है।

प्रजापति ने उस विराट् को निज सृजन-सामर्थ्य से सन्तप्त किया, नियम-नियति में बाँधा। उस अभितप्त ज्ञान=विराट् पुरुष से मानव-देह का सृजन हुआ, उसमें मुखादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते गये, जैसे अण्डे का मुख-भेदन होकर आकृति का रूप धारण कर लेता है।[1]

शरीरों के भेद

जड़तत्त्वों से विनिर्मित शरीरों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—

१. स्थूल शरीर, २. सूक्ष्म शरीर, ३. कारण शरीर।

सामवेद में शरीरगृह को वात-पित्त-कफ तीन धातुओंवाला या तत्त्वोंवाला तथा स्थूल-सूक्ष्म-कारण, तीन आवरणोंवाला बताया गया है, तथा परमात्मकृपा से यह शरीर विभिन्न आध्यात्मिक विभूतियों को धारण करने में समर्थ होता है।[2]

सामवेद के दो मन्त्रों में तीनों शरीरों का संकेत है। १२४९ में 'पुराम्' शब्द द्वारा सूक्ष्म तथा कारणशरीरों का वर्णन है जो कि मृत्यु के पश्चात् भी जीवात्मा के साथ रहते और भावी जन्मों के बीजरूप

---

१. "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥
स इमांल्लोकानसृजत। अम्भोमरीचीर्मरमापः। अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरो, या अधस्तात्ता आपः ॥२॥
स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।
सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥३॥
तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत
यथाऽण्डम् ॥"—ऐत० उप० १. १, २, ३, ४

२. 'इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये।'—साम० २६६

होते हैं और मन्त्र १२५० में 'पुराम्' शब्द द्वारा स्थूल शरीरों का वर्णन हुआ है जिनकी उत्पत्ति तथा विनाश होता रहता है।[1] इन्हीं 'पुरों' की दृष्टि से जीवात्मा को 'पुरुष' कहते हैं। 'पुरुष' शब्द का अर्थ है—पुरी में शयन करनेवाला, बसनेवाला।[2] शरीर ही जीवात्मा की पुरी है।[3]

शरीरत्रयी में समाविष्ट पंचकोश

जीवात्मा को प्राप्त तीनों शरीरों के रहस्य को भली-भाँति हृदयङ्गम करने तथा पंचकोश-शुद्धिकरण की प्रक्रिया द्वारा आत्म-साक्षात्कार करने के लिए ध्यानशील ऋषिपुंगवों ने शरीरत्रयी को पंचकोशों में जिस प्रकार विभाजित किया है उसे निम्न तालिका से समझना सुगम होगा—
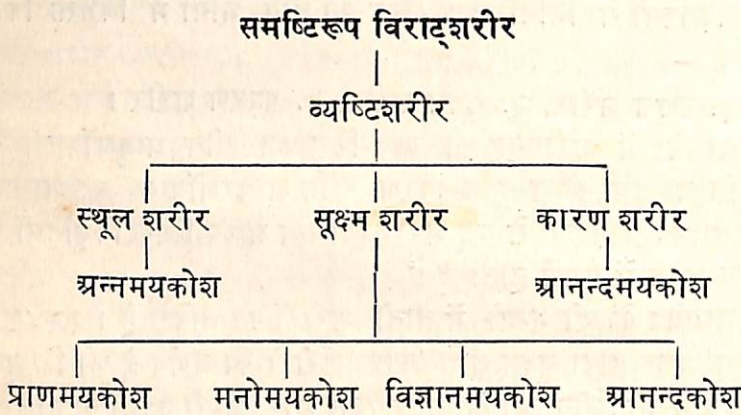
श्रुतिसम्मत स्थूलशरीर के अन्नमयकोश का विज्ञान

चारों वेदों में पृथक्-पृथक्रूपेण तत्तत् प्रसंगवश स्थूलशरीर के अंगों का वर्णन उपलब्ध होता है।

ऋग्वेद ८.२९ में चक्षु-कर्ण-मुख-हस्त-पैर तथा मुख में स्थित रसना

१. त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र धर्ता पुरामसि ॥—साम० १२४९
पुरां भिन्दुर्युवाकविरमितौजा अजायत ॥—साम० १२५०

२. पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः।—निरु० अ० २, पा० १

३. टिप्पणी—साम० अ० भा० मन्त्र १२५०

का देवत्व प्रतिपादित किया गया है। इन्द्रियों में स्वतेज से प्रकाशित चक्षु का प्रधान स्थान माना है।[1] कर्णदेव मन के साहचर्य से शब्द सुनकर ग्राह्य को ग्रहण कर मन के माध्यम से आत्मदेव तक पहुँचाता है। शब्दों की इस काटछाँट के कारण वेदमन्त्र कर्णदेव के हाथ में लोहनिर्मित वाशी [बसूला] को लिये हुए प्रतिपादित करता है।[2] मुखदेव तीक्ष्ण आयुधरूप दन्तों द्वारा भोज्य को पीसता है, अतः उसे सुखकारी भेषज्य-धारी कहा है।[3]

हस्तरूप देव अन्य देवों के मार्गों की रक्षा करता है। चोर की भाँति देवों में निहित निधियों को निरख लेता है तथा कष्ट-निवारण करता है।[4]

चरणदेव सूर्य के समान तीनों भुवनों में जाने की सामर्थ्यवाला होने से विस्तीर्ण कीर्तिवाला है, चरणदेव के गमन-सामर्थ्य से अन्य सभी देव बड़े हर्षित होते हैं।[5]

मुखदेव को उपमास्वरूप में ग्रहण किया जाता है, तथा मुखदेव के दर्शन से अपने-पराये का परिचय मिलता है। मुख के अन्दर स्थित रसना, घृत आदि खाद्य पदार्थों का आस्वादन करने का प्रमुख कार्य करती है।[6]

स्थूलशरीर या अन्नमय कोश के प्रभेद

स्थूल शरीर के अन्नमयकोश में आगत अङ्ग-समुदाय के संघरूप अङ्गी को वैदिकसाहित्य में विभिन्न पर्याय शब्दों से ग्रहण किया गया
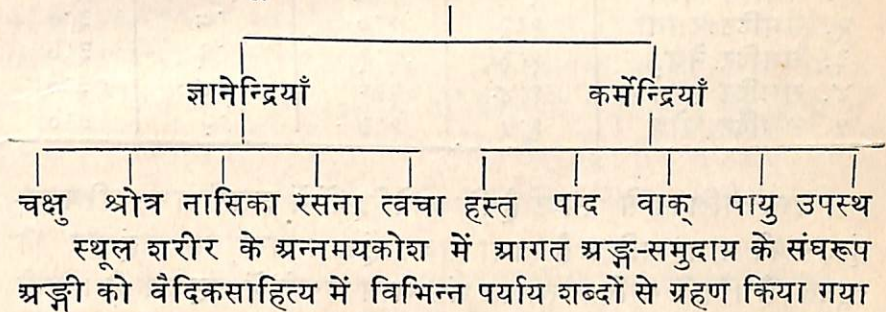
१. योनिमेक आ ससाद द्योतनोऽन्तर्देवेषु मेधिरः ।।—ऋग्० ८·२९·२

२. वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः ।।—ऋग्० ८.२९.३

३. तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुधं शुचिरुग्रो जलाषभेषजः ।।—ऋग्० ८.२९.५

४. पथ एकः पीपाय तस्करो यथाँ एष वेद निधीनाम् ।।—ऋग्० ८.२९.६

५. त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे यत्र देवासो मदन्ति ।।—ऋग्० ८.२९.७

६. सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि सम्राजा सर्पिरा सुती ।।—ऋग्० ८.२९.९

है, यथा—शरीर, देह, काया, अयोध्या, देवपुर, देवपुरी, पिण्ड, गात्र, अङ्गी, तनु आदि।

समष्टि-अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के मण्डल समष्टि सात्त्विक अहंकार के परिणाम हैं। सात्त्विकता ही ज्ञान में सहायक है, अतः सात्त्विक अहंकार ही इनका मूल होना स्वतः सिद्ध हुआ। पञ्चतन्मात्राओं के समष्टिरूप मण्डल से निजगुणानुसार व्यष्टिरूप पञ्चज्ञानेन्द्रियों का समूह प्रत्येक देही को प्राप्त होता है। जीवात्मा ज्ञानेन्द्रियों के साथ चाहे भोगयोनि में रहे या कर्मयोनि में अथवा उभययोनि में, सात्त्विक, राजसिक, तामसिक तीनों गुणों से संयुक्त इन्द्रियमण्डल सदा इसके साथ रहता है।

स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती ने इन तीनों अहंकारों का तारतम्य निज ध्यानदृष्टि के अनुसार इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

समष्टि अहंकारों का समष्टि ज्ञानेन्द्रियों में भाग[1]

समष्टि ज्ञानेन्द्रिय	समष्टि सात्त्विकाहंकार	समष्टि राजसाहंकार	समष्टि तामसाहंकार	योग
१. समष्टि घ्राण	१·१	·९	१·०	३·०
२. समष्टि रसना	१·२	१·०	·८	३·०
३. समष्टि नेत्र	१·३	१·१	·६	३·०
४. समष्टि स्पर्श	१·४	१·२	·४	३·०
५. समष्टि श्रोत्र	१·५	१·३	·२	३·०

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि ज्ञानेन्द्रियों में उत्तरोत्तर सात्त्विकाहंकार की मात्रा अधिक है तथा राजसाहंकार तथा तामसाहंकार की न्यूनता है। यही सात्त्विकता का अंश-ज्ञान कराने में सहायक है। यही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्येक जीवात्मा को व्यष्टिरूप में प्राप्त होती हैं, जो मोक्षपर्यन्त साथ रहती हैं।[1]

१. ब्रह्म वि०—पृ० २७३

समष्टि कर्मेन्द्रियों में समष्टि अहंकारों का भाग[1]

समष्टि कर्मेन्द्रिय	समष्टि सत्त्वाहंकार	समष्टि राजसाहंकार	समष्टि तामसाहंकार	योग
१. समष्टि गुदा	·१	१·५	१·४	३·०
२. समष्टि शिश्न	·२	१·७	१·१	३·०
३. समष्टि पाद	·४	१·८	·८	३·०
४. समष्टि हस्त	·६	१·९	·५	३·०
५. समष्टि वाणी	·८	२·०	·२	३·०

कर्मेन्द्रियों के निर्माण में सात्त्विकाहंकार तथा तामसाहंकार की अपेक्षा राजसाहंकार की मात्रा अधिक है, अतः ये कर्मप्रधान इन्द्रियाँ हुईं। पाँचों कर्मेन्द्रियाँ प्रत्येक देहधारी को व्यष्टिरूप में—व्यक्तिगत-रूप से मिली हुई हैं। ये मोक्षपर्यन्त सदा जीव के साथ सूक्ष्म शरीर में रहती हैं।

स्थूलशरीर के आश्रित अन्नमयकोश के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन वेदों में विशदरूप से अभिहित है। जीवात्मा शरीररूपी वन में निज विभुशक्ति द्वारा क्रीड़ा कर रहा है, ये दशों इन्द्रियाँ इसकी शोभा को बढ़ाती हुई ज्ञानकर्म में सहायक हैं।[2] अथर्ववेद में उभयेन्द्रिय को शरीर में द्वार[3]-(छिद्र)-रूप में ग्रहण किया गया है। इन नव द्वारों में दो आँख, दो नासिका-पुट, दो कर्ण-विवर, एक मुख, एक उपस्थ तथा गुदा द्वार की गणना की गई है।

यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में कुछ मन्त्रों में योगयज्ञ के माध्यम से वाणी,[4] चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को आत्मज्ञान के अनुकूल वर्तने

१. ब्र० हिव०, पृ० २१२

२. **यमत्यमिव वाजिनं मृजन्ति योषणो दश। वने क्रीडन्तमत्यविम्॥**
—ऋग्० ९।६।५

३. **अष्टाचक्रा नवद्वारा।**—अथ० १०।२।३१; **पुण्डरीकं नव द्वारम्।**
—अथ० १०।८।४३

४. **प्राणश्च मे**—यजु० १८।२

का सामर्थ्य प्रदान करने की प्रार्थना की गई है। तृतीय ऋचा[1] में शरीर तथा शरीराङ्गों की हड्डियों और मर्मस्थलों को समर्थ बनाने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की गई है। शरीर की युवा तथा वृद्धावस्था का भी संकेत मन्त्रों में उपलब्ध होता है।[2] इस प्रकार निखिल आयु को योगयुक्त बनाकर साधक को समर्थ बनने का संकेत किया गया है।

समष्टि-व्यष्टि सृष्टि के प्रकरण पुरुष-सूक्त में शीर्ष, पाद, अंगुल, नेत्र, बाहु, ऊरु, पाद, नाभि[3] आदि अंगों का उल्लेख किया गया है। ज्ञानेन्द्रियों के प्रमुख अंग शिर तथा शीर्ष शब्दों का प्रयोग यजुर्वेद ३७वें अध्याय में ३१ बार किया गया है। वास्तव में योगाभ्यास की विविध क्रियाओं एवं सिद्धियों के लिए शिर ही शरीर में महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

यजुर्वेद ३९वें अध्याय में चक्षु, श्रोत्र, नाभि[4] आदि बाह्याङ्ग एवं हृदय,[5] हृदय का अगला भाग और अन्य छोटे-छोटे सम्पूर्ण अवयव, यकृत्,[6] हृदय के दोनों ओर नस-नाड़ियाँ, पसलियाँ, आन्त्रकोष्ठ, आन्तरिक कोशादि आन्तरिक शरीराङ्गों का विज्ञान कराया गया है। शरीर की धारक शक्तियों[7] त्वचा, रुधिर, चर्बी (वसा), मांस, मज्जा, नस-नाड़ी, अस्थि तथा साररूप वीर्य आदि सप्त धातुओं का उल्लेख स्पष्टरूपेण प्रस्तुत किया गया है।

यजुर्वेद २०वें अध्याय के पाँच मन्त्रों[8] में शरीराङ्गों की गणना के साथ उनकी दृढ़ता, उपयोगिता एवं भद्रता के लिए शरीरविज्ञान को जानना अत्यावश्यक प्रतिपादित किया गया है।

यजुर्वेद में शरीरविज्ञान को आवश्यक बताकर अथर्ववेद में शरीर-की जिज्ञासा पैदा कर प्रश्नों के माध्यम से अङ्ग-प्रत्यङ्गों का विज्ञान अभिहित है।

---

१. **ओजश्च मे सहश्च मे।**—यजु० १८।३।२९
२. **ज्यैष्ठ्यं च मे।**—यजु० १८।४
३. **सहस्रशीर्षा पुरुषः।**—यजु० ३१।३; ३१।१०
४. यजु० ३९।२, ३
५. **अग्निं हृदयेशनानि।**—यजु० ३९।८
६. यजु० ३९।९
७. यजु० ३९।१०
८. यजु० २०।५--९

शरीरविज्ञान की जिज्ञासा से साधक आश्चर्ययुक्त होकर प्रश्न पूछता है कि 'मनुष्य-शरीर में पैरों की दोनों एड़ियाँ, मांस, दोनों टखने, अंगुलियाँ, पेशानी, नेत्रादि इन्द्रियाँ और पाँवों के तलवे, कैसे किसने प्रतिष्ठित किये ? नीचे के टखनों, दोनों घुटनों, जाँघों तथा जोड़ों को किसने जोड़ा ?[1] शरीर में चार प्रकार की सन्धियाँ, धड़, दोनों कूल्हे (पुट्ठे), दोनों (कुसिन्धम्) चिपचिपाते हुए बगल, छाती, गर्दन, स्तन, कपोल, दोनों कन्धों तथा पसलियों को कैसे किसने एकत्रित किया ?[2] सात इन्द्रियाँ, दोनों पैर, ठोड़ी, जीभ, मस्तिष्क का अग्रभाग ललाट, कनपटी, माथा, खोपड़ी इन सभी अंगों का चयन करके कौनसा देव इनमें छिपा हुआ है ?[3] इन सभी अंगों को आच्छादित किये हुए, नदियों के समान सकल अंगों को रुधिर से आसिञ्चित करती हुई ये नस-नाड़ियाँ जो लाल, बैंगनी तथा ताम्ररंगयुक्त हैं इनको किस देव ने कैसे निहित किया है ?[4]

सामवेद में भी मूर्धा, शिर, गिर, चक्षु तथा अस्थि आदि अंगों का वर्णन मिलता है।[5] केन तथा प्रश्नोपनिषद् में भी अङ्गवाची शब्दों का प्रयोग है।

शरीरविज्ञान के अनुसार स्थूलशरीर तथा अङ्गों का विवेचन

मानव-शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का वर्णन चारों वेदों में मिलता है। संक्षेप से यह भी अवलोकन करें कि वेदों में वर्णित शरीर के अंगों का आयुर्वेद के प्रत्यक्ष-शारीर-प्रसंग में क्या विज्ञान प्रस्तुत किया है—

---

१. केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनांगुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥
—अथ० १०।२।१

२. कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
जङ्घे निर्ऋत्यन्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत॥—२
चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव॥—३

३. कति देवाः।—अथ० १०।२।४, ५
कः सप्त खानि।—अथ० १०।२।६

४. मस्तिष्कमस्य।—अथ० १०।२।८
को अस्मिन्नापः।—अथ० १०।२।११

५. मूर्धा—साम० ६७; शिरः—साम० २८१; गिरः—साम० २५०;
चक्षुः—साम० १६७२; अस्थिः—साम० १७६

स्थूलशरीर के मुख्य अंग—शिर, ग्रीवा, छाती, उदर, कमर, ऊरु, जंघा, पाद।

शरीर के धारक केन्द्र—(१) अस्थियाँ, (२) सन्धियाँ, (३) मांस-पेशियाँ, (४) रक्त एवं रक्तवाहक शिरा और धमनियाँ, (५) प्राण-सञ्चार, (६) पाचनाङ्ग तथा पोषकाङ्ग, (७) मूत्र और मूत्रधारक—वाहकाङ्ग, (८) वात-नाड़ियाँ, (९) ज्ञानेन्द्रियाँ, (१०) कर्मेन्द्रियाँ।

अस्थिपञ्जर के प्रमुख सात विभाग—

१. कपाल (खोपड़ी)	...	२२ अस्थियाँ
२. मेरुदण्ड	...	२६ कशेरु
३. वक्षःस्थल	...	२५ अस्थियाँ
४. भुजाएँ तथा हस्त	...	३२-३२ अस्थियाँ
५. जाँघों से पैरों तक	...	३१-३१ अस्थियाँ
६. कण्ठ	...	१ कण्ठास्थि
७. कर्ण में	...	३-३ अस्थियाँ

योगसाधना के समय शरीर के विशेष उपयोगी अंग—

(१) कपाल, (२) मेरुदण्ड तथा (३) हृदय।

१. **कपाल**—गोलाकार कोष्ठ (खोपड़ी) में ८ अस्थियाँ हैं। मस्तिष्क इस कपाल से सुरक्षित है। शेष १४ अस्थियों से नासिका तथा मुखमण्डल का निर्माण हुआ है। कपाल के सामनेवाली हड्डी (अस्थि) ललाटास्थि है, दोनों ओर दो पार्श्विकास्थि तथा एक पश्चादस्थि है। यहाँ पर दो शंखास्थियाँ, एक-एक जतूकास्थि एवं एक झर्झरास्थि है। शिशु के कपाल में ऊपर छिद्र होता है जो फड़कता रहता है, उसे ब्रह्मरन्ध्र या पूर्व-विवर कहते हैं। पश्चादस्थि तथा पूर्विकास्थि के सङ्गम पर गड्ढा होता है जो जन्म से छह मास के अन्दर भर जाता है, इसे शिवरन्ध्र या 'अधिपति विवर' भी कहते हैं। झर्झरास्थि में छिद्र होता है। ललाटास्थि में (भ्रूमध्य में) ललाटकोटर नामक दो छिद्र होते हैं। यहीं आज्ञाचक्र का स्थान है। कण्ठ के अन्दर कोमल तालु में अवलम्बित काक के पास एक महाछिद्र है, जिसमें होकर सुषुम्ना कपाल में घुसती है। कपाल की अस्थियाँ कागज़ी बादाम के छिलके के समान छिद्रवाली होती हैं।

२. **मेरुदण्ड**—२६ कशेरुओं के संयोग से रचित मेरुदण्ड सूत्रों से बँधा हुआ है, यही लचक का कारण है। ग्रीवा में ७ कशेरु, पीठ में १२, कटि-प्रदेश में ५, कटि से नीचे वस्ति-गह्वर-भाग त्रिक में २ कशेरु हैं और ५ अस्थियाँ हैं। इसका निचला भाग पुच्छास्थि या गुदास्थि (चंचुनाम का कशेरु) ४ कशेरुओं से निर्मित है। ये सब मिलकर ३३ अस्थियाँ होती हैं। ग्रीवा के प्रथम कशेरु से लेकर नीचे त्रिकास्थि तक सब कशेरु बाँस की तरह पोले हैं। इसी छिद्र में सुषुम्णा की स्थिति है। त्रिकदेश में पाँच कशेरुओं से बनी दो अस्थियाँ हैं जो ऊपर की बड़ी एवं नीचे की छोटी हैं। अस्थि के अगले-पिछले भागों पर आठ-आठ छिद्र हैं। इनसे सामान्य तथा रक्तवाहक नाड़ियाँ बाहर आती हैं।

३. **हृदय—रक्तवाहक केन्द्र**—रक्त-संवहन का मुख्य केन्द्र हृदय है। यह स्वसंचालित, वक्षःस्थल के मध्य दोनों फुफ्फुसों के मध्य में सुरक्षित है। एक युवक का हृदय लगभग साढ़े चार इंच लम्बा, साढ़े तीन इंच चौड़ा, ढाई इंच मोटा तथा १८८ ग्राम के लगभग भारी होता है। प्रत्येक मनुष्य का हृदय अपनी बन्द मुट्ठी से मिलता-जुलता है। इसके सामने उरोस्थि और वामपार्श्व में पहली २, ३, ४, ५ पसलियाँ हैं, सुषुम्णा के पीछे ५, ६, ७, ८ कशेरुओं के मध्य में बृहद् धमनी तथा अन्न-प्रणाली के बीचों-बीच यह स्थित है; सूत्र-जैसे तन्तुओं से बनी थैली से से ढका हुआ है, जो कि अन्दर से चिकना है। इसे 'हृत्-कोष' कहते हैं।

हृदय के कार्य

हृदय एक क्षण भी सम दशा में नहीं रहता, अपितु सदैव आकुंचन-प्रसारणरूप क्रिया में निरत रहता है। जब महाशिरा द्वारा लाये गये मलिन रक्त से भरा दक्षिण कोष्ठ सिकुड़ता है तो दक्षिण निम्न कोष्ठ में भरा मलिन रक्त फुफ्फुसिया शिरा से फेफड़े में चला जाता है, एवं जब बाईं ओर का ऊर्ध्व कोष्ठ सिकुड़ता है तब यहाँ का शुद्ध रक्त निम्न कोष्ठ के द्वारा धमनियों में होकर देह में चला जाता है। यह क्रम दिन-रात सम्पूर्ण आयु चलता रहता है। स्वस्थ युवा मनुष्य का हृदय एक मिनट में ७२ बार आकुंचन-प्रसारण करता है। शिशु का हृदय प्रति-मिनट १४० बार तथा वृद्धावस्था में युवावस्था की अपेक्षा गति बढ़ जाती है। काम-क्रोधादि मानसिक विकारों से तथा भय, अतिहर्ष, तीव्रज्वर, व्यायाम आदि के समय यह गति बढ़ जाती है और क्लेश,

उपवास, निर्बलता, आघात से घट जाती है। अतिहर्ष, अतिशोक की अवस्था में हृदय सुन्न=स्तब्ध हो जाता है, जोकि मृत्यु का कारण बनता है।

योग की दृष्टि से हृदय की उपयोगिता

यौगिक दृष्टि से अयोध्या का हिरण्यमयकोश, ज्योतियों का पुञ्ज, आनन्दरस, इस रक्ताशय हृदय के अन्दर विद्यमान एक छोटे अंगूर के समान रिक्तस्थान 'पोल' में ही है। इसी बीजकोश के दुर्ग में अमृतपुत्र आत्मा अपने परमरक्षक, प्रेरक, परमेश्वर के साथ निवास करता है, अतः योगी का 'देवालय' उसके हृदय में ही है। जहाँ इष्टदेव के नित्य दर्शन करते हुए सौभाग्यशाली-साधक आनन्द से आप्लावित रहता है।

मस्तिष्क तथा सुषुम्णा के विज्ञान का महत्त्व

समस्त देह में ज्ञान-विज्ञान-प्राप्ति के साधनभूत मन और उभय-इन्द्रिय तथा बुद्धि का निवास मस्तिष्क में है। इस वृत्ताकार कोष्ठ में ही मनोमयकोश एवं विज्ञानमयकोश स्थित रहकर कार्य सम्पन्न करते और ज्ञान प्राप्त करते हैं। एतदर्थ ज्ञानप्रधान मस्तिष्क और भावप्रधान हृदय अपने ज्ञान, क्रिया और भावों को क्रियान्वित कराने के लिए विशेषरूप से 'सुषुम्णा मार्ग' का प्रयोग करते हैं। मस्तिष्क और हृदय को देह के साथ मिलाने का मुख्य साधन 'सुषुम्णा' है। अनुभव-प्रधान ध्यानशील साधक इसी प्रकार वर्णन करते हैं।

सुषुम्ना की स्थिति

कपाल की पश्चादस्थि में स्थित लघु-मस्तिष्क के मध्यभाग के समक्ष चतुर्थ कोष्ठ तथा सेतु के निम्नभाग से सुषुम्णा का निकास होता है। इसका निवास मेरुदण्ड-नलिका में है। पश्चादस्थि के निम्नभाग से निकलकर मेरुदण्ड एवं ग्रीवा के प्रथम कशेरु के बीच होती हुई सुषुम्णा, ग्रीवा-पृष्ठवंश के कशेरुओं में से गुजरती हुई कटिप्रदेश के प्रथम द्वितीय कशेरु के सम्मुख 'शंकु' के आकार की हो जाती है, 'यही शंकु शिखर' है। यहाँ से आगे इसी शंकु की नोक से एक पतला श्वेत-सूत्र निकलकर ७-८ इंच नीचे जाकर गुदास्थि से जा मिला है। यह सुषुम्णा का मध्य-बन्धन कहाता है। यहाँ प्रारम्भिक भाग में थोड़ा वाततन्तु और शेष भाग में 'सौत्रान्तिक तन्तु' होता है।

सुषुम्णा का परिमाण

सुषुम्णा लम्बाई में लगभग अट्ठारह इञ्च, इसकी मोटाई ग्रीवा में तीन इञ्च, ग्रीवा से वक्ष के प्रथम कशेरु तक के भाग का घेरा आधा इञ्च, वक्ष के नवें कशेरु से बारहवें कशेरु के मध्य सुषुम्णा की मोटाई लगभग एक इञ्च होती है, शेष तो नीचे तक श्वेतसूत्र ही होता है। सुषुम्णा के सम्मुखवाले भाग में एक सीधी घाई [खाई] पड़ी है जो स्थूलभाग तक रहती है, इसकी गहराई होती है केवल १/८ इञ्च। घाई के दायें-बायें पार्श्व समान होते हैं। दायें-बायें पार्श्व में दो कशेरुओं के संयोग से एक नलिका बन जाती है। इन कशेरुओं के मध्य से सुषुम्णा के दायें-बायें पार्श्वों में से नाड़ियों के इकतीस युगल मिलकर वातसूत्र का निर्माण करते हैं।

ग्रीवा में तृतीय कशेरु से वक्षःस्थल के प्रथम कशेरु तक के भाग से बाहु-शाखा सम्बन्धी नाड़ियाँ निकलती हैं और वक्ष वा पृष्ठ-देश के नवें से बारहवें कशेरु के मध्य टाँगों से सम्बद्ध नाड़ियाँ निकलती हैं। इस प्रकार यह सुषुम्णा गतिज्ञानवाहक सूत्रों से बना विज्ञान का एक महान् सत्पथ है। इस नाड़ी-जाल में पाँच मुख्य केन्द्र हैं—

१. ग्रीवा का ऊपरी भाग, २. ग्रीवा से वक्ष तक, ३. कटिप्रदेश ४. उदर में एवं ५. त्रिकास्थि के सम्मुख 'वस्तिगह्वर'। आगे प्रत्येक सौषुम्ण नाड़ी का पिंगला नाड़ी-मण्डल से सम्बन्ध है।

पिंगला एवं इडा नाड़ी

सुषुम्णा के दोनों ओर गाँठोंवाली दो नाड़ियाँ हैं जो गुदास्थि के सम्मुख जा मिलती हैं। इन गाँठों का रंग कुछ लालिमा लिये हुए धूसर पिंगल वर्ण है; इसी के आधार पर, इस नाड़ीजाल का नाम 'पिंगला नाड़ी मण्डल' रखा गया है। दक्षिणभागवाली नाड़ी पिंगला और वामभागवाली इडा नाड़ी है। अन्नमार्ग वा अन्नमार्ग-सम्बन्धी ग्रन्थियों को जानेवाली नाड़ियाँ 'इडा नाड़ियाँ' कहलाती हैं। पिंगला-माला के समस्त नाड़ीजाल का सम्बन्ध सौषुम्ण तथा मस्तिष्क नाड़ी-सूत्रों से बड़ी घनिष्ठता से है।

नाड़ी-मण्डल का कार्य

उपर्युक्त समस्त नाड़ी-मण्डल विद्युत्-तार के दूरभाषवत् शरीर में कार्य करते हैं। देह में ज्ञान तथा क्रियारूपी जीवनी-शक्ति का संचार

और प्रसार ज्ञानवाहक सांवेदनिक तथा गति-वाहक सूत्रों के द्वारा सम्पन्न हो रहा है—चाहे ये ऐच्छिक क्रियाएँ हों या अनैच्छिक। देह के रक्षक हृदय तथा नियन्ता मस्तिष्क का कार्य भी नाड़ी-सूत्र ही कर रहे हैं। ये नाड़ी-सूत्र ही देह की गतिविधियों को मस्तिष्क तक पहुँचाते और मस्तिष्क से आज्ञा लेकर देह में प्रसारण कर देते हैं। इनमें से एक केन्द्रगामी-सूत्र हैं, जो विभिन्न देहाङ्गों से प्रारम्भ होकर तत्तत्स्थानों की गतिविधियों के समाचारों को लेकर सुषुम्णा-मार्ग से मस्तिष्क को जाते हैं। दूसरे केन्द्रत्यागी-सूत्र हैं, जो मस्तिष्क और सुषुम्णा से आरम्भ होकर मस्तिष्क तक की आज्ञा और ज्ञान को लेकर देहभर में फैला देते हैं। समस्त नाड़ी-तन्त्र इन्हीं दो प्रकार के तारों से बने हुए हैं, इनमें केन्द्रगामी तार सांवेदनिक और केन्द्रत्यागी सूत्र गति-उत्पादक होते हैं।

अन्नमयकोश के कार्य

अन्नमयकोश के साथ जीवात्मा का कर्मविपाक तीन स्वरूपों में प्रकटित होता है।

१. **जाग्रत् अवस्था**—स्थूलशरीर के परिणाम जाति, आयु और भोग तीन रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं। जाग्रत्-अवस्था में जीवात्मा रजोगुण के फलस्वरूप क्रियाशील रहता हुआ, सत्त्वगुण तथा तमोगुण को दबाकर भोगों में प्रवृत्त होता है। यह अन्नमयकोश समस्त स्थूल व्यापाररूप भोग, जो सुख-दुःखात्मक है, दशों इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न करता है। जन्म, जरा, व्याधि, मरण आदि विकार इसी में उत्पन्न होते हैं। यह एक जन्म तक ही जीवात्मा का साथ देता है। प्राणमय आदि अन्य चार कोश इसी के आश्रयभूत प्रतिष्ठित हैं। कर्मों के स्थूल फलों की परिसमाप्ति अन्नमयकोश के अधीन है। इस स्थूल-सघन आवरण से परिच्छिन्न यह 'पुरुष' तापत्रय के द्वारा सुखदुःखानुभूति करता हुआ, पापपुण्यशील, कर्ता, भोक्ता आदि स्वभाववाला प्रतीत होता है। अन्नमयकोश से युक्त जीवात्मा की संज्ञा वैश्वानर[1] है। स्थूलशरीर की तीन अवस्थाओं को वेद मन के माध्यम से अभिहित करता है।

२. **स्वप्नावस्था**—स्थूलदेह जब बाह्य क्रियाओं से श्रान्त हो जाता है तब जाग्रत् की सत्त्व, रजःप्रधान अवस्था शान्त होकर तमोगुण का

१. **वैश्वानरः प्रथमः पादः।**—मां० उ० श्लोक ३

प्राधान्य निद्रा के रूप में प्रकट होता है। क्रियाहीन अन्यमयकोश एक यन्त्र के समान निश्चेष्ट हो जाता है। निद्रावस्था में जब रजोगुण का थोड़ा समावेश हो जाता है तो स्वप्न आने प्रारम्भ हो जाते हैं। शेष रजोगुण भोजनपरिपाक, रक्तसञ्चार आदि सूक्ष्म आन्तरिक कार्यों को विधिवत् करता रहता है। स्वप्नावस्था में प्राप्त होनेवाले सुख या दुःख जाग्रतावस्था से भिन्न प्रकार के हैं।

३. **सुषुप्ति अवस्था**—इस अवस्था में कर्मविपाक तृतीय प्रकार का है। सुषुप्ति से उठने के पश्चात् 'सुखमहं स्वाप्सम्'—मैं सुखपूर्वक सोया, 'क्लान्तं मे चित्तम्'—मेरा चित्त ग्लानिमय है, इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था की सुख-दुःख की अनुभूति का अनुमान सबको होता है।

स्थूलशरीर की उक्त तीनों अवस्थाओं को जीवात्मा मन के सहयोग से यदि अपने वश में कर लेता है अर्थात् तीनों अवस्थाओं में उसके द्वारा कल्याणमयी भावना ही उत्पन्न होती है, कल्याणकारी वचन ही बोलता है तथा कर्मों में कल्याण ओतप्रोत हो तो निश्चय से जीवात्मा प्राणधारण करने का उद्देश्य प्राप्त कर लेता है, अतः स्थूलशरीर की साधना के द्वारा इसका पूर्ण नियन्त्रण एवं अन्नमयकोश की शुद्धि का उपाय विवेचनीय है।

स्थूलशरीर—अन्नमयकोश के नियन्त्रण की आवश्यकता

योगसाधना के साधक को सर्वप्रथम अपने अन्नमयकोश पर पूर्ण नियन्त्रण पाने की महती आवश्यकता है। प्राथमिक शारीरिक साधना के विना योग-प्रासाद खड़ा करना बालू की भीत बनाने के प्रयास जैसा है—स्थूलशरीर की स्वस्थता के लिए 'चरक' में मुख्य तीन आधार[1] बताये हैं—१. आहार, २. निद्रा, ३. ब्रह्मचर्य।

योगजिज्ञासु को 'हितभुक्, ऋतभुक्, मितभुक्' होना योग्य है अर्थात् निजप्रकृति-अनुसार हितकारी आहार लेना चाहिए, वह आहार ऋतु-अनुकूल स्वास्थ्यप्रद होना चाहिए, साथ ही भोजन सात्त्विक होते हुए भी परिमित होना चाहिए जैसाकि चरक ने स्पष्ट किया है कि 'बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय मनुष्य को योग्य है कि सदैव हितकारी भोज्य पदार्थों का परिमित मात्रा में यथाकाल सेवन करे। इसके विपरीत आचरण करने

---

१. **त्रय उपस्तम्भा इति—आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति॥—चरक**

से अनेक कष्टदायक रोग हो जाते हैं ।[1]

शरीर के परिश्रम के अनुसार विश्राम=निद्रा लेना भी परमावश्यक है। तमोगुण के बाहुल्य से निद्रा के वशीभूत होना, साधक को योग्य नहीं।

ब्रह्मचर्य का पालन प्रत्येक आश्रमवासी और साधनाभिलाषी के लिए नितान्त उपयोगी है। ब्रह्मचर्यपालन के बिना साधना से साध्य की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में शारीरिक स्वास्थ्य को प्राथमिकता प्रदान की है। रोगी व्यक्ति को संसार में दुःख-ही-दुःख दिखाई देता है। मन की प्रसन्नता के अभाव में वह मानसिक, आत्मिक साधना तो कर ही नहीं सकता। साधना में रोग अत्यन्त बाधक हैं, अतः योग के नव अन्तरायों में 'व्याधि' की गणना सर्वप्रथम ही की गई है।[2] इसलिए साधक सर्वप्रथम स्वास्थ्य=आरोग्यता के लिए प्रार्थना करता है—

"दिव्यगुणवाले परमात्मन्! हमारे अभीष्ट सुख की प्राप्ति के लिए तथा स्वास्थ्य के साधनों की रक्षा के लिए आप चारों दिशाओं से अपनी व्याप्ति के फलस्वरूप सब सुखों की वर्षा करो।"[3]

प्रकारान्तर से साधक कहता है कि—"योग से प्राप्त जगन्नेता की दिव्य शक्तियाँ हमें शान्ति दें ताकि हम अभीष्ट फल को प्राप्त कर सकें, हमारे स्वास्थ्य एवं जीवन की रक्षा के लिए अन्न-धन देकर समर्थ बनाएँ। ये दिव्य शक्तियाँ हमारे उपस्थित अज्ञात रोगों को शान्त करें तथा भविष्य में होनेवाले, इन रोगों के भय[4] को दूर करें एवं हमारे उपकार के लिए हमारी ओर सदा प्रवाहित होती रहें।"

वास्तव में स्थूलकाय या बलिष्ठ, परिश्रमी होना ही पूर्ण स्वस्थता

---

१. हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान्बहून् कष्टान्बुद्धिमान् विषमाशनात्॥—चरक

२. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शन-अलब्धभूमिकत्वान-वस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥—यो० १।३०

३. शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः॥ अथ० १।६।१; साम० ३३; ऋग्० १०।९।४; यजु० ३६।१२; तै० ब्रा० १।२।१।१; २।५।८।५

४. शंयोः=शमनं च रोगाणां, यावनं च भयानाम्॥—निरु० ४।३।२१

का परिचायक नहीं है। सुश्रुत के अनुसार[1] स्वस्थ वही है, जिसके शरीर में वात-पित्त-कफ तीनों दोष सम मात्रा में हों। जठराग्नि न मन्द न अधिक तीव्र अर्थात् सम हो। रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद, शुक्र, ये सब धातुएँ सम अवस्था में हों। शरीर से मल-मूत्र-स्वेदादि की व्यसर्जन-क्रिया भी सम अवस्था में, ठीक कार्य करती हो। आत्मा एवं आत्मा से संयुक्त मन, बुद्धि, इन्द्रियों में आन्तरिक प्रसन्नता की लहर उठती हो।

सुश्रुत द्वारा भाषित परिभाषा के आधार पर यह निष्कर्ष निष्पन्न होता है कि—चाहे अत्यधिक परिश्रमी श्रमिक हो या व्यायामशील मल्ल, कंकड़-पत्थर हज़म करनेवाला या घी-दुग्ध-मलाई आदि पौष्टिक भोजन की पुष्कल मात्रा पचाने का सामर्थ्य रखता हो; चोरों को बुलानेवाली खर्राटे की निद्रा आती हो, ऊपर से बिलकुल ठीक दिखाई देता हो; इतना होते हुए यदि उसे मानसिक चिन्ताएँ खाये जा रही हों, हर समय मस्तिष्क में चिन्ता-वितान का तनाव रहता हो; काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक आदि आन्तरिक शत्रुओं से संग्राम में हार जाता हो; मन-इन्द्रियाँ जिसके वश में न हों, आत्मा में निर्भयता और शान्ति न हो; अध्यात्मप्रसाद की उन्मत्त तरंगें उसे तरंगित न करती हों, ऐसे नरदेह-धारी को देखकर मत समझो कि वह स्वस्थ है; सुखी है। वह तो मानसिक रोगी है, सूक्ष्मशरीर के भयानक रोगों का शिकार है। स्थूल-शरीर के थोड़े शिथिल होते ही ये मानसिक रोग उसके स्थूल शरीर को भी रोगाक्रान्त बना देंगे। ऐसे व्यक्ति को तो महान् दुःखी समझो।

सुश्रुत-सम्मत स्वस्थता साङ्गयोगसाधना के विना संसार में अन्य किसी साधन द्वारा मिलनी सुलभ नहीं। वेदमाता योगाभिलाषी को परमात्मभक्ति का फल बताते हुए उसे आकृष्ट करती है कि—'पर-मात्म भक्तिरस से आप्लावित योगी की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँचों कर्मेन्द्रियाँ अपने दुर्गुणों को निकाल देती हैं। मन और मन की माता हृदय एवं उसके भाव शुद्ध हो जाते हैं, उनमें पवित्रता का संचार हो जाता है। साधक का जीवनदर्शन आदित्य से प्रकाशित प्रकाशस्थल के

---

१. **समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।**
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

—सुश्रुत सं० सूत्र-स्थान, अ० १५।४८

समान प्रकाशपुञ्ज बन जाता है।[1]

योगसाधना के अंगभूत प्राणविद्या की सतत साधना से, प्राण-अपान के नियमन द्वारा शरीर को बलिष्ठ करने के लिए, जीवन में अलौकिक मधुरता का संचार करने के लिए, वीर्यशक्ति को शरीर में खपाने (absorbed) के लिए, दृढ़ अङ्गोंवाले जीवनयात्रा के वाहन शरीररूपी रथ में योगसाधक मनरूप अश्व को संयुक्त करते हैं अर्थात् प्राणायामपूर्वक शारीरिक-मानसिक साधना से साध्य को सिद्ध करते हैं।[2]

गीता ने भी वैदिक सिद्धान्त की परिपुष्टि में संयमपूर्वक साधना को साधक के दुःखों की विनाशिका बताया है कि—'योगी साधना के क्षेत्र में जब युक्तियुक्त, परिमित आहार का सेवन करते हैं, योग में बाधा न पहुँचानेवाला शक्ति-सामर्थ्यानुसार शारीरिक परिश्रम करते हैं, श्रान्ति को दूर करने के लिए परिमित विश्राम एवं निद्रा लेते हैं, अपने आवश्यक कर्मों में यथाशक्ति निरत रहते हैं, तब आत्मज्ञान के लिए तत्पर योगी को योगसाधना अनेक कष्ट-क्लेशों से मुक्त कर देती है।[3]

योगानुष्ठान से योगी के सम्पूर्ण शरीर में नव-शक्ति का संचार हो जाता है; शरीर के प्रत्यङ्ग तथा आन्तरिक क्रियाओं पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है।

"योगी के पवित्र मन में उत्पन्न हुआ यह भक्तिरस जिस साधक में सिर से पैर तक प्रकट हो गया है, जैसे कि रथ का वाहक अश्व रथ में गति प्रदान करता है, तद्वत् इस योगसाधन ने कर्मबीजों की भूमि शरीर में निश्चितरूपेण एक आक्रमण किया है, जिससे इसमें गति का संचार हो गया है।"[4]

---

१. **एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम्।**
समादित्येभिरख्यत ॥—साम० १०८१; ऋग्० ९।६१।७

२. **युंजाथां रासभं रथे वीड्वङ्गे वृषण्वसु।**
मध्वः सोमस्य पीतये ॥—ऋग्० ८।८५।७; यजु० ११।१३

३. **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥—गीता० ६।१७

४. **असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुतः।**
कार्ष्मन् वाजी न्यक्रमीत् ॥—साम० ४९०; ऋग् ९।३६।१
'चम्वोः' शब्द का अर्थ है, द्युलोक और पृथिवीलोक, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि में द्युलोक सिर और पृथिवीलोक पैर हैं। यथा—**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत पद्भ्यां भूमिः।**—य० ३१।१३; पृ० १६२
साम० भा०, पं० विश्वनाथ विद्यालङ्कार [टिप्पणी]

स्पष्ट है कि जैसे विद्युद्धारा (Current) के प्रवाहित होते ही स्पन्दनहीन कलों में सहसा गति आ जाती है, इसी भाँति योगसाधना के प्राथमिक प्रभाव से नख से शिखा तक तथा सूक्ष्म हृत्तन्त्री एवं अवयवों में अपूर्व वेग आ जाता है जिसको साधनाशील साधक ही समझता है और अनुभव करता है, अन्य किसी का ऐसा सामर्थ्य नहीं।

योगी की साधना में प्रवृत्ति हो जाने पर शरीर में जो विशेष अनुभूतियाँ होती हैं उनकी श्वेताश्वतर ऋषि ने इस प्रकार गणना की है—

"सत्त्वगुण के प्राधान्य से साधक अपने शरीर में हल्कापन अनुभव करता है। शरीर में रोग नहीं आते, नियमित खानपान से सदा स्वस्थ रहता है। विषय-लोलुपता उसे नहीं सताती। शरीर का रंग निखर-कर सुन्दर हो जाता है। स्वर सुन्दर हो जाता है। शरीर से शुभगन्ध आने लगती है। मलमूत्र की मात्रा न्यून हो जाती है।"[1]

वैदिक संहिताओं में योगसाधना के लाभों की गणना इस प्रकार की है—

"जो साधक योगमय सुन्दर कर्मों से वात-पित्त-कफ इन तीन धातुओं से युक्त शरीर को निष्पाप, विकाररहित करता है, जिसने अध्यापक, उपदेशक या कर्मयोगी बनने लिए निज शरीर को संस्कृत किया है, दोषरहित निर्मल बनाया है, वह साधक सर्वरक्षक परमात्मा के स्वरूप में स्थिर होता है, जो परमात्मा पापों का हरण करनेवाला है और पवित्र है तथा साधकों को पवित्र करनेवाला है एवं प्रीति से सेवनीय है।"[2]

"जब सुगमता से दुहने योग्य, सुष्ठु फल प्रदान कर प्रपूरण करने वाली प्रगतिशील—स्फुरित होने या सूझ जानेवाली शारीरिक व आत्मिकबल की साधनभूत क्रियाएँ साधक के अन्तःकरण में आकर उपस्थित हो जाती हैं तब ऐश्वर्य-साधक जीवात्मा के उपभोग के लिए अचञ्चल, शान्त क्रियाओं द्वारा निष्पादित शारीरिक, आत्मिकबल को

---

२. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥—श्वेता० २।१३

१. शुचिः पुनानस्तन्वमरेपसमव्ये हरिर्न्यधाविष्ट सानवि।
जुष्टो मित्राय वरुणाय वायवे त्रिधातु मधु क्रियते सुकर्मभिः॥
—ऋग्० ९।७०।८

प्राप्त कराती हैं ।[१]

उक्त मन्त्रों में वर्णित विषय से स्पष्ट है कि जो साधक योगसाधना से इन्द्रिय-संयम द्वारा वा यज्ञादि शुभकर्मों द्वारा इस शरीर को संस्कृत करते हैं, योगोपयोगी बनाते हैं, वे मानो इस शरीर को मधुमय बनाते हैं जैसेकि **'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'**[२] वाक्य में कहा है कि व्रत-यज्ञमय योगानुष्ठान करने से पुरुष इस तनु को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण-शरीर बनाता है।

श्रुति भगवती योगसाधना में तत्पर योगाभिलाषी सज्जन के शरीर में होनेवाले लाभों को अत्यन्त सूक्ष्मता से वर्णन करती है, वही लाभ योगदर्शन में शारीरिक तप आदि के परिणामस्वरूप अनुभव किये गये हैं। शारीरिक तप का फल—**'कार्येन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः'**[३] सूत्र पर 'व्यासमुनि' ने कहा है कि—"तप के पालन से अशुद्धि का जो मलरूप आवरण है, उसका नाश होता है, उस मल-आवरण के विनष्ट होने से शरीर की सिद्धि=अणिमादि की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार इन्द्रियों की सिद्धि दूर से सुनना और देखना आदि होती हैं।"[४] योग-दर्शन के विभूतिपाद में भी पंचभूतों पर जय प्राप्त होने पर 'अणिमादि' सिद्धियों की प्राप्ति एवं शरीर-सम्पत्ति और उन भूतों के धर्मों से योगी का 'बाध न होना' सिद्ध होता है।'[५] अर्थात् पाँचों भूत योगी के अनुकूल हो जाते हैं। अणिमादि सिद्धियों के साथ प्रयुक्त कायसम्पत् को योग-सूत्रकार—पतञ्जलि स्वयमेव स्पष्ट करते हैं कि—भूतजयी योगी का शरीर मनोहर, दर्शनीय, तेजस्वी एवं रूपवान् हो जाता है। शरीर में अतिशय बल आ जाता है। शरीर वज्र के समान कठोर तथा अच्छेद्य हो जाता है।[६]

---

१. **आ यत्पतन्त्येन्यः सुदुघा अनपस्फुरः ।**
अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे ॥
—ऋग्० ८।६९।१०; अथ० २०।९२।७

२. मनु० २।२८

३. यो० २।४३

४. **निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं तदावरणमलापगमात्काय-सिद्धिरणिमाद्या तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥**—व्या० भा० २।४३

५. **ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥**—यो० ३।४५

६. **रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥**—यो० ३।४६

शरीर में अनासक्ति

शारीरिक वृद्धि के साथ वेद, साधक को सावधान करता है कि इस शरीर-पोषण रक्षण में ही आसक्त नहीं होना चाहिए क्योंकि यह तो पतनशील, अनित्य एवं विनष्ट होनेवाला है ।[1]

श्रुतिप्रतिपादित शारीरिक साधना के साधन

यह निरूपण किया जा चुका है कि योगसाधना के द्वारा जो साधक आत्मसाक्षात्कार तथा तदनुवर्ती परमात्म-साक्षात्कार करना चाहता है, उसे जीवात्मा की स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। जीवात्मा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीररूपी तीन दुर्गों से घिरा हुआ है। शरीरत्रयी के खण्डरूप पञ्चकोशों का आवरण भी जीवात्मा को आवृत किये हुए है। वहाँ तक पहुँचने के लिए प्रथम आवरण अन्नमयकोश में प्रविष्ट होकर साधक उसके रहस्यों को जबतक नहीं जान लेता, तबतक आगामी कोशों को पार करके लक्ष्य पर पहुँचना असम्भव है, अतः अन्नमयकोश के साधनोपाय का अन्वेषण अपरिहार्य है।

अन्नमयकोश में विद्यमान हृदयदेशावच्छिन्न चेतनतत्त्वों में से जीवात्मा तो अणु है और परमात्मा उससे भी सूक्ष्म सर्वत्र ओतप्रोत है। ये दोनों ही पाँच कोशों से युक्त बड़े स्थूलशरीर में सन्निहित हैं। पंचमहाभूतों से निर्मित कठिनतम देहदुर्ग में प्रविष्ट होने के लिए यद्यपि नवद्वार [छिद्र] स्पष्टरूपेण दिखलायी देते हैं तथापि कुछ अन्दर जाकर अवरुद्ध हो जाते हैं, इस कारण अन्दर प्रवेश पाने के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं मिलता। साथ ही इस दुर्ग में प्रविष्ट होकर इसके परिज्ञान बिना साधना का अग्रिम मार्ग उद्घटित नहीं होता। दुर्ग में प्रवेश पाने योग्य ऊपर विद्यमान ब्रह्मरन्ध्र=सिंहद्वार भी स्पष्टरूपेण दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी दृष्टि से साधक का साधना-पथ अन्नमय-कोश से ही प्रारम्भ होता है। यही मुख्य आवरण जीवात्मा के बन्धन का प्रमुख हेतु बना हुआ है। जबतक इस कोश का बाह्य तथा आन्तरिक रूप से साक्षात्कार नहीं हो जाता तबतक इसके व्यामोह से वैराग्य होना असम्भव है।

वेदों में मानव के विकास की शैलियाँ बहुशः प्रतिपादित हैं। वेद की शैली बड़ी विचित्र, गम्भीर एवं सर्वग्राह्य है। वेद मानव के एकाङ्गी

१. तव शरीरं पतयिष्णु।—यजु० २६।२२

विकास का पक्षपाती नहीं, अपितु आन्तरिक, मानसिक भावनाओं से लेकर शारीरिक विकास करने के लिए स्पष्ट उद्‌घोष करता है। मानव शरीर में सद्‌वृत्तियों और पापवृत्तियों का पारस्परिक संघर्ष चलता है। इस संघर्ष को वेद ने देवासुर-संग्राम[1] की संज्ञा दी है। देवासुर-संग्राम में यदि असुरों की जीत हो गयी तो देहदुर्ग पर असुरों का साम्राज्य हो जाता है। वे अपने आसुरी स्वभाव से देवनगरी को विविध-प्रकारेण विनष्ट करते हैं। यदि सत्प्रयत्न से देवों ने विजय का वरण किया तो देवनगरी बस जाती है, सभी नगरवासी सुखी हो जाते हैं। इसलिए साधक येन-केन-प्रकारेण असुरों का पराजय कर दें चाहे किसी का सहयोग लेना पड़े। साधक पापवृत्तियों से युद्ध करने के लिए अपनी सेनाओं को असमर्थ एवं अनियन्त्रित जानता हुआ योग्य सेनाध्यक्ष परमात्मा को अपना नियन्ता बनाने के लिए प्रार्थना करता है—

"हे अपराजित प्रभो! आप अपनी अतुल शक्तियों से पापों के पर्वतसमान सुदृढ़ गढ़ों को उपासकों के समक्ष भग्न करनेवाले हो, पापियों पर दया न करनेवाले, न्यायकारी, वीरतासम्पन्न हो। इकट्ठे हुए सैंकड़ों पापों पर मननपूर्वक क्रोध करनेवाले आपके दृढ़व्रत हैं। पापशत्रु आपके सम्मुख युद्धक्षेत्र में ठहर नहीं सकते। हे राजाधिराज परमेश्वर! देवासुर-संग्राम में हम उपासकों की देवसेनाओं की सर्वथा रक्षा करें।"[2]

उक्त मन्त्र में प्रयुक्त 'अस्माकं सेना' शब्द पर टिप्पणी लिखते हुए व्याख्याकारों ने यम, नियम, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, सत्य, श्रद्धा तथा उत्साह आदि को सेना माना है।

आगामी ऋचा में साधक अपनी सेनाओं की शक्तियों का परिचय तथा सेना को सुदृढ़ बनाने के लिए दिये प्रशिक्षण तथा तैयारी को बताता हुआ, पुनः परमात्मा के सेनापतित्व की प्रार्थना करता है—

"भगवन्! अग्नि, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि जड़ देवों के यथा-

---

१. **ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो। समन्येषु ब्रवावहै॥**

—साम० १६०१

इस मन्त्र में **वाजे** पद देवासुर-संग्राम के अर्थ में प्रयुक्त है।

२. **अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।**
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु॥—साम० १८५५

योग्य उपयोग करने से, उनकी शक्ति मुझे प्राप्त हो चुकी है। आचार्य एवं विद्वान्पुरुषों की संगति करने से उनका भी शुभाशीर्वाद मिल रहा है, प्राप्त हुए ज्ञान तथा धन का यथासमय सुपात्र में दान भी करता हूँ। मैं अपने संग्रहीत पदार्थों को सर्वात्मना समर्पित कर चुका हूँ। इससे अधिक मेरे पास शेष भी क्या रह जाता है! मैं सर्वात्मना आत्मसमर्पण आपको कर चुका हूँ। अब तो आपका भक्तिरस पान करना मेरा एकमात्र लक्ष्य है। प्राणायामादि साधनों को आगे करके मेरी दैवीशक्तियाँ अब अपने प्रचण्ड पौरुष को दिखाती हुई पाप-सेनाओं के कुटिल व्यूहों को तोड़ती हुई, आगे बढ़ रही हैं, इतना होते हुए भी मुझे अपनी सेना पर पूर्ण विश्वास नहीं, क्योंकि सामने पापियों की संख्या बहुत है, इसलिए सेनापतिरूप में आपकी सहायता चाहता हूँ। प्रभो! आप स्वभाव से परमैश्वर्य सम्पन्न हैं। देव-सेनाओं के आप अग्रणी नेता हैं। आपकी दिव्यवाणी (ललकार) में वह अनन्त ओज है जिस उच्चतम उद्घोष के सामने पापियों की सेनाएँ ठहर नहीं सकतीं, साथ ही देव-सेनाएँ आपका सहारा पाकर, धैर्यपूर्वक आगे बढ़ सकती हैं।"[1]

इस मन्त्र के माध्यम से सामवेद साधकों को अन्नमयकोश की अभिवृद्धि के लिए जिन साधनों का संकेत करता है, वे हैं—

(१) प्राणायाम, (२) श्रद्धाभक्ति, (३) यज्ञीय भावनाएँ, (४) सद्गुरु-सेवा, (५) आत्मसमर्पण, (६) परमेश्वरीय कृपा आदि।

अन्नमयकोश की परिशुद्धि तथा विज्ञान के लिए वेदों में जो साधन उपलब्ध हैं, उनमें से कुछ प्रमुख साधनों का वर्णन हम योगदर्शन के सूत्रों में पाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाङ्गयोग पद्धति को सर्वसाधारण के लिए परमोपयोगी बताया है। योगाङ्गों में क्रमप्राप्त यम-नियम का परिपालन योगजिज्ञासु के लिए आवश्यक सिद्ध किया गया है। 'योगाङ्गों' का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण के मलों का नाश हो जाने पर ज्ञान एवं आत्मसाक्षात्कार का प्रकाश विवेकख्याति-पर्यन्त होता रहता है। अविद्या आदि मलों का विनाश हो जाता है। जैसे-जैसे योग के अङ्गों पर योगी का आचरण बढ़ता जाता है वैसे-वैसे चित्त के दोष

---

१. इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥—साम० १८५६
—भाष्यकार पं० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड

क्षीण होते रहते हैं। इस प्रकार अनुष्ठान के उच्चस्तर की ओर बढ़ते जाने से उसी अनुपात से दोष धीरे-धीरे न्यून होते रहते हैं। दोषक्षय के अनुसार आत्मज्ञान की चमक भी उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित और स्पष्ट होती जाती है। अन्त में यह ज्ञानदीप्ति विवेकख्यातिरूप, ज्ञान-प्रकर्ष को प्राप्त करा देती है।[1]

योगाङ्गों में से प्रथम चार अङ्गों को अन्नमयकोश की शुद्धि, परि-वृद्धि तथा अन्तःप्रवेश कर विज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध किया गया है।

यम-नियमों का पालन मनसा-वाचा-कर्मणा तीनों प्रकार से करना ही श्रेयष्कर है। अन्नमयकोश-विषयक साधना के लिए उक्त चार योगाङ्गों की उपयोगिता पर विचार करते हैं।

मन-वचन-कर्म से अहिंसा का पालन करनेवाला साधक जो प्रार्थना-उपासना करता है उसके फलस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। वेद में कहा है—"वज्रधारिन् परमेश्वर! प्राणिमात्र को हानि न पहुँचाने-वाली [हिंसा न करनेवाली] प्रार्थनाएँ एवं तदनुकूल क्रियाएँ सत्य सिद्ध हों, पूर्ण हों, जिनके परिणामस्वरूप गौओं के समान हम अपने भोज्य[2] पदार्थों को जानें, प्राप्त करें,"[3] अर्थात् इष्ट-कृत्यों को जानकर आचरण कर सकें। ऋचा में वर्णित विषय से स्पष्ट है कि जिस साधक की मानसिक भावनाएँ हिंसायुक्त होती हैं; जो वाणी से दूसरों को कटु-वचन बोलकर दुःखित करता है, साथ ही शरीर से भी हिंसा करने को तत्पर रहता है, वह साधना-पथ का पथिक नहीं बन सकता, क्योंकि इन दुर्गुणों का मूल गम्भीर होता है। ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आन्तरिक शत्रु हिंसारूप में बाह्य प्रदर्शन करते हैं। जो शरीर तथा इन्द्रिय-समुदाय को संयम में रखकर अहिंसामय बनाता है वही सच्चा साधक है। साधक स्वयं स्वीकार करता है—

"उत्तम विधि से भक्तिरस की आहुति को प्राप्त हुए, हे प्रकाश-स्वरूप प्रभो! जो उपासक आध्यात्मिक शक्तियों को प्राप्त कर लेते हैं, जो अपनी इन्द्रियों की हिंसक अग्नियों को संयम में रखते हैं, वे प्रेरणाएँ

---

१. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥—यो० २।२८

२. अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याहिंसन्तीरुपस्पृशः।
विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः ॥—ऋ० १०।२२।१३

३. गावो गन्धेन पश्यन्ति ॥ —पंचतन्त्रम्

देनेवाले विद्वान्, आपके प्यारे हो जाते हैं और प्रजाजनों के नियन्ता हो जाते हैं।"[1] "ऐसे जितेन्द्रिय पुरुष शासन में अधिकारी होकर प्रजा को सब प्रकार नियन्त्रण में रख सकते हैं।"[2]

साधक अहिंसा का त्रिविध पालन कर स्वयं निर्भय, शान्त रहता है एवं अहिंसा का पालन उत्कृष्टता से कर लेता है तो उसके सम्पर्क में आनेवाले जीव-जन्तु भी हिंसावृत्ति को त्याग देते हैं।

काम-क्रोधादि रूप जो हिंसा के मूल हैं इनका भी अन्नमयकोश पर प्रभाव पड़ता है। काम-क्रोधादि अहिंसा-वृत्तियों का भयादि तथा लोकलज्जा के कारण श्वसन-प्रणाली पर प्रभाव पड़ता है। उसके फलस्वरूप पाचन-संस्थान भी प्रभावित होता है। पाचनक्रिया के विकृत हो जाने से सम्पूर्ण शरीर पर दुष्प्रभाव पड़ता है, यही कारण है कामी, क्रोधी, लोभी, हिंसक व्यक्तियों का शरीर अच्छा नहीं रहता। ये प्रायः कृश पाये जाते हैं। इस प्रकार हिंसावृत्ति को हटाना ही अन्नमयकोश की शुद्धि का प्रथम कारण है।

व्यासभाष्य में अहिंसा के ही पूरक अवशिष्ट नव यम-नियमों को माना है अर्थात् यदि साधक सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह यमों तथा शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान नियमों का परिपालन विधिवत् करता है तो समझो कि परोक्ष रूप से वह अहिंसाव्रत का ही पालन कर रहा होता है। सत्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह तो मानसिक-रूपेण सेवनीय होते हैं, परन्तु 'ब्रह्मचर्य' का सम्बन्ध विशेषरूप से अन्नमयकोश से है।

ब्रह्मचर्य-सेवन से अन्नमयकोश पर प्रभाव

ब्रह्म पद वैदिक साहित्य में परमात्मा, वेद, वीर्यादि अर्थों में प्रयुक्त होता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ परमात्मा की उपासना करते हुए वेद का स्वाध्याय तथा वीर्यादि की यत्न से रक्षा करना। यहाँ हम योग के व्यासभाष्यानुसार "गुप्तेन्द्रिय—उपस्थ के संयम—निरोध को ही ब्रह्मचर्य"[3] अर्थ में लेते हैं। मानव-शरीर की संरचना के आधार पर

---

१. त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम्॥—साम० ३८

२. जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥—मनु० ७।४४

३. ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः॥—व्या० भा० २।३०

रस-रक्तादि से लेकर सातवाँ धातु वीर्य है, जो कि देह को अत्यन्त शक्तिदायक, कान्तिमय तथा बलिष्ठ बनानेवाला है। शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक सर्वविध शक्तियों का मूलाधार ब्रह्मचर्य है। आध्यात्मिक साधना में ब्रह्मचर्य का सेवन परमावश्यक है, यही वीर्य की वास्तविक उपयोगिता है। सन्तानोत्पत्ति तो इसका गौण प्रयोजन है। वीर्यरक्षा से अन्नमयकोश का प्रत्येक अवयव पुष्ट, सक्रिय एवं तेजस्वी बनता है जो कि अन्य कोशों की सिद्धि में परमोपयोगी है।

वीर्यरक्षण की महत्ता को समझकर साधक अनन्तवीर्यवान् प्रभु से वीर्यरक्षा की प्रार्थना करता है—

"हे अनन्त तेजस्विन्-परमात्मन्! मुझे भी तेज प्रदान करो, हे अनन्तवीर्यवान् भगवन्! मुझे भी वीर्यशक्ति प्रदान करो। आप अनन्त बलशाली हैं। मुझे भी बल धारण करने की शक्ति प्रदान करो। आप अनन्त ओजस्वी हैं, मुझे भी ओजशक्ति प्रदान करो।"[1]

सामवेद के अनुसार साधना में प्रवृत्त साधकों द्वारा आध्यात्मिक सम्पत्तियों की प्राप्ति के लिए उत्तम वीर्यशक्ति की याचना की गई है।[2]

जगत्पिता परमात्मा का प्रजा मनुष्यादि सब जीव पृथक्-पृथक् अपने आत्मा में प्राणों को धारण व पोषण करते हैं, उन सब जीवों के शरीरों में प्राणों की रक्षा का कारण ब्रह्मचारी में धारण किया हुआ मुख्य ब्रह्मचर्यव्रत ही है।"[3]

इन मन्त्रों में आगत विषयानुसार अन्नमयकोश की वृद्धि-पुष्टि एवं परिमार्जन के लिए ब्रह्मचर्यव्रत की उपयोगिता स्पष्ट है। ब्राह्मण-ग्रन्थ, शरीर-विज्ञान एवं आयुर्वेद आदि परवर्ती साहित्य में शरीर को नीरोग, स्वस्थ रखने एवं कान्ति आदि की प्राप्ति का प्रमुख साधन ब्रह्मचर्य-धारण को बताया है।

"ब्रह्मचर्यव्रत के धारण करने से किसी प्रकार का दुःख प्राप्त नहीं होता।"[4] इसी प्रकार से पुण्य आयु, शारीरिक आरोग्यतादि का कारण

---

१. तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि···॥—यजु० १९।९

२. विदा राये सुवीर्यं भुवो वाजानां पतिर्वशाँ अनु।
मँहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः शूराणाम्॥—साम० ६४४

३. पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्॥—अथ० ११।५।२२

४. ब्रह्मचारी न काञ्चनार्तिमार्च्छति॥—शत०कां० ११, अ०५, ब्रा० ४,कं० ३

भी ब्रह्मचर्य ही है, जैसे—भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि महर्षियों से इन्द्र ने कहा कि हे तपोधन ऋषियो ! "सब मनुष्यों के लिए मुख्य पुण्यतम अर्थात् सब पुण्यों में उत्तम पुण्य ब्रह्मचर्य है और पूर्ण आयु का करनेवाला है। शीघ्र वृद्धावस्था को न आने देनेवाला, रोगों का नाश करनेवाला, तेज का बढ़ानेवाला, मृत्यु से बचानेवाला, कल्याण का करनेवाला, शरीरादि की रक्षा करनेवाला और मन को सर्वदा आनन्दित रखनेवाला जो ब्रह्मचर्य है, उसको तुम सुनो और धारण करो। इस सनातन ब्रह्मचर्य का प्रजा के सुख के लिए संसार में प्रचार करो।"[1] साधक इसकी आवश्यकता एवं महत्ता को समझे, जैसे किसी भवन के मुख्य आधार उसके खम्भे होते हैं तदवत् आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य शरीररूपी प्रासाद के तीन स्तम्भ हैं।[2] ब्रह्मचर्यव्रत के पालन का फल योगदर्शन में बताया है कि "सब शक्तियों, उन्नतियों के मूलाधार वीर्यशक्ति की प्राप्ति ब्रह्मचर्यव्रत के सभी नियमों के पालन से प्राप्त होती है।"[3]

अन्नमयकोश पर ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन का प्रभाव प्रदर्शित कर 'शौच' से होनेवाले लाभों पर विचार करते हैं।

अन्नमयकोश की शुद्धि का साधन—शौच[4]

अन्नमयकोश की शुद्धि अन्य कोशों की शुद्धि में सहायक है, वैसे तो पञ्चकोश की बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि ही आत्मदर्शन का सुगम सोपान है, जिनकी शुद्धि का प्रकार-वर्णन तत्तत्प्रकरण में होगा, यहाँ शरीरशुद्धि पर विचार करना है—जल से शरीर की क्लान्ति दूर होकर उसकी शुद्धि होती है एवं दाहरूप रोग की निवृत्ति होती है। वेद में जलों को

---

१. **पुण्यतममायुः प्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनं ऊर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदात्तं मत्तः श्रोतुमर्हताथोपधारयितुं प्रकाशयितुञ्च प्रजानुग्रहार्थमार्षं ब्रह्मचर्य्यम् ॥**
—चर० चि० अ० १; रसायनपाद—४

२. **आहारशयनब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः। शरीरं धार्य्यते नित्यमागारमिव धारणैः ॥**—अष्टांगहृ० सू० स्था० अ० ७।५१

३. **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥**—यो० २।३८

४. शौच=पवित्रता; योगसाधना में पवित्रता का प्रथम स्थान है। पवित्रता—शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक होनी योग्य है। मनु के अनुसार—जल से शरीर की, सत्यभाषण से मन की, विद्या एवं तप से आत्मा की और ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है।

कल्याणकारी, शान्तिदायक, सुख पहुँचानेवाला, बल-पराक्रम को बढ़ाकर आलस्य दूर करनेवाला तथा माता के समान कल्याणकामना करनेवाला एवं शुद्धिकारक कहा गया है।[1]

यजुर्वेद में वाणी, नेत्र, श्रोत्र, नाभि, उपस्थ, पायु आदि शरीरावयवों की शुद्धि की आवश्यकता विद्या=योगाभ्यास के लिए बतायी गई है।[2] इसी प्रकार अन्यत्र भी अन्नमयकोश में आगत शरीराङ्गों की शुद्धि की कामना की गई है।

अन्नमयकोश में वाणी, कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय दोनों के कार्यों को सिद्ध करती है, अतः वेद में वाणी को इन्द्रियगण का उपलक्षण मानकर उसकी पवित्रता योगसाधना में प्रगति एवं परमात्मसाक्षात्कर के साधन के रूप में वर्णित की गई है।[3] इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर की बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि का लाभ योगमय शरीर बनाने में नितान्त हितकर है। इसीलिए वेद में मानव-शरीर को योगयज्ञ का साधन माना है।[4]

'जो खाया जाए, उसे अन्न कहते हैं।'[5] अन्न के खाने से निर्मित शरीरावयव अन्नमय कहाते हैं। अन्न की शुद्धि से शरीरावयवों की शुद्धि पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। जो जैसा अन्नोपभोग करता है तद्वत् वृत्तियों का निर्माण हो स्थूल शरीर भी उनसे प्रभावित होता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि "जो भोज्यपदार्थों के सौम्यरस से [सात्त्विक रस से] इन्द्रियों को सौम्य=सात्त्विक बनाता है, उसका शरीर—मन और आत्मा उन्हीं गुणों से प्रभावित होता है।"[6]

---

१. **आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता नऽऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥**
—यजु० ३६।१४; यजु० ४।२; ११।५०; ऋग्० १०।९।१; साम० १८३७; अथ० १।५।१; तै० सं० ४।१।५।१; ५।६।१।४; ७।४।१९।४; तै० आ० ४।४२४; १०।१।११

२. **वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि, नाभिं ते शुन्धामि, मेढ्ं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि॥**
—यजु० ६।१४

३. **तं वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः। स पावक श्रुधी हवम्॥**
—साम० २९

४. **इयं ते यज्ञिया तनूः**—यजु० ४।१३

५. **अन्नं कस्मादानतं भूतेभ्योऽत्तेर्वा**—नि० ३।९

६. **यो विश्वान्यभि व्रता सोमस्य मदे अन्धसः। इन्द्रो देवेषु चेतति॥**
—ऋग्० ८।३२।२८

उपभोक्ता उपभोग से पूर्व खाद्य-अखाद्य का चिन्तन पहले ही कर ले। खाद्य सामग्री के प्रस्तुत हो जाने पर साधक 'अन्न की निन्दा न करे, यह उसका व्रत होना चाहिए। इस व्रत को कभी भंग न होने दे, क्योंकि अन्न ही प्राण है अर्थात् अन्न प्राण का निमित्त है, अन्नसेवन पर ही प्राण आधारित हैं। शरीर अन्न को खानेवाला है। प्राण के आधार पर ही शरीर प्रतिष्ठित है, और वह प्राण शरीर में रहता है।'[1]

साधक को बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि का नित्यप्रति ध्यान=अभ्यास रखना उपादेय है। इस प्रकार की शुद्धि का परिणाम योगदर्शन में प्रदर्शित किया गया है कि "बाह्यशौच की सिद्धि होने पर योगी को अपने अंग-प्रत्यंग से घृणा, ग्लानि हो जाती है। वह शरीर के निन्दनीय-दोषों को देखता हुआ, शरीर-राग से रहित यति हो जाता है। वह दूसरे शरीरों से संसर्ग नहीं रखता, क्योंकि योग-जिज्ञासु जब अपने शरीर की शुद्धि के लिए निरन्तर यत्नवान् होता हुआ भी पूर्ण शुद्धि नहीं कर पाता तब शरीर को अपवित्र समझ, अन्यों के मलिन शरीरों से संसर्ग कैसे कर सकता है[2]?" अन्नमयकोश की शुद्धि के एकमात्र साधन शौच का यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया है, तदनन्तर तप का विचार अपेक्षित है।

अन्नमयकोश को सशक्त बनाने का साधन—तप

साधना के क्षेत्र में जहाँ शरीर की स्वस्थता=नीरोगिता की आवश्यकता है वहाँ तपस्वी होना भी परमावश्यक है। वेद तप की आवश्यकता को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि—"जिस योगाभिलाषी ने अपने शरीर से तप नहीं किया, वह पुरुष कच्चा है, वह परमात्मा के आनन्द का उपभोग नहीं कर सकता। पका हुआ, तपस्वी योग-साधनों का निरन्तर अनुष्ठान करनेवाला ही, परम तेजोमय परमात्मा के आनन्द को भोग सकता है।[3] तप से ब्रह्मचारी का अन्नमयकोश सुदृढ़ हो जाता है, तप से शरीर में सब प्रकार की कठिनाइयों को सहन करने की शक्ति आ जाती है।[4]

---

१. **अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्।**—तै० अनु० ७
२. **शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥**—यो० २।४०
स्वाङ्गे जुगुप्सायां...।—व्या० भा० २।४० (द्रष्टव्य)
३. **अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समासत॥**—ऋग्० ९।८३।१
४. **ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति॥**
—अथ० ११।५।४

तप के फल को वेद-वाणी ने इस प्रकार वर्णित किया है—"जो तपश्चरण से युक्त हैं अर्थात् जाड़े-गर्मी-वर्षा से जिनके शरीर में विकार नहीं आता, भूख-प्यास आदि सब आपत्तियों को जिन्होंने जीत लिया है, जो मानसिक तप से हानि-लाभ, मान-अपमान को जीत चुके हैं, जो जन्मजन्मान्तर में तपस्यामय जीवन जीते हैं वे महान् जगदीश्वर को प्राप्त होते हैं।"[1]

तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली के प्रारम्भिक पाँच अनुवाकों में—वरुण ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म को जानने के साधन=प्रकार बताये हैं। इस प्रकरण में कहा है कि "तप ही ब्रह्म है, तप के द्वारा ही ब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा करनी चाहिए। इसी हेतु भृगु ने अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय तथा आनन्दमय ब्रह्म को क्रमशः तप तपकर ही जाना।"[2]

उक्त वैदिक सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि तप अन्नमयकोश की शुद्धि तथा विभिन्न शक्तियों की प्राप्ति में सहायक है। वेदगत तपस्यामय जीवन के परिणाम की महर्षि पतञ्जलि ने पुष्टि की है कि "तप का अनुष्ठान आवरणरूप अशुद्धिमल को नष्ट करता है। मल-आवरण के दूर हो जाने से शरीर एवं इन्द्रियों की अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं[3]।"

अहिंसाव्रत का पालन साधक के लिए योगानुष्ठान के योग्य उपयोगी शान्त वातावरण तैयार करता है तथा शरीर को सुरक्षित रखता हैं। ब्रह्मचर्यव्रत का पालन शरीर को बलवान् बनाता है, तप योगसाधना के लिए शरीर की ही साधना है। इसीप्रकार शुद्धि भी नितान्त आवश्यक है। यहाँ इनका संक्षिप्त परिशीलन प्रकरणवश किया गया, विशेष विवेचन योगाङ्गों के प्रकरण में किया गया है।

---

१. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥—ऋग्० १०।१५४।२
—अथ० १८।२।१६; तै० आ० ६।३।२

२. तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्...आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्॥
—तै० उप० भृ० व० अनु० १।६

३. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः॥—यो० २।४३
निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं तदावरणमलापगमात् कायसिद्धिरणिमाद्या तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति॥—व्या० भा० २।४३

अन्नमयकोश की आन्तरिक साधना

गत प्रकरण में श्रुतिसम्मत साधनों द्वारा अन्नमयकोश के संशोधन, उसे सुदृढ़, सुरक्षित एवं साधना के सुयोग्य बनाने के सफल साधनों का परिशीलन किया, अब अन्नमयकोश में अन्तःप्रवेश पाकर साधक कहाँ, किस विधि से साधना करे ? इन तत्त्वों का उद्घाटन इस सन्दर्भ में किया गया है ।

आसन

यम-नियम का पालन तो साधक चलते-फिरते सभी स्थितियों में कर सकता है, परन्तु प्राणायाम से लेकर समाधिपर्यन्त योगाङ्गों के अनुष्ठान के लिए स्थिरता से सुखपूर्वक किसी आसन से बैठने का अभ्यास करे ।

वेदों में सिद्धासन-पद्मासन-सुखासन आदि ध्यान के प्रचलित आसनों का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु मन्त्र में प्रयुक्त 'तूष्णीमासीनः'[1] का अर्थ महर्षि दयानन्द ने 'मौन का आलम्बन कर बैठे हुए योग का अभ्यास करते हुए' किया है । इस शब्द से योगाभ्यास के लिए तत्पर योगाभ्यासी की आसन-स्थिति का स्पष्ट परिज्ञान होता है कि—निष्पन्द मौन धारण कर सीधा बैठना ही ध्यानासन का प्रकार वेद को अभीष्ट है । महर्षि पतञ्जलि ने भी वेद के अनुसार आसन की परिभाषा—"स्थिरतापूर्वक निश्चल हो सुखपूर्वक बैठना ही आसन है ।"[2] गोरक्षशतक में आसन की स्थिरता का फल रजोगुण का नाश होना माना है ।[3]

आसन प्रकरण में व्यासभाष्य में पद्मासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, सोपाश्रयासन (सहारे के साथ आसन), पर्यङ्कासन (पलंग का आसन), क्रौंचासन=क्रौंच पक्षी के समान आसन, हस्तिनिषदनं=हाथी जैसे बैठने का आसन, उष्ट्रासन=ऊँट की तरह बैठने का आसन, समसंस्थान, आदि की जो गणना की गई है,[4] वेदमन्त्रों, उपनिषदों तथा आध्यात्मिक

१. आवदंस्त्वं शकुने भद्रमावद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः ॥
—ऋग्० २।४३।३ (द्रष्टव्य पदार्थः)

२. स्थिरसुखमासनम् ॥—यो० २।४६

३. आसनेन रजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वथा ॥—गोरक्षशतक

४. द्रष्टव्य व्या० भा०, यो० २।४६

साहित्य में इनकी चर्चा नहीं मिलती। इससे पता चलता है कि योग-सूत्रों के भाष्यकार व्यास के समय में उक्त साधनों का प्रचलन योगियों में हो गया था। अपनी सुविधा, शक्ति, तथा सामर्थ्य के अनुसार साधक इन आसनों में से किसी-न-किसी आसन में सुखपूर्वक बैठने की क्षमता रखते होंगे।

परवर्ती काल में शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए पुराणों, तन्त्र-ग्रन्थों तथा हठयोग-प्रदीपिकाकार ने विविध आसनों का आविष्कार किया। हठयोग-प्रदीपिकाकार ने अपना उद्देश्य प्रथम श्लोक में स्पष्ट किया है—'राजयोग की सिद्धि हेतु शरीर को उपयोगी बनाने के लिए ही हठविद्या का उपदेश किया गया है।'[1] आसन-व्यायाम का उद्देश्य भी वास्तव में यही है। लेकिन आसन-मुद्राओं से समाधि या मुक्तिपद की प्राप्ति मानना, नितान्त अज्ञानता है तथा योगतत्त्व को विस्मृत करना है।

इन आसनों का वेद में उल्लेख न होना, यह सिद्ध करता है कि वैदिककाल में आहार-व्यवहार, संयम-ब्रह्मचर्य तथा जलवायु का इतना उत्कृष्ट वातावरण था कि योगाभ्यासी इनके विना ही स्वस्थता-स्थिरता एवं प्रसन्नता धारण करते थे।

उक्त प्रकरणों से विदित होता है कि योगाभ्यासी को सर्वप्रथम आसन में स्थिरता प्राप्त करनी आवश्यक है। विना स्थिरता के अग्रिम अंग-प्राणायाम का अभ्यास भी घातक है। इसीलिए सूत्रकार पतञ्जलि ने प्राणायाम की परिभाषा में 'तस्मिन् सति'[2] अर्थात् 'आसन के सिद्ध हो जाने पर' शब्दों का प्रयोग किया है। वेदों में प्रयुक्त आसनवाची 'बर्हि' शब्द इस बात का प्रतीक है कि ग्रीष्म एवं शीत से रक्षा के लिए 'कुशासन' ही प्रयोग किया जाना चाहिए। वैदिक साहित्य में, विशेष-कर सूत्रग्रन्थों में यज्ञादि पवित्र कर्मों में [बर्हि] कुशासन का ही विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त ऊर्णासन[3] [कम्बल आदि ऊन

---

१. **केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।** हठ० प्र० १।२ जिसपर ज्योत्स्ना की टिप्पणी है—**राजविद्या एव मुख्यं फलं न सिद्धयः।** राजयोग द्वारा **कैवल्यं फलम्॥**

२. **तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥**—यो० २।४६

३. **ऊर्णम्रदसम्—ऊर्णानि सुखाऽऽच्छादनानि म्रदयति येन तं यज्ञं—स्वासस्थम् =शोभने आसे=उपवेशने तिष्ठतीति तम्॥**

—य० भा० २।५ (स्वा० दयानन्द)

के सुख देनेवाले कोमल आसनों] का प्रयोग वेद में मिलता है। मृगचर्म आदि का भी योगी-परम्परा में प्रयोग होता है। निष्पन्द मौन आलम्बन कर एक आसन में बैठने से चित्त की एकाग्रता बढ़ती जाती है, और शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व भी प्रभावित नहीं करते। इसका परिणाम स्वाभाविक होने से वेदों में इसका संकेत नहीं है।

अन्नमयकोश की साधना-पद्धति

उक्त विधि के अनुसार आसन को स्थिर कर प्राणायाम, जपादि मनोनिग्रह के साधनों से प्रत्याहार की साधना करे। प्रत्याहार की साधना अग्रिम अंगों की पृष्ठभूमि है, अतः वेद में प्रथम प्रत्याहार-साधना को आवश्यक बताया है।

'हे स्तुति को वहन करनेवाले परमात्मन् ! मैं आपकी सन्निकटता से स्तुति करता हूँ कि आप मेरे इस ध्यानयोग में सब इन्द्रियों को अच्छे प्रकार स्थिर करें।'[1]

प्रत्याहार-साधना को सिद्ध कर साधक को धारणा-ध्यान का प्रकार वेदानुसार जानकर अनुष्ठान करना योग्य है।

यजुर्वेद में योगोपदेश दिया है कि "ऐश्वर्याभिलाषी मनुष्य तत्त्वज्ञान के लिए सर्वप्रथम फैले हुए मनोव्यापार या मननात्मिका अन्तःकरणवृत्ति को तथा धारणात्मिका बुद्धिवृत्तियों को समाहित करता हुआ, सबको आगे ले-जानेवाले, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक प्रभु से ज्ञानप्रकाश निश्चय करके एवं ग्रहण करके पृथिवी पर, सांसारिक जनों के लिए अधिकारपूर्वक सब ओर से धारण करता है तथा पृथिवी पर सर्वत्र विकसित करता है।"[2]

उक्त मन्त्र में योगपद्धति का स्पष्ट निर्देश किया है कि साधक को विक्षिप्त वृत्तियों का निरोध सर्वप्रथम करना चाहिए। ऐसी चित्त-वृत्तियों का निरोध करना ही महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में योग[3] है।

१. **अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ आ सादयादिह॥**

—ऋग्० ८।४४।३

२. **युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।**
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥

—यजु० ११।१; (म० द० भाष्य); योगोप० म० १ (स्वामी वेदानन्दतीर्थ)

३. **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥**—यो० १।१

योग का प्रयोजन क्या है ? इसका समाधान मन्त्र के 'तत्त्वाय' शब्द से हो जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञान के लिए योग करना आवश्यक है। योग का फल-निरूपण भी बड़ी गम्भीरतापूर्वक मन्त्र में विद्यमान है—**'अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य'** सर्वज्ञ परमात्मा से ज्ञानप्रकाश की ज्योति का निश्चय करना ही योग का फल योग-सूत्रकार ने प्रदर्शित किया है—योगसाधना करने से ऋतम्भरा बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।[1] ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न हो जाने से योगी श्रुतज्ञान (शब्दप्रमाण से उत्पन्न ज्ञान) तथा अनुमानज्ञान से विलक्षण-निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।[2] प्राणायाम का उससे पूर्व अभ्यास कर लेने से प्रकाशावरण भी हटा हुआ होता है, अतः इस साधनाक्रम से योगी एक अन्तर्ज्योति को पूर्णरूपेण जगाकर बाह्य पदार्थ या शरीर में जहाँ भी ठहराता है, उस स्थान का पूर्ण निर्भ्रान्तज्ञान प्राप्त हो जाता है।

नाड़ियों में ध्यान

अन्नमयकोश की आधाररूप नाड़ियों में ध्यान करने का विधान वेद में विहित है—"ध्यानशील क्रान्तदर्शी योगीजन समाधियोग के द्वारा नाड़ियों में ध्यान करते हैं।"[3] उसी प्रकार अन्य साधकों को साधना में अग्रसर होने के लिए करना योग्य है। योगाभ्यासी नाड़ियों में ध्यान करता हुआ, बुद्धि में साधनों का विकास करे।[4] योगाङ्गों का अनुष्ठान एवं शुद्ध अन्तःकरण में ध्यान करने से योगक्षेत्र में सिद्धिरूप बीजों को बोया करे। वाणी से सभी की कल्याण-कामना करता रहे। इन साधनों के अनुष्ठान से साधक परिपक्व हो, शीघ्र ही योग को प्राप्त होता है।

सामवेद के अन्दर नाड़ियों में साधना करने का फल उत्तमता से अभिहित है—'मेधा में तीर्णतम उपासक की पीठ की अस्थियों में (इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा) तीन नाड़ियाँ हैं जो कि उपासक के लिए सम्पद्रूप हैं।

---

१. **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥**—यो० १।४८

२. **श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥**—यो० १।४९

३. **सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नया ॥**
—यजु० १२।६७

४. **युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं···**।—यजु० १२।६८

इन नाड़ियों में परमेश्वर धारारूप में प्रेरणाएँ देता है। तदनन्तर उत्तम-कर्मशील और प्राज्ञ-परमेश्वर इस उपासक की योजनाओं और योग-साधनाओं को विशेष रूप से सिद्ध करता है।[1]

सामवेद में ध्यान करने की प्रमुख नाड़ी 'सुषुम्णा' का वर्णन उपलब्ध होता है।[2] शरीर-विज्ञान के अनुसार कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों की सन्देशवाहक नाड़ियाँ इसी के सहारे संयुक्त हो शरीर में कार्य करती हैं। ध्यानीजन इसी सुषुम्णा में ध्यान करना, शीघ्र फलदायक अनुभव करते हैं। इस नाड़ी में स्थानविशेषों पर सूक्ष्म तन्तुओं के पुञ्ज अनुभव किये गये हैं जिनका नाम 'चक्र' दिया जाता है। वेद के इस नाड़ीपुञ्ज का परवर्ती तन्त्रयोग में विशेष कल्पित महत्त्व प्रदर्शित किया गया है जो अवैदिक है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने भी चक्रों में संयम करने से विभिन्न सिद्धियों का उल्लेख किया है। अन्नमयकोश के विशेष विज्ञान-लाभ के लिए तथा अग्रिम कोशों के उद्घाटन के लिए वेदमन्त्रों में चक्रों की साधना के जो परिणाम या लाभ प्रदर्शित किये हैं उनका यहाँ उल्लेख करते हैं—

नाभिचक्र में संयम का फल

सामवेदीय ऋचा में 'नाभा' एवं 'नाभि' दो पदों के प्रयोग को 'साधक की नाभिः' तथा परमात्मा का वाचक माना गया है। यहाँ साधक नाभिचक्र में संयम करता हुआ दिव्यदृष्टि की सहायता से परमेश्वर के दर्शन करना चाहता है।[3]

प्रस्तुत ऋचा के भाष्यकार पण्डित विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड एक टिप्पणी द्वारा योगसूत्रगत नाभिचक्र से तुलना करते हुए लिखते हैं कि—"नाभि में संयम द्वारा योगी को जब शरीर-रचना का पूर्णज्ञान हो जाता है, तब वह ऊपर के चक्रों में भी संयम करने लगता है। ऊपर के

---

१. **त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वैरयद्रयिम्। मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः॥**
—साम० १०१५; ऋग्० ६।१०२।३

२. **अत्यायातमश्विना तिरोविश्वा अहं सना।**
दस्रा हिरण्यवर्त्तनी सुषुम्णा सिन्धुवाहसा माध्वी मम श्रुतं हवम्॥
—साम० १७४४

३. **नाभा नाभिं न आ ददे चक्षुषा सूर्यं दृशे।**
कवेरपत्यमा दुहे॥—साम० ११२६

चक्र अर्थात् हृदयचक्र, विशुद्धिचक्र आदि में से होता हुआ योगी आज्ञा-चक्र में जब संयम करता है तब इसका तृतीय नेत्र खुल जाता है। इस तृतीय नेत्र को मन्त्र में 'चक्षुषा' शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।"[1]

सूर्यचक्र में संयम का फल

सामवेद के अन्य मन्त्र में सूर्यचक्र का वर्णन मिलता है, जिसके सम्बन्ध में साधक प्रार्थना करता है कि 'हे भक्तिरस ! तू योगधारा में प्रवाहित हो जा, और हमें पवित्र कर, जिस धारा से तूने सौर (सूर्यचक्र) को चमका दिया है।[2]

सूर्यचक्र के सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत मिलते हैं—प्रथम मतानुसार नाभिचक्र को ही सूर्यचक्र स्वीकार किया गया है[3], जिसमें संयम करने का फल शरीर की आभ्यान्तरिक नस-नाड़ियों तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गों का प्रत्यक्षीकरण है।

द्वितीयमत में नाभिचक्र से पृथक् सूर्यचक्र को माना गया है। मन्त्र में भक्तिरस द्वारा सूर्यचक्र की जागृति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है अर्थात् सूर्यचक्र की जागृति के साथ भक्तिरस सम्यक् प्रकार से चमकता है।[4]

हृदयचक्र (पुष्कर) में ध्यान का फल

आज्ञाचक्र तथा सहस्रार में संयम करने से पूर्व हृदयचक्र में संयम करने का क्रम प्रतिपादित किया गया है। एक मन्त्र में साधक अपने साधनासामर्थ्य को बताते हुए कहता है कि—"हे पर्वतों के समान अपने व्रतों में सुदृढ़ उपासको ! सिर के छिद्र [ब्रह्मरन्ध्र] से शरीर त्याग करने से पूर्व मैंने शरीर के पोषक हृदयकमल में सिंचित हुए मधुर आनन्दमय प्रभु का साक्षात्कार कर लिया है।"[5]

---

१. द्रष्टव्य—साम० ११२६ (टिप्पणी—सा० अ० भा०)

२. **अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः।**
हिन्वानो मानुषीरपः॥—सा० ४६३; ऋग्० ६।६३।७

३. द्रष्टव्य—साम० ४६३; टिप्पणी—सा० अ० भा०

४. **अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः। सं सूर्येण दिद्युते॥**
—साम० ४६७; ऋग् ६।२।६; य० ३८।२२; तै० आ० ४।११।६

५. **अभ्यारमिदद्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु।**
अवटस्य विसर्जने॥—सा० १६०३; ऋग्० ८।७२।११

उक्त मन्त्र में वर्णित विषय को भाष्यकार ने टिप्पणी द्वारा स्पष्ट किया है—अवतीति अवटः=गढ़ा। मन्त्र में प्रयुक्त 'अवट' शब्द सिर की खोपड़ी का द्योतक है। मोक्ष प्राप्त करनेवाला जीवात्मा इस शिर में स्थित मस्तिष्क के 'ब्रह्मरन्ध्र' अर्थात् 'सूर्यद्वार' द्वारा शरीर का परित्याग करता है।[1] इस अवट को छोड़ने से पूर्व ब्रह्म का साक्षात्कार होना आवश्यक है, जोकि ब्रह्म, हृदय-पुष्कर में विराजमान होता है।[2] इस हृदय पुष्कर में मधुर आनन्दरस परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, तदनन्तर मस्तिष्क में स्थित सहस्रारचक्र में ब्रह्म की दिव्य ज्योति प्रकट होती है और मोक्ष होता है।

साधक जब हृदय-चक्र में संयम करना प्रारम्भ करता है तो उसका क्या प्रभाव पड़ता है ? इसका स्पष्टीकरण एक मन्त्र में किया गया है—बलशाली परमेश्वर अन्तर्नाद करता हुआ उपासक के हृदय में आता है। वह सहस्रों वेदवाणियों का स्वामी, सर्वद्रष्टा है, अविद्या आदि क्लेशों को दूर करनेवाला परमेश्वर सखा बने उपासक के हृदयचक्र से आज्ञाचक्र में आता हुआ सहस्रारचक्र में आसीन होता है। आनन्दवर्षी परमेश्वर शरीर में बहती हुई, रक्षा करनेवाली रस-रक्त आदि की नाड़ियों को पवित्र कर रहा है।[3]

इन्द्रियगण का अधिपति मन इसी हृदय में प्रतिष्ठित है अर्थात् हृदय में संयम करने से मन का प्रत्यक्ष होता है। स्वामी आत्मानन्द जी ने 'हृत्प्रतिष्ठम्' पद से धृति, मन की उस नियन्त्रण-शक्ति को माना है जो अच्छे सारथि की भाँति घोड़ों को रस्सियों के नियन्त्रण में, ठीक मार्ग पर ले जाता है।[4]

महर्षि पतञ्जलि ने भी हृदय में ध्यान करने का परिणाम चित्त का ज्ञान माना है।[5] व्यास के अनुसार ब्रह्मपुर अर्थात् हृदय में दहर-

---

१. सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः सः पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥
—मुण्ड० १।२।११

२. हृदि ह्येष आत्मा—प्रश्नो० ३।६

३. अभिक्रन्दन्कलशं वाज्यर्षतिपतिर्दिवः शतधारो विचक्षणः।
हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा ॥
—साम० १०३२

४. मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प—(धृति—मन) पृ० ३१५

५. हृदये चित्तसंवित् ॥—यो० ३।३४

पुण्डरीक सूक्ष्म-कमल के समान आकारवाला है, उसमें विज्ञान है, उसी में संयम करने से चित्त का ज्ञान योगी को होता है।[1] भोजवृत्तिकार ने इसके अतिरिक्त यह भी स्वीकार किया है कि योगी अपने चित्त में प्रविष्ट सभी वासनाओं को और दूसरे के चित्त में प्रविष्ट रागादि को भी जान लेता है।[2]

आज्ञाचक्र तथा सहस्रारचक्र (मूर्धा) में संयम का फल

सामवेदीय ऋचा-युगल में आज्ञाचक्र तथा सहस्रारचक्र में संयम करने का परिणाम इस प्रकार अभिहित है—

"पवित्र करता हुआ यह परमेश्वर, उपासक के मस्तिष्क को विशुद्ध कर देता है और आनन्दमयी रसधारा को बहाकर उसके राजसिक कर्मों को तिरस्कृत करता है, नष्ट कर देता है तथा साधक को बार-बार सत्त्वगुण से युक्त सन्मार्ग का उपदेश देता है। साथ ही राजसिक वृत्तियों को विनष्ट करता हुआ साधक के अहिंसायुक्त योगयज्ञ को सफलता प्रदान करता है।"[3]

भाष्यकार पं० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने इस प्रकरण के स्पष्टीकरण के लिए टिप्पणी में कहा है—मन्त्र का दिवम् शब्द अथर्ववेद के "दिवं यश्चक्रे मूर्धानं" मन्त्र के आधार पर मूर्धावाची माना है। मस्तिष्क के दोनों चक्र—आज्ञाचक्र एवं सहस्रारचक्र में क्रमशः परिणाम दिखाया है। आज्ञाचक्र में संयम करने से तृतीय नेत्र (मूर्धा ज्योति) खुल जाती है तथा सहस्रारचक्र में संयम करने से ब्रह्मसाक्षात्कार होता है।[4]

योगशास्त्रानुसार मूर्धा की ज्योति में संयम का परिणाम सिद्ध पुरुषों का दर्शनबताया है।[5] साधक इस प्रकार मनोव्यापार को रोककर

१. यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित्॥—व्या० भा० यो० ३।३४

२. द्रष्टव्य—भोजवृत्तिः॥—यो० ३।३४

३. एष दिवं विधावति तिरो रजांसि धारया। पवमानः कनिक्रदत्॥
—साम० १२६२

४. एष दिवं व्यासरत्तिरो रजांस्यस्तृतः।
पवमानः स्वध्वरः॥—साम० १२६३

५. मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥—यो० ३।३२

निश्चल बैठ जाए तो निश्चितरूपेण मन, बुद्धि की एकाग्रता की योग्यता बढ़ जाती है। इसी क्रम से ध्यान में संलग्न रहने से एवं संकल्प बल से आज्ञाचक्र में उत्पन्न प्रकाश कई प्रकार का दीखता है। यह प्रकाश दीपशिखा, टिमटिमाते हुए जुगुनू, धूप, विद्युत् बल्ब जैसा रजोगुण की बहुलता का प्रतीक है तथा स्फटिकमणि, चन्द्रप्रभा का प्रकाश सत्त्व-बहुलता का द्योतक है एवं कुहरा, धूम्र आदि प्रकाश रहित तम-प्रधान कापरिचायक है। ये सभी रूप योग में आरम्भ में आते हैं, यही आगे चलकर ब्रह्म की अभिव्यक्ति करानेवाले होते हैं।[1]

अन्नमयकोश की साधना-पद्धति से स्पष्ट है कि योगी ध्यानयोग का दिव्य दीपक लेकर शरीररूपी अयोध्यानगरी में प्रवेश करे। मूलाधार से सहस्रार तक सुषुम्णा में स्थित अतिसूक्ष्म ज्ञानवाहक एवं गतिवाहक नाड़ीयुगल के रूप में मेरुदण्ड के भीतर प्रत्यक्ष करे। षट्चक्रभेदन की कुण्डलिनी-जागरण से तान्त्रिक योग के आधार पर मानी गयी है सुगमता जिससे योगसिद्धि होती है। परन्तु वेद, योगदर्शन एवं वैदिक उपनिषदों में कुण्डलिनी का कोई विवेचन नहीं है। हठयोग एवं तन्त्रयोग के अनुसार मध्यकालीन योगियों की मान्यता है। यह कुण्डलिनी उपनिषदों की 'नाचिकेत'[2] अग्नि है। जो त्रिनाचिकेत हो सकते हैं वे ही जन्म-मृत्यु से तरते हैं। उनका शरीर योगाग्निमय होता है और वे जरा-व्याधि तथा मृत्यु के पार हो जाते हैं[3]। इस प्रकार स्थूलशरीर के प्रमुख आधार अन्नमयकोश की साधना प्रथम साधनीय है। □

---

१. **नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योत-विद्युत्-स्फटिक-शशीनाम्।**
एतानिरूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि योगे॥
—श्वेता० अ० २ मं० ११

२. **त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वान् चिनुते नाचिकेतम्।**
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
—कठो० १।१८

३. **त तस्य रोगो न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥**
—श्वेता० २।१२

द्वितीय अध्याय

प्राणमयकोश की साधना

सूक्ष्मशरीर की सत्ता

स्थूलशरीर के अतिरिक्त इसका आश्रयभूत सूक्ष्मशरीर होता है। सूक्ष्मशरीर की महत्ता स्थूलशरीर के लिए विशेष होने के कारण सूक्ष्मशरीर स्थूल का आत्मा है। स्थूलशरीर एवं अन्नमयकोश अपने उत्पादक शक्तिरूप सूक्ष्म भूतों की अपेक्षा देखने में यद्यपि महान् एवं कठोर दिखाई देता है तथापि सूक्ष्मतत्त्वों की शक्ति के सामने दुर्बल है। इसलिए सूक्ष्मतत्त्वों से निर्मित 'सूक्ष्मशरीर' जो शक्ति-प्रसारण का केन्द्र है, किन तत्त्वों से किस प्रकार बना है, इसका रहस्य साधकों को 'हृदयंगम' कराने की दृष्टि से हम सूक्ष्मशरीर के मूलतत्त्वों की वेदसम्मत व्याख्या करेंगे। सूक्ष्मशरीर के तत्त्वों का परिशीलन किये बिना अग्रिम कोश का ज्ञान होना दुर्भर=कठिन है।

वेदमन्त्रों में सूक्ष्मशरीर-सम्बन्धी विचार

सामवेद के एक मन्त्र में आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न योगियों के लिए एवं सामान्य साधक की कल्याण-भावना के लिए याचना की गई है कि—"हे परमेश्वर ! वात, पित्त, कफ तीन धातुओंवाला स्थूलशरीर हमें सम्यक् प्रदान कीजिए, दूसरा सूक्ष्मशरीर जो प्रकाशमय सूक्ष्मतत्त्वों से निर्मित है और तीसरा कारणशरीर, इन तीनों आवरणों से युक्त अपना आश्रय प्रदान कीजिए। हे प्रभो ! हमें वह योगसामर्थ्य प्रदान करें, जिसके द्वारा तीनों शरीरों के रहस्य को समझकर आपका साक्षात्कार करके मृत्यु के वज्र से पृथक् हो जन्म-मरण के

बन्धन से पृथक् रह सकें ।[1]

सूक्ष्मशरीर के विभाग

सूक्ष्मशरीर १७ तत्त्वों का संयोग है जिसमें पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्मभूत, मन और बुद्धि सम्मिलित हैं। यह सूक्ष्मशरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है।

सूक्ष्मशरीर के दो भेद[2]

१. भौतिक—जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पञ्च सूक्ष्मभूतों से बनता है।

२. स्वाभाविक—जो जीव के स्वाभाविक गुण, रूप हैं। यह स्वाभाविक [अभौतिक] शरीर मुक्ति में भी जीव के साथ रहता है। इसी शरीर के आश्रित जीवमुक्ति में सुखभोग करता है।

कोशों की दृष्टि से तीन भाग हैं—

१. प्राणमयकोश, २. मनोमयकोश, ४. विज्ञानमयकोश।

प्राणमयकोश—दश प्राणों से युक्त प्राणमयकोश को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. पञ्च मुख्यप्राण—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान।

२. पञ्च गौणप्राण—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय।

अन्नमय और प्राणमय कोशों का सम्बन्ध

पूर्वोक्त अन्नमय और प्राणमयकोश दोनों मिलकर स्थूलशरीर का सञ्चालन करते हैं। स्थूलशरीर के मूलाधार ये दोनों कोश हैं। इन दोनों का सम्बन्ध मृत्युपर्यन्त रहता है। दोनों एक-दूसरे से पृथक् होने पर अस्तित्वहीन हो जाते हैं। ये दोनों कोश एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों का पारस्परिक सापेक्ष्य सम्बन्ध है। जैसे सूक्ष्मशरीर एवं कारणशरीर के साथ सूक्ष्मप्राण का सम्बन्ध है, मोक्षकाल में ही इन दोनों शरीरों का सूक्ष्मप्राण से सम्बन्ध-विच्छेद होता है, वैसे ही मरणकाल में स्थूलशरीर से स्थूलप्राण का सम्बन्ध-विच्छेद होते ही दोनों अपने उपादानकारणों में विलीन हो जाते हैं।

---

१. **इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तये।**
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः ॥—साम० २६६

२. (दृष्टव्य) स० प्र० नवम समु०। पृ० सं० २३०

अन्नमयकोश में जिस प्रकार शिर-धड़-हाथ-पैर आदि अंग हैं अंगुली आदि उपाङ्ग हैं, उसी प्रकार प्राणमयकोश में प्राण-अपान-समान आदि अङ्ग और कृकल, देवदत्त आदि उपाङ्ग हैं।

वेदों में प्राण शब्द का प्रयोग

चारों वेदों में प्राणों का विशेष उल्लेख विभिन्न अर्थों में हुआ है—

१. ऋग्वेद में प्राण शब्द विभक्तियों से युक्त ६ बार प्रयुक्त हुआ है।[1]

२. यजुर्वेद में प्रत्ययान्त तथा विभक्त्यन्त प्राणशब्द ४६ बार आया है।[2]

३. सामवेद में प्राण शब्द प्रथमा बहुवचनान्त तथा पञ्चमी एक-वचनान्त में ६ बार प्रयुक्त हुआ है।[3]

४. अथर्ववेद में प्राण शब्द सभी विभक्तियों में तथा प्राणापान समस्तपद लगभग ११६ बार प्रयुक्त हुए हैं।[4]

चारों वेदों के परिशीलन से स्पष्ट होता है कि मुख्य 'प्राण' शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है, उपप्राण धनञ्जय आदि का प्रयोग कम है।

प्राणों के पर्याय शब्द

वेदों में मित्रावरुणौ[5]—प्राणापान के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वायवः,[6] वातादयः,[7] रुद्राः,[8] इन्द्रः,[9] अग्नीषोमौ,[10] अङ्गिरसः,[11] अङ्गिराः[12] इत्यादि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग प्राण शब्द की अपेक्षा अधिकतर हुआ है।

वेदों में प्राण-विज्ञान एवं उसकी उपयोगिता

यजुर्वेदीय मन्त्र में **रुद्राः** शब्द से प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय नामक दश प्राण एवं

---

१. ऋग्०पद० पृ० ४४१६
२. यजु० पद० पृ० ६७
३. साम०पद० पृ० ६४
४. अथ० पद० दृष्टव्य
५. ऋग्० १।२।८; १।१२२।६; ५।४१।१; ६।६७।२; ७।६०।१२; ७।६।२१, ७
६. यजु० २६।२२
७. यजु० २२।२६; ३६।१०
८. यजु० २।५; ऋग्० ३।८।८
९. ऋग्० १।१४।१०
१०. ऋग्० १।९३।८
११. ऋग्० १०।६२।१
१२. ऋग् ३।३१।७

ग्यारहवाँ जीव—ये एकादश रुद्र शतपथ ब्राह्मण[1] के वचन-प्रामाण्य से ग्रहण किये गये हैं। मन्त्र में प्राणों की उपयोगिता प्रदर्शित है कि 'योगसाधक' जब नित्यसुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए योगयज्ञ का विस्तार करता है तो वसन्तादि उत्तम ऋतुएँ योगयज्ञ के विस्तार में सहायक हो समिधा का कार्य करती हैं।[2] सर्वविध ऐश्वर्य-प्राप्ति की रक्षा यह सूर्यलोकरूप तेज पहले से ही करता है। उस सूर्यलोकरूप ओज-तेज के बल और वीर्य बाहू के समान हैं। सुख-साधनों को मृदु बनानेवाले, ऊर्ण-आसन पर विराजमान हुए साधक को अग्नि आदि आठ वसु तथा एकादश प्राण शरीर में यथायोग्य नियमित कार्य करते हुए, बारह महीने=वर्षभर आनन्द प्राप्त कराते हैं। साधक उक्त साधनों का प्रयोग दिव्य शक्तियों की प्राप्ति के लिए निरन्तर करता हुआ सदैव अपने को व्यस्तता से आच्छादित करता है।

ऋग्वेदीय ऋचा में प्रयुक्त **'रुद्राः'** पद[3] द्वारा एकादश प्राणों का ग्रहण किया गया है, यहाँ बताया है कि ये एकादश प्राण प्रीतिपूर्वक सदा सेवा करते हुए योगयज्ञ की वृद्धि करते हैं।

प्राणों का नियमित व्यापार करते रहने से ही स्थूलशरीर स्वस्थ रह सकता है, इसीलिए साधक निवेदन करता है "प्रभो! जिस अपान तथा प्राणवायु के संयम से आपको जाना है, वे प्राणापानवायु प्रकुपित न हों, सदैव हम साधकों के लिए हितकारी रहें, हममें शक्ति का संचार करें और हमारी इन्द्रियों को अपनी स्निग्धता से सिंचित करें। प्राणापान सदैव युवा रहते हुए हमारी प्राणापानरूप योगयज्ञ की आहुतियों को सदैव प्रवाहित करें।[4]

यजुर्वेद के एक मन्त्र[5] में यह प्रतिपादित किया है कि पाँचों ज्ञान-

---

१. **कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति। तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति।**
—शत० १४।६।६।४-६

२. **समिदसि सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु**···।—यजु० २।५

३. **आदित्या रुद्रा वसवः सुनीथा**···।—ऋग्० ३।८।८

४. **मा हेडे भूम वरुणस्य वायोर्मा मित्रस्य**।—ऋग्० ७।६२।४
प्रवाहवा सिसृतं जीवसे न···।—ऋग्० ७।६२।५

५. **सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।**
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥
—यजु० ३४।५५

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात, विषय को प्राप्त करनेवाले स्थूल-शरीर में प्रीतिपूर्वक स्थित हैं, और प्रमादरहित होकर शरीर की रक्षा करते हैं। ये सातों प्राण दिव्यरूप को धारण किये हुए सोते तथा जागते हुए मनुष्य की निरन्तर रक्षा करते हैं।

योगाभिलाषी सर्वोत्तम धर्माचरणरूप योगरूप में अपने मुख्य प्राण तथा उपप्राणों को संयुक्त किये बिना बल, पराक्रम तथा साधना की ऊर्ध्वगति प्राप्त नहीं कर सकता, इसीलिए एक मन्त्र में साधक विनयावनत हो कहता है कि—"प्रभो! मेरे प्राण-अपान-उदान-समान-व्यान-देवदत्त-धनञ्जय-नाग आदि अन्य सभी प्राण-उपप्राण मेरे द्वारा बुद्धिपूर्वक संयमित योगयज्ञ को सम्पन्न करने के लिए समर्थ हों।"[1] यजुर्वेद में प्राणों की सामर्थ्य-प्राप्ति का वर्णन अन्यत्र[2] भी बहुशः उपलब्ध है।

प्राणों को बलिष्ठ बनाने के लिए वेद आदेश देता है कि प्राणविद्या का साधक उत्तम फलों का रसपान एवं स्निग्ध पदार्थों का सेवन करके शक्ति को बढ़ाए।

उक्त परिशीलन से परिज्ञान होता है कि मानव-शरीर में स्थित प्राणमयकोश का अत्यधिक महत्त्व है। अन्नमयकोश के साथ इनका अविनाभाव सम्बन्ध है। 'चराचर[3] निखिल ब्रह्माण्ड को जो तैंतीस देव सँभाले हुए हैं, उनमें भी एकादश प्राणों का प्रमुख स्थान है।'[4]

समष्टि प्राण से व्यष्टि प्राण का निर्माण

स्थूल शरीर में अवस्थित अन्नमयकोश के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का निर्माण पञ्चमहाभूतों से होता है। शरीर की संरचना एवं संचालन की दृष्टि से सर्वप्रथभ आकाश महाभूत की आवश्यकता है, द्वितीय स्थान वायु का आता है। समष्टि वायुमहाभूत का सात्त्विकभाग व्यष्टिशरीर संचालन के लिए प्राणरूप में कार्य करता है, अर्थात् सत्त्वप्रधान वायु

१. **प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे सुश्च मे चित्तं च मे···**।—यजु० १८।२

२. यजु० २२।३३; १८।११; १८।१७; १८।२२; १८।१९, १८।४१; ४२।४३, ५५ आदि।

३. **सूपस्था अद्य देवो···पुरोडाशैरपुरश्विना···सुरासोमान्**।—यजु० २१।६०

४. **इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः**।—ऋग्० ८।३०।२; ऋग्० ८।२८।१

ही उपादान कारणरूप होकर श्वसन-क्रिया के प्राणों की संरचना करता है। जिस प्रकार सत्त्वप्रधान अन्न-जल उपभोग किये गये स्थूल शरीर को स्थिर रखते हैं, उससे कहीं अधिक सत्त्वप्रधान प्राण श्वसन-प्रणाली द्वारा पान किये गये शरीर को स्थिर रखते हैं। सत्त्वप्रधान प्राणभाग प्राणमयकोश का निर्माण कर धारण करने हेतु शरीर में स्थित रहते हैं, श्वास-प्रश्वास के द्वारा रजःप्रधान प्राण का सेवन करते हैं। रजः-प्रधान वायु में जब सड़े हुए दूषित पदार्थों का, गैसों तथा विषाक्त गन्धों का समावेश हो जाता है तो वह 'जीवनप्रद' न होकर प्राणघातक सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष में अधिक ऊँचाई पर तथा भूगर्भ में निहित वायु भी प्राणघातक पाये जाते हैं।

प्राणमयकोश के कार्य

सत्त्वप्रधान वायु से निर्मित यह प्राणमयकोश एक सूक्ष्म आवरण है, जो अपने प्रभाव से मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय तीनों कोशों का आवरक है। पञ्चावरणों से आवृत्त, आनन्दमयकोश में स्थित 'जीवात्मा' को कर्त्ता, भोक्ता, दाता, वक्ता, क्षुधातुर एवं पिपासा-कुल आदि विकारयुक्त प्रदर्शित करना इसी का धर्म है। इस कोश के द्वारा जहाँ भूख-प्यास, विषय-विकलता आदि कष्ट भोगे जाते हैं, वहाँ निवृत्तिजन्यतृप्ति तथा रतिसुख आदि विषयसुख का उपभोग भी मिलता है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणमयकोश के अङ्गों तथा उपाङ्गों का कार्य शरीर में विभक्त है।

आगामी तालिका में प्राणमयकोश में आगत एकादश प्राणों का अन्नमयकोश में स्थान तथा कार्य को सूक्ष्मता से बोध के लिए निरूपित किया गया है, साथ ही ध्यानावस्था में प्राण-साक्षात्कार के समय ऋषियों ने प्राणों को विविध वर्णों में प्रत्यक्ष किया है, उसका भी निर्देश दिया गया है।

स्थूलशरीर में प्राणों का स्थान—कार्य एवं वर्णसूचक तालिका

क्रम संख्या	प्राण का नाम	स्थूलशरीर में स्थान	प्राण का कार्य	वर्ण
१.	प्राण	मुख से हृदय तक	वर्णोच्चारण में सहयोग देना, भुक्त-पीत द्रव्य को ग्रामाशय में पहुँचाना, रक्त में उष्मा बनाये रखना, रुधिर को लाल बनाए रखना, रक्त-संचार, भूख-प्यास लगाना।	नील
२.	समान	हृदय से नाभि तक	ग्रामाशय, यकृत्, ग्रग्न्याशय ग्रौर लघु ग्रान्त्र के रसों का स्राव, भोजन में द्रवांश का मिश्रण करना तथा गीला करना, रस को यथास्थान वितरण करना, नाड़ीमण्डल, मस्तिष्क को पुष्ट करना, तिल्ली, गुर्दे, मूत्रसंस्थान की क्रिया में सहयोग करना।	शुक्ल
३.	ग्रपान	नाभि से पैरों तक	मल, मूत्र, रज-वीर्य, भ्रूण, शिशु को बाहर निकालना, ग्रावेग में मलों को धारण करना, व कटि से पैरों तक ग्रङ्गों को गति देना।	पीतबहुल धूसर
४.	उदान	कण्ठ-प्रदेश	शरीर को उठाये रखना, वमन को बाहर फेंकना, गानें में सहयोग देना।	नीलमिश्रित हरित

५. व्यान	सम्पूर्ण शरीर	ज्ञानवाहक स्थूल-सूक्ष्म नाड़ियों को गतिशील बनाना, धड़कन, फड़कन, रक्त-संचार एवं सभी उपप्राणों के कार्य में सहयोग देना।	आसमानी
६. देवदत्त	नासिका	जम्भाई तथा छींक लाना।	पीतबहुल धूसर
७. कृकल	कण्ठ	क्षुधातृषा -[भूख-प्यास]- उत्पादक।	धवल
८. कूर्म	नेत्रों के पलकों में	निमेष-उन्मेष [पलक झपकाना-खोलना]।	नारंगी
९. नाग	मुख	उद्गार [डकार लेना] हिक्का [हिचकी लेना]।	नीलमिश्रित हरित
१०. धनञ्जय	समस्तशरीर	जीवित तथा मरणान्त में शरीर में शोथ [सूजन] पैदा करना, गमनागमन-सहायक, देहपोषक, मरणोपरान्त १७ तत्त्वों सहित सूक्ष्मशरीर को गर्भ में पहुँचाना।	आसमानी

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि दशों प्राणों में प्रमुख स्थान पाँच प्राणों का है, अन्य उपप्राण तो प्राणों के स्थानों में अवस्थित हो कार्य करते रहते हैं। अमृतनादोपनिषद्[1] के अनुसार स्थान-निर्देश में तालिका से

---

१. प्राण आद्यो हृदि स्थाने-अपानस्तु पुनर्गुदे।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः॥
व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा।
अथ वर्णास्तु पंचानां प्राणादीनामनुक्रमात्॥
रक्तवर्णोमणिप्रख्यः प्राणवायुः प्रकीर्तितः।
अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रगोपसमप्रभः॥
समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरधवलप्रभः।
आपाण्डर उदानश्च व्यानो ह्यर्चिसमप्रभः॥—अमृतो० ३५-३८

समानता एवं वर्णनिर्देश में विभेद प्रतीत होता है। इस उपनिषद् के अनुसार प्राणवायु को रक्तवर्ण मणि के अनुरूप कहा गया है, अपान उसके मध्य में इन्द्रगोपवर्ण [गहरे लाल रंग] की आभावाला बताया गया है। 'समान' प्राण का रंग गोदुग्ध के समान श्वेत है। उदान का रंग आपाण्डर [थोड़ा पीला] तथा व्यानप्राण का रंग सूर्य की किरणों की प्रभावाला है।

प्राणमयकोश की साधना की आवश्यकता

अन्नमयकोश की आन्तरिक साधना के लिए आसन, ब्रह्मचर्य, तपादि साधनों की आवश्यकता प्रदर्शित की गई, तद्वत् प्राणमयकोश की शुद्धि के लिए प्राणायाम आदि साधनों की परमावश्यकता है। प्राणों तथा इन्द्रियों का परस्पर सम्बन्ध है। उससे भी अधिक मन का प्राणों से सीधा सम्बन्ध है। योगसाधना का तात्पर्य ही चित्तवृत्तिनिरोध है। मनोगत वृत्तियों का निरोध प्राणायाम के विना असम्भव है। सम्पूर्ण प्राणमयकोश को नियन्त्रित करना मनोमय आदि अग्रिम कोशों की साधना के लिए अपरिहार्य है।

मानव-जीवन में एक प्रबल संग्राम है। नवजातशिशु से लेकर कुमार, युवा तथा वृद्धावस्था में मानव प्रतिकूल परिस्थितियों से निरन्तर संघर्ष करता रहता है। मनुष्य प्राकृतिक प्रकोपों से संघर्ष करता है, सामाजिक प्रतिकूलताओं से संघर्ष करता है, बाह्य शत्रुओं से संघर्ष करता है, चोर-डाकू, साँप-बिच्छू-सिंह आदि भयानक जन्तुओं से अपनी रक्षा करता है। इन सभी संग्रामों से कहीं अधिक भयानक संग्राम है आन्तरिक शत्रुओं के साथ, जिसको आध्यात्मिक भाषा में देवासुर-संग्राम कहा गया है। आन्तरिक शत्रुओं पर विजयी अन्य सभी शत्रुओं को अनायास जीतने में समर्थ हो सकता है, अतः वेद देवासुर-संग्राम में विजयाभिलाषी को साधनों का निर्देश करता है।

"आन्तरिक दुष्प्रवृत्ति एवं दुर्भावरूप आसुरी सेनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम आनन्दरसवर्षी परमेश्वर के उग्र बल की आवश्यकता है, साथ ही परमेश्वर का वरण करनेवाले शरीर के राजा जीवात्मा का उग्रबल चाहिए। आदित्यब्रह्मचारीरूप सद्गुरुओं का तेज-बल तथा प्राणायाम द्वारा नियन्त्रित-प्राणों का उग्रबल दोनों

अत्यन्त आवश्यक हैं।"[1] "प्राणायाम के अभ्यासी उपासक उत्तम अर्चना के साधनभूत वैदिक स्तोत्रों से सम्पन्न होकर जब अर्चनीय परमेश्वर की अर्चनाएँ करते हैं, तब परमेश्वर उपासकों को पूरी सहायता देता है।"[2] प्राणायाम की विधि से प्रेरित परमात्मा अपने स्वभाव से ही सब प्रजाओं की रक्षा करता है, उनका पालन-पोषण करता है और प्राणायाम से शुद्ध इन्द्रियों की सुरक्षा करता हुआ परमेश्वर प्रकट होता है।"[3] "प्राणायाम के अभ्यासी में परमात्मदेव प्रकट होकर उपासक के पापवृत्र को समूल नष्ट करता है। वही ईश्वर सबसे महान्, सर्वाग्रणी एवं सर्वहितकारी है।"[4] "वह परमात्मा श्रौत = चिन्तन-मनन करनेवाले और प्राणायाम का विशेष अभ्यास करनेवाले साधकों में नक्षत्रों की भाँति चमकता है।"[5]

आत्मा के शोधक-प्राण

ऋग्वेदीय ऋचा में यह स्पष्ट किया गया है कि—हे "आत्मन्! प्राण तुझे शोभा के लिए चमकाते हैं, शोधते हैं। जो तेरा मनोहर सुन्दर, विचित्र, अद्भुत होना है, आविर्भाव है और जो विष्णु के समान पद, स्थान तूने धारण किया है, उसके द्वारा तू इन्द्रियों के गुप्त नाम को, सामर्थ्य को रक्षित करता है।"[6]

आत्मा अमर है, शरीर मर्त्य है। आत्मा अविनाशी है, शरीर विनाशी, किन्तु वासना के कारण अमृत आत्मा मर्त्य के साथ एक-स्थानीय हो रहा है। शुद्ध, पवित्र, विमल, उज्ज्वल जीव अशुद्ध, अपवित्र, समल, अन्धेरे शरीर में फँस गया है। यही आत्मा का

---

१. इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम्।
—साम० १८५७

२. अर्चन्त्यर्कं मरुतःस्वर्का आस्तोभति श्रुतो युवास इन्द्रः॥—साम० ४४५

३. वातजूतो यो अभिरक्षतित्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा विराजति।
—साम० १४५३

४. प्रतित्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे। मरुद्भिरग्न आ गहि॥
साम० १६; ऋग्० १।१९।१

५. अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम्।
य स्म श्रुतर्वन्नाक्ष्ये बृहदनीक इध्यते॥—साम० ८९; ऋग्० ८।७४।४

६. तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्तेजनिम चारु चित्रम्।—ऋग्० ५।३।३

[**चारुचित्रं जनिम्**] सुन्दर अद्‌भुत जन्म है। आत्मा विष्णु के समान है। संसार में रहता हुआ वह संसार का संचालन कर रहा है। आत्म-शरीर में भी यही बात कही गयी है, अर्थात् विष्णु के समान पद को धारण कर रहा है, इसी से तू इन्द्रियों के गुप्त सामर्थ्य की आजीवन रक्षा करता है।

शरीरगत प्राण आत्मा की महत्ता का व्याख्यान कर रहे हैं। जब-तक आत्मा शरीर में रहता है, प्राणों की क्रिया भी रहती है; ज्योंही आत्मा ने प्रयाण किया, तभी प्राण भी प्रयाण कर जाते हैं। प्रश्नोपनिषद् में इसका सुन्दर वर्णन है कि—"आँख, नाक को यह अभिमान हो गया कि हम ही इस शरीर के धारक हैं। आत्मा ने उन्हें कहा, ऐसे अज्ञान में मत फँसो, मैं ही प्राण का पाँच प्रकार से विभाग करके इस शरीर को धारण करता हूँ। उन्हें विश्वास न हुआ। तब वह थोड़ा-सा ऊपर को निकला। उसके बाहर निकलने पर सभी निकलने लगे। उसके ठहर जाने पर सभी ठहर गये। जैसे रानी मक्खी के उड़ने पर सभी मक्खियाँ उड़ जाती हैं, ठहरने पर ठहर जाती हैं, इसी प्रकार मन, वाणी, आँख का हाल हुआ।"[1]

किन्तु इतना शक्तिशाली, भगवान् की समता रखनेवाला आत्मा निष्काम न होने से मैला हो गया है। इसकी आभा पर पर्दा पड़ गया है, इसको हटाने के लिए प्राणायाम किया जाता है। इस मन्त्र को सन्मुख रख ऋषियों ने प्राणायाम का विधान किया है कि 'प्राणायाम से दोषों को जलाये'[2] इस प्रकार मल दूर होकर आत्मा चमकता है।

उक्त सन्दर्भों से साधक स्पष्टतया अनुमान लगा सकेंगे कि प्राणमयकोश के परिशोधन के लिए प्राणायाम आदि साधनों की परमावश्यकता है, अतः अब हम प्राणायाम की विधि तथा लाभों का निरूपण करेंगे।

प्राणमयकोश की साधना-पद्धति

वैदिक संहिताओं में प्राणायाम के विभिन्न पहलुओं तथा प्रकारों का वर्णन स्पष्टरूपेण प्रतिभासित होता है। मूलरूप में प्राणायाम के

---

१. द्रष्टव्य—प्रश्नो० २।१।४

२. **प्राणायामैर्दहेद् दोषान्** ॥—मनु० ६।७२

तीन ही भेद हैं—अथर्ववेद के प्राण-सूक्त में प्राणायाम का अभ्यासी आनेवाले श्वासप्राण को हितकारी मानता हुआ, नमस्कार करता है। अन्दर से बाहर जानेवाले प्राण के लिए नमस्कार करता है। अन्दर लेकर अर्थात् पूरकसहित स्थिर किये हुए प्राण को, इसी प्रकार रेचकसहित कुम्भक प्राण को नमस्कार करता है।[1]

उक्त दोनों मन्त्रों में तीनों प्रकार की प्राण-संचारक्रिया का वर्णन है जिसे साधक नमस्कार करता है। वर्तमान में भी प्राणायाम के सफल अभ्यासी इसी वैदिक भावना का निर्देश करते हैं कि अभ्यासी कोष्ठ-अन्तर्गत अपानप्राण को जिस समय प्रबल वेग से वमन-क्रिया के समान बाहर फेंके उस समय मानसिक संकल्प करे कि मेरे अन्दर से रजोगुण, तमोगुण का ह्रास हो रहा है। रेचक के साथ काम-क्रोधादि, आसुरी वृत्तियाँ बाहर निकल रही हैं। मेरा शरीर नीरोग हो रहा है, रोग के कीटाणु तीव्रता से बाहर जा रहे हैं। मेरे स्थूल शरीर में प्राणों का शोधन हो रहा है एवं प्राणवाहक नाड़ियाँ भी निर्मल हो रही हैं। द्वितीय प्राणायाम पूरक के द्वारा साधक बाह्य शुद्ध और शीतल प्राणवायु को जब अन्दर आकर्षित करे, तो साधक क्रिया के साथ मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाले कि अन्दर आता हुआ प्राण शीतलता के साथ सत्त्वगुण का संचार कर रहा है। मेरे अन्नमयकोश में सत्त्वगुण के साथ हल्कापन एवं कार्यशक्ति बढ़ रही है। प्राण बलवान् हो रहा है, प्राणशक्ति के साथ ही दैवी शक्तियों का संचार अन्दर हो रहा है। रोगकारक कीटाणुओं से टक्कर लेनेवाले, जीवनशक्ति प्रदान करनेवाले जीवाणु इस प्राणवायु से पुष्ट हो रहे हैं। साधक जब उक्त दोनों क्रियाओं के साथ पृथक्-पृथक् बाह्य कुम्भक या आभ्यन्तर कुम्भक करता है, उस समय सम्बद्ध प्राणायाम के साथ देर तक मनोवैज्ञानिक चिन्तन-भावना को बद्धमूल करता है जो कि साधक को शीघ्रकारी लाभ प्रदान करता है। साथ ही इस कुम्भक के द्वारा प्राणमय कोश के सभी अङ्ग प्राण-शक्ति प्राप्त करते हैं एवं सभी प्राणों का शोधन इसी कुम्भक के द्वारा

---

१. **नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।**
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥—अथ० ११।४।७
नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः॥
—अथ० ११।४।८

होता है। रक्त-शोधक फेफड़े शुद्ध प्राण से बलवान् रहते हैं और कुम्भक के द्वारा फेफड़ों के सभी कोष्ठों को प्राणवायु के द्वारा फूलने, तथा विकसित होने का अवसर मिलता है। इसके परिणामस्वरूप फेफड़ों के सभी रोगों का निवारण होता है। ऐसे हितकारी प्राणों को इसीलिए साधक स्तुतिसहित नमस्कार करता है।

वैदिक संहिताओं में प्राप्त मूलभूत तीन प्राणायामों का विकास उपनिषद्-काल में दृष्टिगोचर नहीं होता। परवर्त्ती काल में 'हठयोग' के आविष्कर्त्ता ने समय तथा परिस्थितियों के परिणामस्वरूप प्राणायाम को विभिन्न प्रकारों में विभाजित किया। उसीका सहारा लेकर तन्त्र-योग में इसके विभिन्न भेदों का आविष्कार हुआ। हठयोग प्रदीपिका में प्राणों को दो क्रियाओं में विभक्त कर दो प्रकार के प्राणायामों का अन्वेषण किया है। प्रथम—शरीर-शोधन सम्बन्धी, द्वितीय ध्यान-सम्बन्धी अर्थात् ध्यानादि योगानुष्ठान में सहायक। उक्त प्राणायाम की क्रियाओं से अन्नमय तथा प्राणमयकोश पर जो प्रभाव होता है, उसके अतिरिक्त अन्य कोशों का परिज्ञान भी सुलभ हो जाता है। यह प्राणविद्या सार्वभौम योगविद्या का प्रमुख अङ्ग है। प्राणायाम से होनेवाले लाभों को कोशानुसार प्रकरणों में लिखा जाएगा। यहाँ संक्षेप से स्थूल-शरीर एवं प्राणमयकोश-सम्बन्धी लाभों का परिगणन जिज्ञासुओं के लाभार्थ करेंगे।

प्राणोपासना का लाभ

प्राण का अर्थ है जीवनसाधन। आत्मा जब शरीर में आता है, तब उसके साथ प्राण भी आते हैं। प्राण के अन्दर आने और बाहर जाने से शरीर में आत्मसत्ता का बोध होता है। आत्मा शरीर को छोड़-कर चला जाए तो प्राण भी शरीर में नहीं रहते। आत्मा अभौतिक है, उसकी भूख को भौतिक पदार्थ नहीं मिटा सकते। फिर हम जो खाते-पीते हैं, पृथिवी से अन्न, फल, मेवे आदि के रूप में कर लेते हैं, जल-दूध आदि पेय पदार्थों का पान करते हैं, आग तापते हैं, कम्बल ओढ़ते हैं—यह सब किसके लिए? वेद उत्तर देता है—'हे प्राण। ये आग-

वायु-पानी-पृथिवीरूपी सारी प्रजाएँ तुम्हें कर दे रही हैं।[1]—इसका प्रमाण यह है कि खाने-पीने से शरीर पुष्ट होता है, इन्द्रियाँ प्रबल होती हैं, प्राण-शक्ति दृढ़ होती है। खाने या न खाने से आत्मा में वृद्धि या ह्रास नहीं होता। यदि खाना-पीना आत्मा के वृद्धि-ह्रास का कारण होते, तो सारे पेटू आत्मिक उन्नतिवाले होते, किन्तु पेटू महानुभाव तो केवल राक्षस धर्म का पालन करते हैं, खाते-पीते, मौज उड़ाते हैं। इसलिए खाना-पीना वास्तव में प्राण के लिए है। प्राणवायु और पेट की अग्नि मिलकर शरीरस्थ धातुओं को जब क्षीण करते हैं, उस समय भूख लगती है। तब अन्न आदि के द्वारा उसको मिटाना होता है। इस प्रकार जब वे शरीरस्थ जलतत्त्व को सुखाते हैं तब प्यास लगती है, उसे मिटाने के लिए पानी का सेवन करना होता है। यह भोजन और अन्न-पान करना, प्राण के प्रति कर प्रदान करना है।

किन्तु प्राण का कार्य केवल अन्न-पान लेना और उसे जीर्ण करना, फिर उसके लिए अपेक्षा करना ही नहीं है। भोजन और पान के समय यदि सूक्ष्मता से निरीक्षण करें तो प्राण रुक जाता है, श्वास की नली बन्द हो जाती है। उस समय यदि श्वास की नली खुली रह जाये, तो अन्न या जल श्वास की नली में चला जाता है और बहुत बेचैनी हो जाती है। वह बेचैनी तबतक नहीं मिटती, जबतक श्वास-प्रणाली में गया अन्न या जल बाहर न आ जाए। इससे सिद्ध होता है कि जहाँ जीवन, प्राण के आश्रय से है, वहाँ जीवन के लिए प्राण-निरोध भी अत्यन्त आवश्यक है। यदि प्राण की क्रिया न रुके, तो प्राण बलि नहीं ले सकता। नीचे से भार उठाते समय भी प्राण रोकने पड़ते हैं; यदि उस समय प्राण बाहर निकल जाएँ तो भार हाथों से गिर पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि 'प्राण-निरोध में बड़ा बल है।' कदाचित् इसी कारण मनु जी ने कहा है कि 'प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है।'

प्राण के इन और इसी प्रकार के अन्य रहस्यों को जो सुनता है, वह 'सुश्रवः' है। सुनना उसी का सफल है, जो प्राण की इन शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसे प्राण भी कर देता है। कर वही दिया करते हैं जो किसी के अधीन होते हैं, अर्थात् प्राण-ज्ञान प्राप्त करके जो

---

१. **यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।**
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः॥—अथ० ११।४।१९;
(स्वा० सं० पृ० १६६)

उनके अनुसार अनुष्ठान करते हैं, प्राण उनके अधीन हो जाता है, अतः प्राण को वश में करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

प्राण की सहायता से पाप पर विजय

ऋग्वेदीय ऋचा में कहा गया है कि—'सम्पूर्णदिव्यगुण जो पहले सखा थे वे पाप के श्वास से भयभीत होते हुए, तुझको छोड़ गये हैं। हे इन्द्र! ऐश्वर्याभिलाषिन् जीव! प्राणों के साथ तेरा सख्य हो तो इन सारे उपद्रवों को जीत सकता है।'[1]

आत्मा के अन्दर अनेक दिव्यगुण हैं। यथा दया, क्षमा, धृति, शौच, संयम, अहिंसा, सत्य, दम आदि। जबतक आत्मा में पाप का प्रवेश नहीं होता, ये गुण निरन्तर बढ़ते रहते हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का चतुर्वर्ग भी पवित्र आत्मा में अविरोधी भावों के साथ रहता है। चारों (**गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्**) मानों गुणों के प्रेम के कारण परस्पर मित्र बने हुए हैं। देवों का वृत्र के साथ सदा संग्राम रहा करता है। 'वृत्र' आच्छादक पाप को कहते हैं। पाप सद्गुणों का विरोध करता है। सद्-गुण पाप को मार भगाने का यत्न करते हैं। इस प्रकार आत्मा में द्वन्द्व छिड़ जाता है। जब आत्मा वृत्र की ओर अधिक झुक जाता है, तब वृत्र के वास के डर से, सारे दिव्यगुण जो पहले आत्मा के साथ थे, आत्मा को छोड़ जाते हैं। पाप की वृद्धि के साथ सब देव (दिव्यगुण) नष्ट हो जाते हैं। दिव्यगुणों के नाश के साथ आत्मा का क्या रह जाएगा?

यदि आत्मा की तथा दिव्यगुणों की रक्षा करनी है तो पाप को मार भगाओ। पाप को मार भगाने के लिए 'प्राणों के साथ, हे इन्द्र! तेरा सख्य होना चाहिए।'

प्राणों के साथ सख्य का अर्थ है, प्राण आत्मा के अनुकूल चलें। इस समय अवस्था यह है कि साधारण मनुष्यों को श्वास-प्रश्वास की गति का कोई ज्ञान नहीं है। वे परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार अन्दर आते और बाहर जाते हैं। आत्मा का शरीर में वास होने के कारण वे शरीर में बँधे अवश्य हैं किन्तु आत्मा की अनुकूलता से गति नहीं करते। यदि प्राण आत्मा की अनुकूलता से गति करें तो शरीर

---

१. **वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।**
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि॥
—ऋग्० ८।९६।७ (स्वा० सं० पृ० १६८)

में कभी रोग हो ही नहीं। प्राण यदि आत्मा के वश में हो, तो मन और इन्द्रियाँ भी आत्मा के वश में ही रहते हैं। यदि मन वश में आ जाय, तब इन्द्रियाँ तो अपने-आप वश में आ जाएँगी क्योंकि वे तो हैं ही मन के अधीन। प्राण के वश में होने से मन का वश में होना, अनुभव से भी सिद्ध होता है, अतः वेद कहता है **'अथेमा विश्वाः पृतना जयासि'** 'तब आत्मा इन सब उपद्रवों को जीत सकेगा। पाप से जितने उपद्रव पैदा होते हैं, उन सबका नाश प्राण की मैत्री=अनुकूलता से हो जाता है। इसका एक हेतु है, प्राण सबका स्वामी है जैसाकि अथर्ववेद में कहा गया है—'प्राण को नमस्कार, जिसके वश में यह सब कुछ है। इस सर्वस्वामी प्राण की मैत्री प्राणायाम से होती है।

प्राणायाम=प्राणनिरोध न करने से हानि

जैसाकि अथर्ववेद में कहा गया है कि 'जो तत्त्व-(ब्रह्मज्ञान)-प्राप्ति के जाननेवाले का शिष्य होता है वह प्राण का निरोध (प्राणायाम) करता है। यदि प्राणनिरोधक प्राणायाम नहीं करता है, तो सारी आयु की हानि उठाता है। यदि आयु की हानि नहीं उठाता, तो प्राण इसे बुढ़ापे से पूर्व छोड़ जाता है।'[1]

इस सन्दर्भ से सिद्ध हुआ कि—प्राणायाम न करने से मनुष्य की हानि होती है। प्राणायाम के बिना शरीर में वीर्य-रक्षा सम्भव नहीं है। वीर्य जीवन का सार है, जीवन का आधार है। इस जीवनाधार का आधार प्राणायाम है, अतः सिद्ध हुआ कि प्राणायाम का अभ्यास दीर्घजीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

प्राणायाम से मनोनिग्रह, जितेन्द्रियता एवं प्रज्ञालोक की प्राप्ति

प्राणायाम के अभ्यासी को वेदमन्त्र में प्राणायाम के लाभों का ज्ञान कराते हुए प्रेरणा दी गई है कि—"हे योगिन्! कोष्ठगत वायु-रूप प्राण को सर्वशरीर में व्याप्त होने के लिए प्रेरित कर एवं प्राण और अपान दोनों को पावन करता हुआ, उत्तमरूप से गति देता हुआ उनको भी प्रेरित कर। इस देहरूपी रथ पर सारथि बनकर स्थित ध्यान, संकल्पमात्र के वेग से जानेवाले इन्द्रियगणों के नेता मन को

---

१. स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि।—अथ० ११।३।५४
न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते॥—५५
न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसा प्राणो जहाति॥—५६

उत्तमरीति से प्रेरित कर। इस प्रकारप्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और जितचित्त होकर हे सोम विद्वन्! अज्ञान के नाश करनेवाले ज्ञानरूप वज्र को हाथ में लेकर ऋतम्भरावस्था में प्रज्ञालोक के उदित हो जाने पर सुखों के वर्षक उस आत्मा को साक्षात् कर।"[1]

प्राणायाम से योगानुकूल चित्तभूमि बनाना

'हे योगिन्! जिस प्रकार उत्तम लता के बीजवपन करने के लिए क्षेत्र को सुधारनेवाला हल आवश्यक है, उसी प्रकार चित्तभूमि को गोड़ने के लिए और उसमें विज्ञानरूप ब्रह्मज्ञानमय बीजवपन करने के लिए अपेक्षित जो योग के प्राणायाम आदि अङ्ग हलरूप हैं, उनका आदरपूर्वक हम उपयोग करते हैं।'[2] हल के 'ईषा' नामक दण्ड के समान प्राणापान दो प्राणों के द्वारा बुद्धि-आत्मा को जुआ एवं बैलों का स्थानीय समझ संयुक्त करते हैं। साथ ही मानस-प्रेरणारूप चितिशक्ति द्वारा योग करनेवाले योगीजनों को नमस्कार है, जिससे देह-बन्धन को काट डालनेवाली ब्रह्मानन्दवल्ली आत्मा को बन्धन से मुक्त करें।

उक्त रूपक के द्वारा आत्मा को क्षेत्र, प्राणों को लेखा (फ़ाल) माना है जो नाना वृत्तियों द्वारा उसमें पृथक्-पृथक् रूप से वर्तमान हैं; प्राण-अपान, उदान=व्यान बैलों के जोड़े हैं। इन सब देवों में सुख के संचाररूप आत्मा में ही ध्यानी पुरुष अपनी समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध अर्थात् योग करते हैं। इसकी पुष्टि यजुर्वेद का एक मन्त्र इसी रूप से करता है। यथा—

'विद्वान् पुरुषों में सुख के प्राप्त करनेवाले आत्मरूप क्षेत्र में विद्वान् दूरदर्शी लोक प्राणरूप हलों को युक्त करते हैं और ध्यानी पुरुष योग के अङ्गरूप जुओं को पृथक्-पृथक् प्राणरूप बैलों के कन्धों पर रखते हैं अर्थात् उनका पृथक्-पृथक् अभ्यास करते हैं।[3] आगे निर्देश है कि—

---

१. अभिवायुं वीत्यर्षा गृणानो३ऽभि मित्रावरुणा पूयमानः।
अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषणं वज्रबाहुम्॥
—ऋग्० ९.९७.४९; साम० १४२६

२. नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥—अथ० २।८।४ (योगा० पृष्ठ०-४४१-४४२)

३. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया॥
—य० १२।६७

'अभ्यास के द्वारा प्राणमार्ग से चलनेवाले मन को प्राणायाम-विधि से समृद्ध बलवान् करो ।'[1]

प्राणायाम से दृढ़ बल की वृद्धि

ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि 'योग से विभिन्न प्रकार की सिद्धि चाहनेवाले योगाभ्यासी पुरुष निरन्तर गमनशील प्राणों को नाड़ियों में 'कुम्भक' आदि उपयुक्त क्रियाओं से 'मूलबन्ध जालन्धर आदि बन्धों के साथ अवरुद्ध करते हैं तो शरीर में सम्यक् प्रकारेण रुधिर-संचार तथा सुदृढ़ बल का आधान होता है ।'[2]

प्राणायाय से वीर्य-रक्षा

कभी असत्य सिद्ध न होनेवाले, कभी अपने कर्तव्य से च्युत न होनेवाले दोनों शक्तिसम्पन्न प्राण औरअपान माधुर्य आदि गुणयुक्त वीर्यशक्ति को मुझ उपासक के शरीर में खपाने के लिए मेरे दान-आदानपूर्वक किये जा रहे जीवनयापनरूप यज्ञ में आकर सम्मिलित हों ।[3] तैत्तिरीयसंहिता में भी वीर्य को धारण करना योगयज्ञ का यजन माना है ।[4]

मन्त्र में आगत 'अश्वी' शब्द देवताओं के वैद्य कहे गये हैं । जिस प्रकार वैद्य रोगों का विनाश करने में दक्ष होता है, इसी गुण के कारण वैद्य को गद=रोग, हा=हनन करनेवाला अर्थात् गदहा कहते हैं । वैद्य के समान प्राणापान दोनों मिलकर संयत किये हुए वीर्यरक्षा में परम सहायक सिद्ध होते हैं, क्योंकि प्राण तथा वीर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, प्राण के स्थायित्व से वीर्य में स्थायित्व आता है ।

प्राणायाम से वीर्यरक्षा का प्रकार संहिताओं में अन्यत्र भी विशेषरूप से वर्णित है ।[5]

वेद में यह भी स्पष्ट किया है कि वीर्य दो प्रकार का होता है, एक (कृष्ण) गर्वित करनेवाला द्वितीय हर्षोल्लास देनेवाला । गर्वित करने-

---

१. ···बृहद् गायत्र वर्त्तनि स्वाहा ।—य० १२।६७
२. मरुतो वीळुपाणिभिश्चित्रा रोधस्वतीरनु ।
यातेमरिवद्रयामभिः ।।—ऋग्० १।३८।११
३. आ मे हवं नासत्याश्विना गच्छतं युवम् । मध्वः सोमस्य पीतये ।।
—ऋग्० ८।८५।१
४. सोमं यजति रेत एव तद् दधाति—तै० सं० २।६।१०।३
५. ऋग्० ८।८५।७, ८, ९; ऋग्० ८।९६।१७

वाले दूषित वीर्य की रक्षा करनी योग्य नहीं, साधक को तो शुद्ध वीर्य की रक्षा करनी श्रेयस्कर है। यथा—(कृष्ण)[१] पापी अर्थात् हानिकारक, गर्वित करनेवाला रस—दर्पकारी वीर्य अपने दससहस्र अर्थात् असंख्य दुर्भावों के साथ आकर कल्याणकारी वीर्यवती जीवन-नदी पर अधिकार करके बैठ गया हो। तब गर्वोद्धत करते हुए उस दूषित वीर्य को ऐश्वर्य का इच्छुक जीव अपनी श्रेष्ठ कर्मशक्ति के द्वारा अपने स्वामित्व में लेकर और 'कर्म का नेतृत्व'[२] करने वाली प्रिय मित्रभावनाओं को गुप्त रखकर धारण करे।[३]

प्राणायाम से रोगनाश

वेदों में प्राणविद्या का अत्यधिक महत्त्व अभिहित है। अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ४ में प्राण की बहुशः महिमा बतायी गई है। यह सब ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड उस प्राण के वश में हैं।[४] इस सूक्त में प्राण का शाश्वत यशोगान हैं। इसी प्रकार अन्यत्र[५] प्राणायाम को देवताओं का वैद्य कहा है, ये ही अश्विनीकुमार हैं। वहाँ प्रार्थना है कि—'हे अश्विनीकुमारो! मृत्यु को हमसे दूर करो, तुम देवों के भिषक् हो, शरीर को मत छोड़ो, यहीं वसो, जिससे मेरा यह शरीर नीरोग होकर शतायु हो।'

ऋग्वेद में कहा है कि संयमितवायु प्राणायाम ओषधिरूप है, कल्याण एवं सुख देनेवाला है और आयुवर्धक है। प्राण हमारे शरीर का पिता के समान पालन-पोषण करता है, मित्र के समान सुखकारी है। प्राण-वायु के घर=अन्तरिक्ष में जो अमरत्व है वह प्राण के स्थायित्व से शरीर में स्थापित होता है।[६]

प्राणायाम का अभ्यास विधिपूर्वक करने से अनेक लाभ होते हैं,

---

१. एतद्वै पाप्मनो रूपं यत् कृष्णम्। कृष्ण एव हि पाप्मा।
—मैत्रा० सं० २।५।६; काठक सं० १३।२

२. नृमणाः—कर्म-नेतृषु मनो यस्य—सायणाचार्य

३. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त॥
—ऋग्० ८।९६।१३, १४, १५

४. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।—अथ० ११।४।१

५. अथ० ७।५३।१

६. ऋग्० १०।१८६।१-३

परन्तु बिना सीखे अयुक्त विधियों से किया गया प्राणायाम अनेकों रोगों का जनक तथा वीर्यनाशक और शरीरतन्त्र को विनष्ट कर साधना में बाधक है, अतः वेद साधकों को हितकारी परामर्श प्रदान करता है कि—'योग्य सिद्ध-साधकों से प्राणायाम की विधि को सीखकर अभ्यास करना चाहिए।'[1]

ऐतरेय आरण्यक में प्राण की ध्यान-विधि

ऐतरेयारण्यक[2] के प्राणविद्याविषयक अध्यायों में ऋग्वेद के मन्त्रों का उल्लेख है। उनके अनुसार विश्व के देव, मनुष्य तथा पशु सभी प्राणी प्राणवायु से व्याप्त हैं। नस-नाड़ियों में, नासिका आदि द्वारा बार-बार आने-जानेवाला प्राणवायु अमृत कहा गया है।[3] इस प्रकार प्राण की विविध प्रशंसा कर उपासना की विधि का वर्णन है। प्राण को यहाँ गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ आदि ऋषिरूप मानकर, प्राणों में उक्त ऋषियों की भावना करना प्रतिपादित है। अन्यत्र यहाँ तक कहा कि 'जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद एवं उनके घोष हैं उन सबको प्राणरूप में समझना चाहिए तथा उनकी उपासना करनी चाहिए।'[4] प्राण को अहोरात्र तथा अग्नि आदि देवों का वागादि इन्द्रियों में निवास जानकर 'हिरण्यदन् वेद' ऋषि ने उसकी उपासना की थी उसका फल भी वहाँ वर्णित है।[5]

उपनिषदों में प्राणविद्या

सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ कौन है? इसका उत्तर उपनिषदों में अतीव हृदयग्राहिणी आख्यायिका के द्वारा दिया गया है। उपनिषदों में इस विषय का उल्लेख है।[6] उपनिषदों में प्राणोपासना अनेक भावनाओं के

---

१. ऋग्० ८।८६।३

२. द्रष्टव्य—**ऐतरेय आरण्यक में प्राणविद्या,** ले० पं० बलदेव उपाध्याय (योगांक पृ० ८७) ...**सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्**—ऐत० आर० पृ० १०८

३. ऋग्० १।१६४।१३; १०।१७७।३

४. ऐत० आर० २।२।१०, पृ० १२१

५. ऐत० आर० पृ० १०३-१०४

६. छा० उप० ५।१; को० २।१४; प्रश्नो० २।१।१३
छा० उप० ५।१।६।१५; ऐत० आ० २।१।४; प्रश्नो० १।७

द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से कही गयी है।[1]

योगदर्शन में प्राण-साधना

दर्शनों में प्राणविद्या को अध्यात्मविद्या का आवश्यक अङ्ग माना गया है। महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र के प्रथमपाद में[2] चित्तवृत्तियों के निरोध के सफल उपायों का परिशीलन करते हुए, प्राणायाम को मनोनिग्रह का प्रमुख अङ्ग बताया है। रेचक, कुम्भक तथा पूरक प्राणायाम की तीन विधियों से चित्त को एकाग्र करते हैं। भोजवृत्ति में 'प्रच्छर्दनविधारण' शब्द से उक्त तीनों प्राणायामों का ग्रहण किया है। प्राणायाम से समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों के निरोध द्वारा चित्त की एकाग्रता में समर्थता आती है। वृत्तिकार के मत में इन्द्रियों तथा मन के सभी दोषों का निराकरण प्राणायाम से होता है, ऐसा वेद में प्रतिपादित किया गया है।[3] दोषों के कारण ही विक्षेपवृत्ति उत्पन्न होती है, दोषों के निराकरण से एकाग्रतारूप सामर्थ्य आ जाता है। मन की एकाग्रता जिस कार्य में प्रयुक्त की जाती है उसी कर्म में सफलता मिलनी आवश्यक है। मन की एकाग्रता एवं निश्चिन्तता से सौमनस्य की वृद्धि होती है, सौमनस्यता देह के अङ्गों में इन्द्रिय-समूह में स्वस्थता-कार्यदक्षता पैदा करती है। इस कारण साधक के प्राणमयकोश तथा अन्नमयकोश दोनों मिलकर सम्पूर्ण स्थूलशरीर को स्वस्थ रखते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में सूक्ष्मशरीर का विवेचन करते हुए प्राणमयकोश का स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध वैदिक प्राणविज्ञान एवं प्राणमयकोश की साधना-पद्धति और प्राणायाम के लाभों का वर्णन किया गया है। अग्रिम अध्याय में मनोमयकोश का परिशीलन करेंगे।

---

१. छा० उप० १।११।५; ४।३।४; ७।१५।१; ५।१६।२४; को० २।१।५; श्वेत० १।४।५ आदि

२. **प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥**—यो० १।३४
द्रष्टव्य—व्या० भा० एवं भो० वृ०

३. **यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥**—ऋग्० १०।१६।२

तृतीय अध्याय

योगसाधना में मनोमयकोश की भूमिका

मनोमयकोश

सूक्ष्मशरीर में विद्यमान तृतीय मनोमयकोश का निर्माण आकाश-मण्डल में सर्वत्र विद्यमान मनस्तत्त्व से हुआ है। मनस्तत्त्व की शरीर में सर्वत्र विद्यमान शक्ति को मन नहीं 'मनोमयकोश' कहा गया है। मनोमयकोश में मन के साथ अहंकार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मनोमयकोश की स्थिति को तैत्तिरीय उपनिषद्[1] में भली-भाँति स्पष्ट किया गया है—

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।
तेनैष पूर्णः॥

अर्थात् प्राणमयकोश के अन्दर और उससे पृथक् तत्त्व मनोमय-तत्त्व है। उस मनोमय से यह प्राणमयकोश परिपूर्ण है तथा उसकी आत्मा है। व्यष्टिरूप इस मनोमयकोश का जिससे निर्माण हुआ है, जो आकाश में सर्वत्र व्यापक है, उसे वर्तमान में 'विश्वमानस' संज्ञा दी गई है। सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का प्रकाश महर्षियों के मानस में सृष्टिकर्ता परमात्मा से आई हुई इन्हीं मानस-तरंगों से हुआ। इस समष्टि का एक व्यष्टिरूप अंश मानव के हृदय में स्थित 'मन' है।

मनोमयकोश का स्वरूप

ऋग्वेद में विविध विभक्तियों में मनस् शब्द का लगभग २३८ बार, यजुर्वेद में ८२ बार, सामवेद में २१ बार और अथर्ववेद में १६४ बार प्रयोग हुआ है। विविध विभक्तियों में मनः शब्द के प्रयोग इसके विविध

---

१. तैत्तिरीयो० ब्रह्म०, अनु० ३

कार्यों के द्योतक हैं। पुरुषसूक्त में शरीर और ब्रह्माण्ड की एकता दिखाते हुए कहा गया है कि 'इस शरीररूपी पिण्ड में मन चन्द्रमारूप है।'[1] इस मान्यता की पुष्टि ऐतरेय उपनिषद् में की गई है कि, 'चन्द्रमा-मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ।'[2] यहाँ चन्द्रमा से मन की उत्पत्ति अभिहित होने से सिद्ध होता है कि जिस महत्तत्त्व से मन की उत्पत्ति होती है वह चन्द्रमा की आभा के समान ज्योतिर्मान शुभ्र तत्त्व है जिसको कि यजुर्वेद[3] भी स्वीकार करता है।

कार्यानुसार मन का विभाजन

ऊपर प्रदर्शित मनः शब्द की संख्या से परिज्ञान होता है कि संहिताओं में मन का अत्यन्त विशाल कार्यक्षेत्र है। यहाँ हम यजुर्वेद के चौतीसवें अध्याय के प्रथम छह मन्त्रों के आधार पर मनोमयकोश का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे। इन छह मन्त्रों में मन के कार्यों का विवरण निम्न तालिका से स्पष्ट होता है[4]—
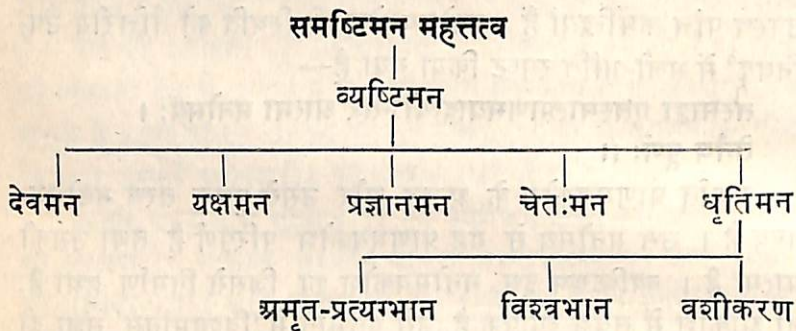
देवमन

प्रथम मन्त्र[5] में देवमन का कार्य एवं शक्ति का वर्णन है। प्रकाशमान और विषयों के प्रकाश का साधन होने के कारण नेत्रादि को देव कहा

---

१. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायतः॥
—ऋग्० १०।९०।१३; यजु० ३१।१२

२. चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्॥—ऐत० १।२।४

३. यजु० ३४।१

४. सरस्वती, आत्मानन्द : मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प—पृ० ५७—६०

५. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥—यजु० ३४।१

गया है। नेत्रादि देवों का सहयोग लेकर आत्मा तक, जो विषयों को प्रकाशित करता है, उस मनस्तत्त्व को देवमन कहा गया है। अन्तःकरण का यह भाग देवों का स्वामी होने के कारण भी देव कहलाता है। सम्पूर्ण शरीर का आत्मा अधिपति—राजा है और देवमन उसका प्रधानमन्त्री है। आत्मा शरीर के हृदयदेश में रहता हुआ कर्मफल के अनुसार सुख-दुःख का भोग करने के लिए भोग्य संसार से सम्बन्ध रखता है, इस सम्बन्ध के लिए अपने निकटवर्ती देवमन का सहयोग लेता है। देवमन भी दहर-पुण्डरीक [हृदयकमल] में रहकर शरीर में कार्य करता है। 'कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच और उदर के ऊपर जो 'हृदयदेश' है, जिसको 'ब्रह्मपुर' अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार-वेश्म [हृदय नाशपाती के समान है, उसमें बना गर्त बेदाना छोटे अंगूर के समान परिमाण का है] अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, जिसे दहर-पुण्डरीक=हृदयकमल कहते हैं।[1] बाह्य विषयों से सम्बन्ध करने में अशक्त होने के कारण यह नेत्र आदि सेवकों का सहारा लेता है। नेत्रादि का बाह्य विषयों से सम्बन्ध होने के कारण इन्हें बाह्यकरण [साधन] कहते हैं और अन्तःपुर शरीर में आत्मा का पूर्ण सहयोग देने के कारण इनको अन्तःकरण कहा गया है। उक्त ऐश्वर्य से सम्पन्न आत्मा को वेद में इन्द्र कहा गया है।

इन्द्र [आत्मा] से देवमन में प्रेरणा पाकर बाह्य करणों के कार्य करवाता है, अतः बाह्य करणों की इन्द्रिय संज्ञा पड़ी है। व्याकरणानुसार इन्द्रिय[2] शब्द को निपातन, इन्द्र [आत्मा] का लिंग, इन्द्र से दृष्ट, इन्द्र से सृष्ट अर्थात् आत्मा के शुभाशुभ कर्म से उत्पन्न, इन्द्र द्वारा सेवित, इन्द्र द्वारा दत्त अर्थात् आत्मा द्वारा विषयों के याथातथ्य-ग्रहण करने के लिए दिया, इत्यादि अर्थों में किया गया है। ज्ञान का साधन होने के कारण इनका ज्ञान-इन्द्रिय नाम है। ये नासिका, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र, पाँच इन्द्रियाँ हैं। मन का कार्यक्षेत्र बाहर नहीं, अन्दर ही है। इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञान आदि गुणों का साक्षात्कार आत्मा को इसी इन्द्रिय समूह के माध्यम से होता है। प्रथम

१. पथिक ब्रह्मचारी जगन्नाथ: **सन्ध्यायोग और ब्रह्म साक्षात्कार**—पृ० १५१
२. **इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा॥**
—अष्टा० ५।२।९३

मन्त्र में इसके कार्यों को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि यह देवमन जागते हुए तथा सोते हुए व्यक्ति का दूरदेशों में जाकर विविध प्रकार का चिन्तन करता है। ज्योतिस्वरूप इन्द्रियों का एकमात्र प्रकाश यह देवमन है।

यक्षमन

द्वितीय मन्त्र[1] में यक्षमन का वर्णन है। यह यक्षमन कर्मेन्द्रियों का स्वामी है। कर्मेन्द्रियाँ इसीके नियन्त्रण में होकर कार्य करती हैं। मनुष्य अपने जीवन में जितने देवयज्ञ, भूतयज्ञ और ज्ञानयज्ञ आदि का अनुष्ठान करता है, उन यज्ञों में यही यक्षमन यजमान का कार्य करता है। यद्यपि मन एक ही है परन्तु अवस्थाभेद से और कार्यभेद से यह कई भागों में विभक्त है। देवमन सत्त्वगुणप्रधान होता है, उससे सम्बन्धित सभी ज्ञानेन्द्रियाँ भी सत्त्वगुणप्रधान भूतों से निर्मित हैं, परन्तु इस यक्षमन का निर्माण रजोगुणप्रधान भूतों से होता है, अतः यह रजोगुण प्रधान होने से गति का केन्द्र है। उक्त यज्ञों से यह यक्षमन यजमान बनता है और अपनी सहायता के निमित्त अन्य ऋत्विजों का वरण करता है। वे ऋत्विक् पाँच हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ। ज्ञानेन्द्रियों के समान इन्द्र—आत्मा का सहयोग ये कर्म के द्वारा करती हैं इसलिए इनको कर्मेन्द्रियाँ कहते हैं।

मन इन्द्रियों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म तथा शक्तिशाली है और आत्मा के निकट है। वह स्वच्छसत्ता का पुञ्ज है अतएव स्वयं चेतन न होता हुआ भी आत्मा के चैतन्य गुण के प्रभाव को झटिति-शीघ्रता से ग्रहण कर लेता है तथा चेतनवत् कार्य प्रारम्भ कर देता है। इसकी पहुँच इन्द्रियों तक है, अतः प्राणतन्तुओं के द्वारा इन्द्रियों को प्रेरितकर आत्मा की इच्छाओं को पूर्ण कराने का कार्य इसी मन का है।

प्रज्ञानमन

प्रज्ञान, चेतः तथा धृति तीनों मनरूपशक्तियों का निरूपण करनेवाला

---

१. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥—यजु० ३४।२

यह तृतीय मन्त्र है ।[1] प्रज्ञानमन मस्तिष्क में रहकर कार्य करता है जिसे बुद्धि कहते हैं । बुध् अवगमने धातु से क्तिन् प्रत्यय[2] करने पर 'बुद्धिः' शब्द सिद्ध होता है । प्रकृष्ट अर्थवाले 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा अवबोधने' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय[3] करने पर 'प्रज्ञान' प्रकृष्ट ज्ञान का साधन मन बनता है और 'बुध् अवगमने' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर बुद्धिः शब्द का अर्थ भी ज्ञान के साधन का वाची है ।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जो विषय प्रकाश में आते हैं, तर्क की कसौटी पर रखकर उनकी परख इसी मन के द्वारा हुआ करती है । यही मनन, निदिध्यासन की सब क्रियाओं में सहायक है । ज्ञानेन्द्रियाँ अपने द्वारा जो अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त कराती हैं, उन सबका ज्ञानाकार तथा प्रभाव चित्त पर पड़ता है, परन्तु वही विषय स्थायी रहते हैं जिनको यह प्रज्ञान-मन अपने अधिकार में लेकर कार्यरूप में ले आता है । अनुभूत विषय का युक्ति-प्रमाणों से चिन्तन-मनन करते हुए निश्चय-कोटि पर पहुँचना प्रज्ञान मन का ही कार्य है । तृतीय मन्त्र में पहला पद 'यत्-प्रज्ञानम्' है अर्थात् मन का एक भाग वह है जिसे दार्शनिकभाषा में प्रधान या बुद्धि कहते हैं । मन्त्र में प्रयुक्त 'यज्ज्योतिरन्तः' पद इस मन का लक्षण लक्षित करते हैं कि 'यह मन अन्तर्ज्योतियुक्त अथवा प्रकाशरूप है, परन्तु तमोगुण से धुँधला हो जाता है।

चेतस् मन

तृतीय मन्त्र में प्रयुक्त 'चेतः' पद के द्वारा इस मन की वेदमूलकता सिद्ध होती है । दार्शनिक परिभाषा में इसे 'चित्त' कहा जाता है । चेतः शब्द[4] 'चिति संज्ञाने' से 'असुन्' प्रत्यय करने पर तथा चित्त शब्द 'चिति संज्ञाने' से 'क्त' प्रत्ययान्त है । एक धातु से निष्पन्न दोनों शब्द समानार्थक हैं । चेतस् मन अन्तःकरण का वह भाग है जिसपर देवमन के द्वारा हुए अनुभवों और यक्षमन के क्षेत्र में होनेवाले कर्मों के संस्कार

---

१. **यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।**
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥
—यजु० ३४।३

२. **स्त्रियां क्तिन्**—अष्टा० ३।३।९४

३. **करणाधिकरणयोश्च**—अष्टा० ३।३।११७

४. **सर्वधातुभ्योऽसुन्**—उणादि० ४।१८९

अंकित रहते हैं। पुराने अनुभवों का स्मरण चित्त पर पड़े हुए संस्कारों के आधार पर ही हुआ करता है। यह चेतस् मन स्मरण करते समय मस्तिष्क में फैले हुए ज्ञानतन्तुओं से कार्य लेता है, अतः इस चेतस्मन का स्थान मस्तिष्क में ही सम्भव है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभूत विषय संस्कार के रूप में चेतस्मन पर अंकित होते हैं, साथ ही ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव-केन्द्र मस्तिष्क में विद्यमान हैं इस कारण भी चेतस्मन का स्थान मस्तिष्क में होना उपयुक्त है। चेतस्मन का कार्यबोधक पद मन्त्र में 'अमृतं प्रजासु' आया है, जिसका तात्पर्य है कि इस मन में अनेकों वृत्तियाँ उत्पन्न होती और विनष्ट होती रहती हैं। वृत्तियों के नष्ट होने पर भी उनका कुछ प्रभाव शेष रह जाता है, उसे वासना या संस्कार कहते हैं। बद्धमूलवृत्तियों को ही संस्कार कहते हैं। ये वृत्तियों की तरह नष्ट नहीं होते और जन्म-जन्मान्तर में भी चित्त का अङ्ग बने रहते हैं। जब आत्मा प्रतिपक्षी [विरोधी] भावनाओं से इनको उखाड़ने का प्रबल प्रयत्न करता है, तभी ये विनाश को प्राप्त होते हैं। इन संस्कारों की जन्मजन्मान्तर तक स्थिति के कारण ही वेदमन्त्र में इस मन को भी अमर कहा गया है। इस मन की स्थिति एक कूप के समान है, जिसमें छोटे-बड़े असंख्य जलजन्तु हों। उनमें कौन-सा जन्तु किस समय ऊपर आकर दिखायी दे जाए तथा किस समय पुनः विलुप्त हो जाए इसका अनुमान लगाना दुस्तर है। इसी प्रकार चेतस् मन की गम्भीरता का कोई पारावार नहीं है। जन्मजन्मान्तरों से सञ्चित संस्कारों में से कौन-सा संस्कार कब प्रकट हो जाए तथा इनका स्थान कहाँ है? इसका कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

धृतिमन

तृतीय मन्त्र में अभिहित धृतिमन की सत्ता को बृहदारण्यक-उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने मन का ही भेद स्वीकार किया है—काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय, ये सब मन ही हैं।[1] इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक में धृति को विज्ञान और विज्ञान को मन का भेद माना है।[2] मन्त्र में धृतिमन की शक्ति का

---

१. कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव॥—बृह० १।५।३

२. द्रष्टव्य—ऐत० आ० २।६।१

परिचय दिया गया है कि—

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते ।

धृतिमन के विना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता अर्थात् किसी भी शारीरिक शक्ति द्वारा संसार में जो कोई कार्य होता है उस सबमें धृतिमन का सहयोग होता है। गीता में धृति की सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी तीन श्रेणियाँ बतायी हैं—

जिस धृति से योगीजन योग के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया पर नियन्त्रण करते हैं और जो धृति अपने विषय से कभी विचलित नहीं होती, वह सत्त्वगुणमयी धृति होती है।[1]

जिस धृति के द्वारा मनुष्य, प्रसंग से फल की इच्छा करता हुआ धर्म, अर्थ और काम पर नियन्त्रण करता है, वह रजोगुणमयी धृति है।[2]

जिसके द्वारा नींद, भय, शोक, खेद और अभिमान के पंजे में मनुष्य फँसा रहता है, वह तमोगुणी धृति कहलाती है।[3]

इसका आशय यह निकला कि संसार में मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा जो भला-बुरा कार्य करता है या मन तथा प्राणों की कोई भी क्रिया होती है सब पर धृतिमन का नियन्त्रण रहता है।

धृतिमन के अङ्ग

१. **प्रत्यग्भान मन**—यह मन धृतिमन का ही एक अङ्ग है इसलिए चतुर्थ मन्त्र[4] में पृथक् नाम नहीं दिया गया है। धृतिमन पर तीनों गुणों का प्रभाव गीता के माध्यम से प्रदर्शित किया था, परन्तु वस्तुतः सत्त्व, रजस् और तमोगुण तीनों गुणों की वेदमूलकता ४—६ मन्त्रों में प्रदर्शित की गयी है। उसका सामान्य विश्लेषण गीता के श्लोकों में आया है। सत्त्वगुणप्रधान धृतिमन ही 'प्रत्यग्भान मन' कहा जाता है। सत्त्वगुण

---

१. **धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।**
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥—गीता १८।३३

२. **यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।**
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥—गीता १८।३४

३. **यथा स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।**
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥—गीता १८।३५

४. **येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।**
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥—यजु० ३४।४

के प्रभाव से इसकी शक्ति बढ़ जाती है, जिससे आत्मा के गुण, ज्ञान की आभा झलकती है। इस झलक के कारण यह मन ज्ञानी न होता हुआ भी ज्ञानी-सा प्रतीत होता है, इस गुण के परिणामस्वरूप भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों के ज्ञान की शक्ति का अनुभव करने लगता है। आत्मा के लिए प्रयुक्त 'अहम्' शब्द का अनुभव इसी प्रत्यग्भान मन में होता है। इसीलिए मन की इस अवस्था का नाम 'अहंकार' भी पड़ जाता है। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ने अहंकार का नाम 'प्रत्यग्भान' स्वीकार किया है। उन्होंने उल्लेख किया है कि 'प्रत्यक्' नाम आत्मा का है। आत्मा का भान अन्तःकरण में होता है, अतः मन की इस अवस्था का नाम 'प्रत्यग्भान' दिया है। अजर-अमर आत्मा के गुण ही प्रत्यग्भान मन का निर्माण करते हैं, इसलिए वेदमन्त्र में इसे 'अमृत' कहा है। मन्त्र में प्रयुक्त **'येन यज्ञस्तायते सप्त-होता'** वाक्य से स्पष्ट होता है कि यह मन सात होताओं के द्वारा ज्ञानयज्ञ या योगयज्ञ को विस्तृत करता है। प्राण तथा ज्ञानेन्द्रियों का नियन्ता धृतिमन होने के कारण इन्हीं को 'सप्त होता' माना गया है। 'सप्त होता' के निश्चय करने में अन्य मत भी है—आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री ने मनोविज्ञान के अनुसार मानस व्यापार में प्रत्यक्ष से विचार पर्यन्त होनेवाली सात क्रियाओं को 'सप्त होता' बताया है। वे सात क्रियाएँ निम्न हैं—

१. प्रत्यक्ष (Perception)
२. विवेचन (Discernment)
३. सम्मेलनीकरण (Composition)
४. विचार-निर्माण (Ideation)
५. संधारण (Retention)
६. तुलनाकरण (Comparision)
७. निष्कर्षीकरण (Abstraction)

प्रत्यग्भान मन के संसर्ग से आत्मा को जो निर्भ्रान्त ज्ञान मिलता है, उससे आत्मज्ञान की वृद्धि होती है, अतः यह मन आत्मा के लिए परमोपयोगी तत्त्व है।

२. विश्वभान मन—धृतिमन का द्वितीय अङ्ग विश्वभान मन ईश्वरीय विभूतियों का केन्द्र है, पूर्ववर्णित प्रत्यग्भान-मन आत्मिक विभूतियों का केन्द्र कहा जा चुका है। इस मन की शक्तियों का स्पष्टी-

करण पञ्चम मन्त्र[1] में किया गया है कि—इस विश्वभान मन के अन्दर ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद—वेदत्रयी के ज्ञान इस प्रकार से ओत-प्रोत हैं जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे। सब प्राणियों के व्यष्टि-मन भी इसी विश्वभान मन में अनुस्यूत हैं।

जिस योगी के मन में जब भगवान् के ज्ञान का विकास हो जाता है तब इस मन का धनी यह विचार करता है कि परमेश्वर हर समय प्राणिमात्र का कल्याण कर रहा है, फिर वह भी जनकल्याण की भावना से अभिप्रेरित हो कल्याणकारी कार्यों में तत्पर हो जाता है। वह प्राणिमात्र के कष्टों को निज कष्टों के समान अनुभव करता है, उस समय उसका मन 'विश्वभान मन' हो जाता है। इस मन के प्रभाव से संसार के प्राणी उसे मित्र की दृष्टि से देखते हैं।

३. वशीकरण मन—विश्वभान-मन की उत्कृष्ट अवस्था का नाम ही वशीकरण मन है अर्थात् विश्वभान में जब भगवान् की शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं तो वह ज्ञान का भण्डार होकर प्राणियों के आकर्षण की शक्ति को धारण कर लेता है। आकर्षण-शक्ति का जब और अधिक प्रभाव हो जाता है तो उस योगी में सच्चे नेता=युगप्रवर्तक के गुण आ जाते हैं, जिसके बल पर वह अपने सन्देशानुसार मानवजाति को अभीष्ट विचार धारा में मोड़ सकता है। अन्तःकरण की इस शक्ति का नाम 'वशीकरण' है। यह वशीकरण-मन सर्वप्रथम निज अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करता है, तदनन्तर प्रबुद्ध शक्ति से अन्यों को वश में करता है। मन की कार्यशक्ति के अनुरूप वशीकरण संज्ञा है। मन की वशीकरण संज्ञा को व्यासभाष्य में स्वीकार किया गया है—

निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकार-संज्ञायां वर्तमानस्य।[2]

अर्थात् जब बुद्धि के सत्त्व से रजोगुण तथा तमोगुण दूर हो जाते हैं उस समय बुद्धिपदार्थ में अत्यन्त स्वच्छता आ जाने पर उसकी वशीकरण संज्ञा होती है। भोजवृत्ति में भी मन की इस उच्चावस्था को

---

१. **यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।**
यस्मिँश्चित्तँ सर्वमोतंप्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
—यजु० ३४।५

२. व्या० भा०—यो० ३।४९

'वशीकार' संज्ञा दी गई है।[1]

वशीकरण-मन की शक्तियों का परिचय छठे मन्त्र[2] में दिया गया है। मन्त्र में प्रयुक्त 'सुषारथि' पद से स्पष्ट है कि जैसे कुशल सारथि रथ पर आरूढ़ होकर स्वयं को सँभालता हुआ रथ के वाहक अश्वों को रस्सी के द्वारा नियन्त्रित करके रथ को यथेच्छ सुमार्ग पर चलाता है, तद्वत् वशीकरण-मन स्वयं निजशक्तियों को स्थायीभाव से विकसित कर पहले अपने शरीररूपी रथ को नियन्त्रण में करता है, तदुपरान्त प्राणिमात्र को अपनी वशीकरणशक्ति से वश में करता है। मन्त्र के तीन शब्द इस मन की अन्य स्थितियों के परिचायक हैं, यथा 'हृत्प्रतिष्ठम्' यह मन हृदयदेश में स्थिर होकर सब कार्य करता है; 'अजिरं' मन की ये शक्तियाँ क्षीण न होनेवाली हैं, सदैव कार्यशील रहती हैं; 'जविष्ठम्' वेगवाची जव=शब्द से अतिशय अर्थ में 'इष्ठन्' प्रत्ययान्त[3] है। यह शब्द मन की अतिशय-गति का द्योतक है अर्थात् यह अपने लक्ष्य पर अतिशीघ्रता से पहुँच जाता है।

मन की महिमा यजुर्वेद में अन्यत्र भी मिलती है।[4] एक मन्त्र में साधक-ज्ञानी मनुष्य के सहयोग से तथा पितरों के द्वारा मन का आह्वान बारबार विद्यादिगुणों की प्राप्ति हेतु किया गया है। द्वितीय मंत्र में मन को शुभ-कर्म, बलप्राप्ति तथा जीवनशक्ति का साधन बताया गया है।

मनोनिग्रह की बाधा

उक्त देवमन का परिचय देते हुए वेद के मन्त्रानुसार कहा गया है कि यह मन सोते-जागते हुए दूर-दूर तक चला जाता है। उसको शुभ-संकल्पों में निरत करने की प्रार्थना की गयी है। वास्तव में मन की एकाग्रता सभी सफलताओं एवं उन्नतियों की मूल है और क्षिप्त-विक्षिप्त

---

१. द्रष्टव्य—**भोजवृत्तिः** —यो० ३।४९

२. **सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।**
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥—यजु० ३४।६

३. **आतिशायने तमबिष्ठनौ॥**—अष्टा० ५।३।५५

४. **'मनोन्वाह्वामहे नाराशँसेन स्तोमेन। पितॄणां च मन्मभिः॥**
—यजु० ३।५३

'आन एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥
यजु० ३।५४

मन सभी असफलताओं तथा अवनतियों का कारण है। प्रत्येक मनुष्य का नित्य का अनुभव है कि कर्ण, चक्षु, मन आदि इन्द्रियाँ किसी कार्य में स्थिर नहीं रहते। किंचिन्मात्र अवसर मिलते ही झट से इधर-उधर भागने लगते हैं, ऐसी अनवस्थित दशा में मनुष्य सूक्ष्म-कार्य कदापि नहीं कर सकता, परिमाणस्वरूप उसे अनेकों बाधाओं का सामना करना पड़ता है और वह दुःखी हो जाता है। ऐसी विपन्नावस्था में भक्त वेद के शब्दों से अपनी हताश अवस्था में विनय करता है—"प्रभो ! मेरे दोनों कान इधर-उधर अनिच्छित दिशा में जाते रहते हैं, मेरी आँखें भी न देखने योग्य दृश्य को देखने के लिए दौड़ जाती हैं। इसके साथ ही मेरे हृदयाकाश में निहित ज्योतिर्मय-ज्ञान है, वह भी इधर-उधर भाग रहा है और जब मैं मन को एकाग्र करने का प्रयास करता हूँ तो न जाने यह कहाँ-कहाँ दूर-दूर चला जाता है। ऐसी विक्षिप्त अवस्था में भगवन् ! मैं क्या सोचूँ और क्या विचार करूँ ?[1]

सुमनस्कता की उत्सुकता

साधक का सम्पूर्ण शरीर ही जब साधना के लिए बाधक बन जाता है, और मन सदैव बहिर्मुख रखता है तो साधक इस अवस्था के निवारण के लिए वरुणदेव से प्रार्थना करता है—'प्रभो ! मेरा शरीर मेरे अनुकूल न रहने के कारण मुझे सफलता मिलने में सन्देह हो रहा है, अतः आज मैं अपने शरीर से ही संवाद कर रहा हूँ कि शरीराङ्ग कब मेरे अनुकूल होंगे ? कब मेरा मन अन्तर्मुख होकर वरुण के ध्यान में निमग्न होगा ? क्या इस आध्यात्मिक योगयज्ञ में वरुणदेव क्रोधरहित होकर मेरी आत्महवि को स्वीकार करेंगे ? पता नहीं कब मेरी चित्त-वृत्तियों का निरोध होगा और कब एकाग्र निश्चिन्तमनस्क होकर अपने सुखकारी देव का दर्शन करूँगा ?[2]

---

१. वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वी३दं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूरआधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

—ऋग्० ६।९।६

२. उत स्वया तन्वा३सं वदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥

—ऋग्० ७।८६।२

मनोनिग्रह में बाधक-तत्त्व

योगाभ्यास के लिए तत्पर साधक उक्त प्रकरणानुसार जब मन को विक्षिप्त करनेवाले कारणों को स्वयं जान नहीं पाता और प्रयास करते हुए भी सफल नहीं होता, निरन्तर दुःखित होता जाता है तो वेदमाता साधक के प्रति हितकारिणी भावना से साधना के बाधक कारणों को सुझाती है, जिससे योगाभ्यासी हताश न हो और आगे बढ़ता रहे।

मानसिक उपासना में काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा की भावनाएँ उपासक को भयभीत, अशान्त रखती हैं[१]। भोगैषणा, अदानशीलता, अतृप्तता व्याकुल बनाती हैं[२]। इसी प्रकार क्रोध करना, उग्रवचन बोलना[३], लोभ करना[४], आदि प्रमुख दुर्गुण मानसिक साधना में अत्यन्त बाधक हैं। ये मनोदूषक कामादि विकार विविध प्रकार से साधक के मन को विक्षिप्त करते हैं। इसलिए वेदों में इन आन्तरिक शत्रुओं का नाश करने की प्रार्थना परमेश्वर से की गई है।[५] मानसिक दुर्भावनाओं का नाश करके ही मन का निग्रह किया जा सकता है, इसलिए साधक इनको मूल में ही समाप्त करना चाहता है कि 'हे परमेश्वर! जो दुर्भावनाएँ हमारे साथ संग्राम कर रही हैं, उनका आप हनन कीजिए। ये दुर्भावनायें एक-एक नहीं, सेना बनाकर हमारे ऊपर आक्रमण करना चाहती हैं; वैसे ये संस्काररूप में ही हैं अभी उद्बुद्ध नहीं हुईं, इन्हें नीचे ही दबा दीजिए ताकि ये उद्बुद्ध न होने पाएँ। जो दुर्भाव हमें साक्षात् दास बनाये हुए हैं, उस तामसिक नीच भाव को हमसे दूर कर दीजिए।[६]

---

१. साम० ५५०; ऋग्० ९।१००।१; साम० १०७०; ऋग्० ९।१००।७; साम० ११८४; ऋग्० ९।८।७; साम० ११९४-९५; ऋग्० ९।१३।८; ९।१३।९; साम० १३६३; ऋग्० ८।३।१६

२. साम० ५५५; ऋग्० ९।७९।१; ऋग्० ८।९३।२

३. साम० ३५३

४. साम० ५४५, १३९०; ऋग्० ९।१०१।१; ऋग्० ८।२१।१४

५. साम० १४५१; १८०६; ऋग्० ८।९३।२; ८।२।१५; १०।१५२।१-३

६. **वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।**
यो अस्मा अभिदासत्यधरं गमया तमः॥—साम० १८६८;
ऋग्० १०।१५२।४

आन्तरिक शत्रुदमन का उपदेश

उक्त मन्त्रों में की गई दुर्भावनाओं के विनाश की प्रार्थनाएँ स्वीकार कर, प्रभु, योगजिज्ञासुओं की मानसिक उपासना का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उपायपूर्वक आन्तरिक शत्रुओं के संहार का उपदेश देता है कि—'योगिन् ! तेरा प्रथम शत्रु मोह जो राग से उत्पन्न होता है, वह तुझे उल्लू के समान अज्ञानान्धकारप्रिय बनाये हुए है। इसी प्रकार द्वेष से उत्पन्न होती है—क्रूरता, हिंसामय प्रवृत्ति और क्रोध। ये भावनाएँ तेरे द्वारा भेड़िये जैसा व्यवहार कराती हैं इनको मार दे, विनष्ट कर दे। जो तेरे अन्दर चाटुकारिता एवं स्वजाति-द्रोह की भावना ईर्ष्या—मत्सर है यह कुत्ते का स्वभाव है। कोक=चिड़ा या हंस के समान अतिकामासक्ति को त्याग दे। अपनी उड़ान पर घमण्ड करनेवाले गरुड़ पक्षी के समान अहंकार तथा गिद्ध के समान विना परिश्रम पराये धन की प्राप्ति की लोभ-लालची वृत्ति को योगाभिलाषी, समूल समाप्त कर दे, हे इन्द्रियों के स्वामी इन्द्र जीवात्मन् ! इन राक्षस-वृत्तियों को पत्थर के समान कठोर दृढ़मानसिक भावनाओं से मसल दे, पीस दे।[1] साथ ही 'आगे से, पीछे से, नीचे से, ऊपर से, सब ओर से इन राक्षसीवृत्तियों को वज्र से मार दे।[2]

आलस्य-संशयादि से बाधा

साधना में आलस्य करना अत्यन्त घातक है,[3] प्रमाद एवं आलस्य मानव का महान् शत्रु है। देवलोग, विद्वान्योगी न स्वयं आलस्य करते हैं और न आलसी साथी या शिष्य को ही चाहते हैं। परमात्म-सत्ता में[4] संशय करनेवाले "किमीदिना"[5] भाव या पुरुष साधना में

---

१. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥—अथ० ८।४।२२; ऋग्० ७।१०४।२२

२. प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि जहि रक्षसः पर्वतेन॥
—ऋग्० ७।१०४।१६

३. उत घा नेमो अस्तुतः···—ऋग्० ५।६१।८
इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं···—ऋग्० ८।२।१८; साम० ७२१

४. मा नो रक्षो अभि···—ऋग्० ७।१०४।२३

५. किमीदिना—किमिदं किमिदमिति वादिनः

अत्यन्त घातक हैं। इनके आक्रमण साधक को निरुत्साहित कर अकर्मण्य, निस्तेज बना देते हैं। जो शंकालु कहता है कि किसने देखा है[1] वह इन्द्र ? हम प्रत्यक्ष में किसकी उपासना करें ? वह तो है नहीं इस प्रकार शंका रखनेवाला शंकालु अपरिपक्वमतिवाला-अधूरा है। संशय के दुर्गुण से युक्त मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता, उपासना तो दूर रही।

योगसूत्रों में योग के विक्षेप

वैदिक संहिताओं में आगत योगसाधना में बाधक तत्त्वों का संग्रह पतञ्जलि मुनि ने एक ही सूत्र में कर दिया है।[2] बात-पित्त-कफरूप धातुओं, खाये-पिये भोजन से निर्मित रस और इन्द्रिय आदि करणों की विषमता से शरीर में होनेवाली व्याधियाँ बाधक हैं। इनका वर्णन अन्नमयकोश के बाधक तत्त्वों में कर दिया है। चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् साधना से जी चुराना=मुझे योग में सफलता मिलेगी या नहीं, इस प्रकार दोनों कोटियों का आलम्बन करनेवाला ज्ञान, संशय कहाता है। योगानुष्ठान एवं समाधि के साधनों का सम्पादन न करना—प्रमाद है। शरीर और चित्त के भारीपन से साधना में प्रवृत्ति न होना आलस्य है; चित्त जिन विषयों को त्याग चुका है पुनः उनकी प्राप्ति की इच्छा करना अविरति है, विपरीतज्ञान भ्रान्तिदर्शन है, समाधि भूमि का प्राप्त न होना—अलब्धभूमिकत्व है, प्राप्तभूमि में चित्त का न लगना अनवस्थितत्व है। ये नवदुर्गुण चित्त की एकाग्रता में अन्तराय हैं। अन्तरायों के साथ-साथ होनेवाले पाँच प्रकार के और विघ्न[3] साधक को दुःखित करते हैं यथा—

१. आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों दुःखों से दुःखित होना।

२. इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में क्षोभ=क्रोध होना।

३. साधनाकाल में अङ्गों का काँपना।

---

१. नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम ॥

—ऋग्० ८।१००।३

२. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥—यो० १।३०

३. दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥—यो० १।३१

४. नासिका द्वारा बाह्य वायु को अन्दर खींचने की क्रिया [श्वास] का भली प्रकार से न होना।

५. उदर के वायु को बाहर निकालने की क्रिया प्रश्वास का वश में न होना अर्थात् प्राणायाम के द्वारा प्राण का वशित्व न होना। परन्तु समाहित चित्तवाले योगी को ये दोनों प्रकार के विघ्न सन्तप्त नहीं करते।

मानसिक-साधना में उपस्थित होनेवाली बाधाओं का निरूपण करके अब उसके साधनों का परिशीलन करेंगे।

मनोमयकोश की साधना के साधन

वेदों में मन को वायु के समान वेगवान्, शीघ्रगामी बताया है[1]। जिस प्रकार वायु को नियन्त्रण में करना कठिन है तद्वत् मन का निग्रह भी सामान्य कार्य नहीं। इसके निग्रह के लिए साधनों, युक्ति-प्रयुक्तियों एवं अन्य सान्त्वनामय अभिप्रेरक-प्रेरणाओं की आवश्यकता है। यहाँ उन्हीं वेदसम्मत साधनों का अन्वेषण अभिप्रेत है—

मनोनिग्रह के साधनों का अन्वेषण करने से पूर्व हमें मन की शक्तियों को समझना भी आवश्यक है। शक्तियों के आधार पर मनोमय कोश को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. कर्मप्रधान—मनोमयकोश,

२. बुद्धि या चित्तप्रधान—विज्ञानमयकोश।

हृदय में प्रतिष्ठित मन की वृत्तियाँ वासनारूप हैं, इनकी परिपक्वावस्था ही संस्कार हैं। मन एक है परन्तु उसकी वासनाओं को वेद में प्रवाहरूप से अनादि और अनन्त बताया गया है।

ऋग्वेद में इन्द्र-परमात्मा को मानव के मन में उत्पन्न होकर उत्पीडन करनेवाली प्रवाह से अनादि एवं अनन्त दुर्भावनाओं-वृत्तियों को नाश करनेवाला, कहा गया है।[2] वेद की इस मान्यता को पतञ्जलि ने निजशास्त्र में नकारा नहीं वरन् सुबोध सौकर्य के लिए पाँच प्रकार की[3] वृत्तियों में सूत्ररूपेण उस मान्यता का अन्तर्भाव कर दिया है। उक्त अनादि-अनन्तवृत्तियों का निरोध करने के साधनोपाय जानना अभीष्ट है।

---

१. तव चित्तं वातऽइव ध्रजीमान्।—यजु० २६।२२

२. त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि।
हन्ता दस्योर्मनोवृधः पतिर्दिवः॥—ऋग्० ८।९८।६

३. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।—यो० १।६

इस मन्त्र में वृत्तियों के विनाशहेतु साधक को बार-बार अभ्यास करने का सन्देश दिया गया है। साधक योगयज्ञ की सफलता के लिए आन्तरिक मानसिक वृत्तियों को आत्मचिन्तन तथा परमात्मचिन्तन में प्रतिदिन प्रातः संयुक्त करे[1]। वेद में निर्देश है कि मनोनिग्रह का अभ्यास—प्रार्थनोपासना एक दिन, दो दिन, नहीं, निरन्तर इसी प्रकार जीवनभर करते रहें। केवल अपने जीवनकाल में ही नहीं, वंश-परम्परागत पुत्र-पौत्र भी परमात्मा की साधना में श्रद्धा-प्रेम से मन लगाएँ।[2]

चित्तवृत्ति-निरोध का अभ्यास प्रतिदिन किस समय और कितनी बार किया जाय, प्रसङ्गवश यहाँ समय का निरूपण आवश्यक है।

प्रातःकालीन सूर्योदय से तीन घण्टे पूर्व ब्राह्ममुहूर्त, उषावेला का समय साधना के लिए सर्वोत्तम बताया गया है। वेदों में उषावेला को ऐश्वर्यों की प्राप्ति का, योगरूप धनवृद्धि का एवं सर्वाङ्गीण उन्नतियों का मूल बताया गया है। अनेक रूपकों, उपमाओं के द्वारा उषा की महिमा वेदमन्त्रों में निरूपित की गई है।

"प्रातः जागकर सुखों की प्राप्त करानेवाली क्रियाओं को जो साधक नित्यप्रति श्रद्धा से करता है वही योगधन को प्राप्त करता है।[3] ऋग्वेद के उषासूक्त में उषा का महत्त्व दर्शाते हुए, बताया गया है कि "योगाभ्यासियों को योग्य है कि कर्म-ज्ञान-आनन्द, पुरुषार्थ, धनप्राप्ति के दुःखरूपी अन्धकार का निवारण करनेवाली उषा का नित्यप्रति प्रयत्न से सेवन किया करें। उषावेला आत्म-चिन्तक साधक के गुणों-अवगुणों को प्रकाशित कर देती है। पतिव्रता स्त्री जैसे अपनी सेवा द्वारा पति को सन्तुष्ट, आह्लादित कर देती है, उसी प्रकार उषावेला अपने गुप्त प्रभावों से साधक को हर्षोल्लास से प्रपूर्ण कर देती है। सिंहनी, वृकी, बाज आदि हिंसक जन्तु जिसप्रकार हिरण, कुत्तों तथा पक्षियों को मार देते हैं, उसी प्रकार यह उषावेला हमारी आयु का हनन कर रही है, अतः युक्ति से आत्मचिन्तन तथा परोपकार में इसका प्रयोग करना

---

१. **इन्द्रं प्रातर्हवामह इन्द्रं प्रयत्यध्वरे। इन्द्रं सोमस्य पीतये॥**

—ऋग्० १।१६।३

२. **अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।**
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत॥—ऋग्० ८।६९।८; साम० ३६२

३. **त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः।**—ऋग्० १।४४।१
विश्वान्देवाँ उषर्बुधः।—ऋग्० १।१४।९

चाहिए। उषावेला में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि पुरुषार्थ-चतुष्टय का अभ्यास एवं चिन्तन करना योग्य है। उषावेला में आत्मचिन्तन-स्वाध्याय-जप-शिल्पकला एवं स्वास्थ्यविषयक जो भी क्रियाएँ की जाती हैं उन सभी में विशेषगति होकर लाभ मिलता है।[1]

उषाकाल में मनोनिग्रह करनेवाले मेधावी, सिद्ध एवं जीवन्मुक्त होते हैं; स्त्रियों को भी उषाकाल में जागकर पवित्र हो उपासना करनी चाहिए।[2] उषाकाल में परमात्मा की विशेष महिमा का दर्शन होता है, उषा साधक को निरालस्य कर परमात्मा से युक्त करती है और अमृतत्व को दिलाती है। उषा सभी प्रकार के मानवों को समान प्रेरणा देती है। अन्यत्र भी उषासूक्तों[3] में विविध लाभों=गुणों का वर्णन उपलब्ध है।

उषाकाल से पूर्व साधना

सामवेद में साधना के लिए उषाकाल[4] से पूर्व अर्थात् आधी रात के बाद का काल माना है। साधक को प्रेरणा दी गई है कि 'हे साधक! तू अपनी साधना में विशेष प्रगति के लिए शान्त रात्रियों में मनोनिग्रह कर ध्यान द्वारा परमात्मा में सर्वात्मना समर्पित हो जा'।[5] रात्रि में उपासना करने का लाभ बताया गया है कि 'आधी रात के बाद ध्यान-वृत्तियाँ साधक को विशेषरूप से प्रेरित करती हैं'।[6]

रात्रि में ध्यान करनेवाले योगीजनों को गीता में संयमी बताया

---

१. **एता उ त्या उषसः**—ऋग्० १।९२।१

२. ऋग्० १।४८।१-१६; ऋग्० १।१२५।१; ऋग्० ५।७७।१, २; ऋग्० ७।७५।१-८; ऋग्० ६।५।६; साम० १७२६।२८

३. ऋग्० १।३०।२०-२२; १।४९।१-४; १।११३।१-२; १।१२३; १।१२४; २।२०।५-९; ३।५५।१; ३।६१; ४।५१; ५।७९-८०; ६।६४-६५; ७।४१।७; १०।१७२।१-४
साम० १७८; ४५१; १७२८-३३
उषः यजु० ३४।३३; उषद्भिः २९।३७; उषसः १०।१६; १२।३; १३।२८; १५।३७; १७।१०; २१।४; २७।४५; ३३।६४; ३४।३९;
उषसा—३।१०;
[द्रष्टव्यमथर्ववेदेऽपि]

४. **उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि॥**—साम० ३६७

५. **स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभिः॥**—साम० १२०९

६. **अधक्षपा परिष्कृतो वाजाँ अभि प्र गाहसे।**—साम० १६३१

गया है—"साधारण मनुष्य जिन रात्रियों में तमोगुण से अभिभूत होकर शयन करते हैं, परन्तु योगी-संयमी उसी रात में जागता है[१], अतः तीव्र संवेगी पुरुष उषाकाल से पूर्व उठकर निरालस्य हो ध्यान करे।

उषाकाल में उपासना से लाभ

वेद में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि उषाकाल का ध्यानाभ्यास ही सर्वोत्तम है। इस वेला में अभ्यास करने से आत्मिक ज्योति जागती है[२], ध्यान सम्यक् प्रकार से लगता है। प्रकृति में सत्त्वगुण का साम्राज्य होता है। अतः मन में प्रसन्नता तथा तमोगुण का प्रभाव नहीं होता।[३]

उषाकाल के बाद यदि साधना की जाए तो प्रकृति में रजोगुण का संचार हो जाता है। पक्षी एवं ध्वनिविस्तारक यन्त्रों की ध्वनियाँ एवं मक्खी-मच्छर का भय रहता है। उषाकाल व्यतीत हो जाने पर साधक के मन में पाश्चात्ताप रहता है,[४] अतः सूर्योदय से जितने पहले साधना-अभ्यास किया जाए, वही उपासक श्रेष्ठ है,[५] इसीलिए वेदमन्त्र में साधक द्वारा सूर्योदय न होने की माँग की गई है।[६]

सूर्योदयकाल में साधना

वेदों में सूर्य को सौरमण्डल का केन्द्र माना है। परमेश्वर सर्वव्यापक है, तो भी केन्द्ररूपी सूर्य में स्थित हुआ, सूर्य द्वारा सौर-मण्डल का नियन्त्रण कर रहा है। जैसेकि कहा है—**"योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म।"**[७] प्रातःकाल उपासना-काल है, जबकि सूर्य की असंख्य किरणें आकाश की ओर उछलती हुई, परमेश्वर के उपासना-काल का निर्देश करती हैं। उस समय उपासक, योगयुक्त ध्यानाभ्यास

---

१. **या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी॥**—गी० २।६६;

२. **उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्तयति वर्तिनं सुजातता॥**
—साम० ४५१; ऋग्० १०।१७२।४

३. साम० १७२६-२८; अथ० ३।१६।१-७

४. **वच्यन्ते वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि।**
—साम० १७३०; द्रष्टव्य टिप्पणी

५. **पूर्वःपूर्वो यजमानो वनीयान्॥**—ऋग्० ५।७७।२; यजमान=योग, यज्ञकर्त्ता

६. **अश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत्।**
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतम्॥—साम० १७३४

७. यजु० ४०।१७

में आसन जमाए हुए, अपने भक्ति-रसों को ब्रह्म के प्रति न्योछावर करते हैं।[1]

सूर्योदय-काल में परमेश्वर की उपासना करने से अक्षत बल एवं मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति होती है और साधक अपने आन्तरिक-बाह्य शत्रुओं पर विजय पाने में समर्थ होता है।[2]

परमात्मा योगशिक्षकों को उपदेश करते हैं कि प्रातःकाल सूर्योदय होने से पूर्व ब्रह्मयज्ञ-उपासना का सम्पादन करके सूर्योदयकाल में देवयज्ञ करके सुगन्धित-पवित्र स्थान पर मुक्ति के साधनों का अनुष्ठान करो।[3]

'सूर्य की किरणें जबतक सुवर्ण सदृश, मनोहारी पीतवर्ण की हों तबतक परमेश्वर की विशिष्ट आभा का दर्शन होता है।[4] उसके पश्चात् श्वेतवर्ण हो जाने पर साधना समाप्त कर देनी चाहिए। मन्त्र का 'आवहताम्' पद इस आशय का बोधक है।'

दोनों काल साधना

ऋग्वेदीय एक ऋचा[5] में साधक सूर्य के उदित होने पर प्रातःकाल तथा मध्याह्न (दोपहर) में परमात्मा की उपासना करने का निर्देश है, परन्तु अन्यत्र प्रतिदिन प्रातः-सायं दो बार नम्रतापूर्वक प्रभु-शरण में जाने की प्रार्थना है।[6]

उक्त मन्त्र में प्रयुक्त 'दोषावस्तः' पद से रात-दिन—निरन्तर साधना करने का भी अर्थ लिया गया है अर्थात् साधक साधनाकाल में या संसार के अन्य कार्यों में एक क्षण भी परमात्मा की सत्ता को नहीं भूले, उसे सदा उपस्थित समझकर उसकी शरण में रहे।

---

१. आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥—साम० १३६१

२. प्रति वां सूर उदिते सूक्तैर्मित्रं हुवे वरुणं पूतदक्षम्।
ययोरसुर्य मक्षितं ज्येष्ठं विश्वस्य यामन्नाचिता जिगत्नु ॥—ऋग्० ७।६५।१

३. प्रति वां सूर उदिते विधेम नमोभिर्मित्रावरुणोत हव्यैः।—ऋग्० ७।६३।५

४. आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूर शेप्या।—साम० १३६२

५. हवे त्वा सूर उदिते हवे मध्यन्दिने दिवः।—ऋग्० ८।१३।१३

६. उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥
—साम० १४; ऋग्० १।१।७; यजु० ३।२२; तै० सं० १।५।६।२

तीन कालों में साधना

वेदों में ध्यानाभ्यास के लिए तीनों कालों का भी वर्णन उपलब्ध है। साधक सात छन्दों से युक्त वेदवाणियों द्वारा स्तुति-प्रार्थना-उपासना के द्वारा तीनों कालों में परमात्मा के विशेष आशीर्वादों का दोहन करता है।[1] वैसे सन्धिकालों में दो बार ही सन्ध्योपासना का विधान है, परन्तु योगाभ्यास के लिए रात्रिकाल अधिक उपयुक्त होता है। अथर्ववेद में कहा है कि जो रात्रि में योगानुष्ठान करते हैं, जो अन्य प्राणियों के सोने पर जागते हैं, वे अपनी आत्मा में विशेष जागृति प्राप्त करते हैं।[2]

निरुक्त में मध्यरात्रि और सूर्योदय के बीच के काल को अश्विनी का काल कहा है।[3] अश्विनौ देवता के काल में जागकर योगाभ्यास करना शारीरिक-मानसिक एवं आत्मिक पुष्टि तथा वृद्धिकारक है। अथर्ववेद में इस काल की साधना का महत्त्व बताया है कि—'जो साधक उषाकाल और सूर्योदय से पहले प्रभु के स्तुत्य नाम द्वारा अजन्मा-स्कम्भ परमात्मा का आह्वान करता है वह शीघ्र स्वात्मराज्य को प्राप्त करता है जिससे परे अन्य परमगति नहीं।'[4] सामवेदीय ऋचा में प्रयुक्त 'त्रिरहन्' पद का प्रयोग दिनरात में तीन बार का बोधक है।[5] तीन बार योगाभ्यास करने से परमात्मा का स्वरूप योगाभ्यासियों के लिए आध्यात्मिक अन्न बन जाता है, जोकि आध्यात्मिक भूख को शान्त करता है। साधनाभ्यास-विषयक अनुशीलन से प्रकट है कि योगाभ्यासी निज शक्ति, सामर्थ्य तथा रुचि अनुसार साधना का काल निश्चित कर ले।

---

१. त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरेसत्यामाशिरं परमे व्योमनि।
—साम० ५६०; १४२३; ऋग्० ६।७०।१

२. ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति।
पशून् ये सर्वान् रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति॥
—अथ० १९।४८।५

३. तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् प्रकाशोभावस्यानु विष्टम्भमनु तमोभागो हि मध्यमः, ज्योतिर्भाग आदित्यः।—निरु० १२।१।१

४. नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्॥
—अथ० १०।७।३१

५. या नो दोहते त्रिरहन्नसश्चुषी॥—साम० ११५४

योगाभ्यासी के लिए उपयोगी स्थान

योगाभ्यास के लिए समय का निर्णय करके अभ्यास में अत्यन्त सहायक स्थान का वेदसम्मत जानना भी साधक के लिए परमावश्यक है। वेदमन्त्रों में संकेत है कि निरुपद्रव देश में ही उषाकाल आदि समय में प्रतिदिन के ध्यान का क्रम निश्चित होना चाहिए।[1]

एकान्त स्थान—'योगाभ्यास के लिए विस्तृत शान्त भूभाग, जिसमें काँटे आदि न हों, गड्ढेरहित, समतल भूमि हो जिसमें सुविधापूर्वक गमनागमन होता रहे, उपजाऊ उत्कृष्ट भूमि हो।'[2]

वनों में साधनास्थल—एकान्त[3] वनों में साधना करने से मन सुविधा पूर्वक एकाग्र हो जाता है एवं शीघ्र सिद्धि प्राप्त करता है। विद्वान् लोग एकान्त वनों में मन को रमाते हैं। वनों में शुद्ध वायु के संचार से प्राण बलवान् होता है। शीतकाल तथा ग्रीष्म में वनों में अधिक सर्दी और गर्मी का प्रभाव नहीं होता, अतः वनों में योगाभ्यास करना योग्य है।

पर्वतों पर योगाभ्यास—समतल भूमि की अपेक्षा पर्वतों पर साधना अधिक लाभकारी है।[4] प्राण हल्का होकर प्राणवायु का संचार अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया दीर्घ-सूक्ष्म हो जाती है। पर्वतों पर धूल आदि से रहित स्वच्छ वायुमण्डल श्वसन क्रिया के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है। पहाड़ों पर सब ऋतुओं में अनुकूल वातावरण मिल जाने पर साधना में बहुत सहायता मिलती है। प्राकृतिक दृश्यों से भक्ति-भावना जागत होती है, अतः परमशान्ति तथा एकान्त के इच्छुक योगिजन

---

१. ऋग्० १।४८।४; ऋग्० ८।६।३७

२. **स्योना पृथिवी भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथः॥**

—ऋग्० १।२२।१५

३. **स इद्वने नमस्युभिर्वचस्यते चारु···।**—ऋग्० १।५५।४

यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं···।—ऋग्० ४।७।१

एष नृभिर्वि नीयते दिवो मूर्धा वृषा सुतः। सोमो वनेषु विश्ववित्।

—साम० १२८८

४. **दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः॥**— साम० ५१२

आ सोम स्वानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।— साम० ५१३

त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।

—ऋग्० ५।११।६

पर्वतों की गुफाओं में निवास करते हैं, जहाँ मन का निग्रह करने में नितान्त सुविधा रहती है।

जल के समीप साधना—सामवेदी ऋचा[1] में 'घृता वसानः' पद है जिसका तात्पर्य है कि 'जल'[2] के समीप निवास करते हुए पापों से रहित, वेदों का विद्वान् उपासक शीघ्र परमेश्वर को प्राप्त होता है। साथ ही ऋग्वेद में जल-प्रपातों के किनारे बैठकर साधना का संकेत है।

मार्कण्डेय-पुराण का मत है कि—'योगी को सूने स्थलों, वनों, गुहाओं में ध्यान का अभ्यास करना चाहिए; कोलाहलपूर्ण स्थानों में, अग्नि एवं जल के पास पुरानी गोशालाओं में, चौराहे में, सूखी पत्तियों के ढूह [ढेर] के पास, नदी के तट पर, श्मशान में, जहाँ रेंगनेवाले जीवों का निवास हो, भयंकर स्थानों में, कूप के पास, चैत्य [जहाँ चिता लगायी गयी हो] या दीमक के स्थान पर योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।[3]

उसी पुराण में यह भी आया है कि 'योगी को उस समय योगाभ्यास नहीं करना चाहिए—जब पेट में वायु हो, वह भूखा हो या थका-माँदा हो अथवा जब मन अव्यवस्थित हो या जब अधिक शीत या ऊष्ण हो, तीक्ष्ण वायुवेग हो।' देवल-धर्मसूत्र में व्यवस्था है कि—'योगी को योगाभ्यास देवतायतन [मन्दिर], खाली घर, गिरि-कन्दरा, नदी-पुलिन [नदी की बालुका भूमि], गुफाओं या वनों या भयरहित पवित्र एवं शुद्धस्थल में करना चाहिए।'[4]

मनुस्मृति में जल के समीप बैठकर जंगल में जपोपासना अभ्यास करने का निर्देश वैदिक है।[5] वेदों में जलों को शान्त, शिवतम-बलकारी-

---

१. **अपसेधन् दुरिता सोम नो मृड घृता वसानः परि यासि निर्णिजम्।**
—साम० १३१८

पवित्रस्य प्रस्रवणेषु।—ऋग्० ८।३३।१

२. **घृताः=घृतम्-उदकम्।**—निघं० १।१२

३. मार्कण्डेय [कृत्यकल्पतरु पृ० १६७—१७७, मोक्षखण्ड

४. **देवतायतनशून्यागारगिरिकन्दरनदीपुलिनगुहाख्यानाम् अन्यतमे शुचौ निराबाधे विभक्ते ··· मनसा तच्चिन्तनं ध्यानम्।**
देवल [कृत्यकल्प० मोक्षखण्ड पृ० १८१] मिलाइये—
श्वेता० २।१० [उद्धृत-धर्म ३० योग एवं धर्मशास्त्र, पृ० २७८]

५. **अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।**
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥—मनु० २।१०४

भेषज-स्निग्ध-रसकारी कहा है,[1] अतः जल के सन्निकट निवास से ताप नहीं सताता एवं वायु भी जल के सम्पर्क से शुद्ध तथा शीतल हो जाता है। जल के पास हितकारी वायु पुष्कल मात्रा में मिल जाता है; ये सभी नदियोंवाले वहनशील जलों में अधिक पाये जाते हैं। इसीलिए वेद में नदियों के संगम पर निवास करना बुद्धि-वृद्धि में सहायक बताया है।[2] इन मन्त्रों में निरूपित स्थानों की एक ही मन्त्र में सम्पुष्टि की गयी है। यहाँ मन्त्र में[3] प्रयुक्त 'त्रिकद्रुकेषु' पद से स्पष्ट है कि 'पृथिवी के तीन स्थानों'[4] अर्थात् जल, स्थल, पर्वत में दिव्य उपासक, उपास्यचेतन परमेश्वर के उपासना-यज्ञ का विस्तार करते हैं अर्थात् तीनों ही स्थल उपासना को बढ़ाने में सहायक हैं।

रुचिकर स्थान में साधना

मनोनिग्रह-हेतु रुचिकर-मनोहारि स्थान अत्यन्त सहायक है। वेद साधक की आन्तरिक भावना को अवकाश प्रदान करता है कि 'हे साधक! तेरा विचारशील मन जहाँ-कहीं भी योगयज्ञ करने के लिए उपयोगी दक्षता प्राप्त करता है, जहाँ मनोबल धारणकर उत्तरोत्तर वृद्धि करता है, वहीं पर तू योगाभ्यास में तत्पर हो'।[5]

अभिप्राय यह है कि प्रारम्भिक साधक के लिए निर्जन वन, एकान्त समतल भूमि, जल का किनारा या पर्वत-गुहा आदि स्थान ही अधिक उपयोगी रहते हैं। इन स्थानों पर साधना में प्रगति तथा ध्यान की सूक्ष्मता आदि लाभ शीघ्र होते हैं, परन्तु परिपक्व साधक उक्त स्थानों के अतिरिक्त, सघन बस्तियों से पृथक् योगाश्रम बनाकर या परिभ्रमण करते हुए उपासना करते रहते हैं। वर्तमान काल में नवीन योग-जिज्ञासुओं को अपने घर में पृथक् 'ध्यानकक्ष' बनाकर ध्यानाभ्यास

---

१. ऋग्० १०।६।१--६; साम० १८३७-१८३९; अथ० १।५।१--४; यजु० ११।५०--५२; तै० सं० ४।१।५।१

२. **उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।**
—ऋग्० ८।६।२८; साम० १४३; यजु० २६।१५

३. **त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत।**—साम० ७२४; ऋग्० ८।९२।२१

४. **कद्रु=पृथिवी।**—शत० ३।६।२।६

५. **यत्र क्व च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम्।**
तत्रा सदः कृणवसे॥—ऋग् ६।१६।१७; साम० ७०६

अवश्य कर लेना चाहिए। अभ्यास का निरूपण करके अब इसके अनुवर्ती 'वैराग्य' का परिशीलन करेंगे, जोकि अभ्यास का पूरक तथा सहचारी है।

वैराग्य

विराग पद से ष्यञ् प्रत्ययान्त[1] 'वैराग्यम्' शब्द में राग से विमुक्त व्यक्ति का वाचक है अर्थात् राग जिसका हट गया है उसका भाव ही वैराग्य है। राग चाहे निज शरीर में हो, या अन्य शरीर स्त्री-पुरुष, पुत्र, बन्धु-बान्धव में हो, या पशु आदि में हो, इसी प्रकार धन, धान्य, भूमि, घर तथा राज्यादि भोगैश्वर्यों से। इस जन्म में जिनसे सुख मिल रहा हो या सुख मिलने की आशा हो, यहाँ तक कि परलोक में या स्वर्ग में सुख मिलने की तृष्णा होना, राग के ही क्षेत्र में आते हैं। इन सभी प्रकार के सम्बन्धियों, तथा पदार्थों से मिलनेवाले सुखों के प्रति तृष्णारहित होना ही 'वैराग्य' है। तृष्णा, आशा, लालच, अभिलाषा आदि एक ही प्रकार के भावों के जनक हैं, इनके कारण ही मन चंचल होकर इधर-उधर पदार्थों की आशाओं में आसक्त हुआ भटकता है। राग के मूल सुख की आशा नामवाली नदी को विवेक-सूर्य से सुखा देना ही वैराग्य का कार्य है जिसके परिणामस्वरूप मन वश में आ जाता है।

वैराग्य की प्रेरणा

गर्भावस्था में जीव यह विचार करता है कि 'मैंने अनेक बार जन्म लिये तथा अनेक योनियों में निवास किया। मैंने विभिन्न प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तनों का दूध पिया। अनेक प्रकार को माता, पिता तथा मित्रगण देखे हैं। नीचे की ओर को मुख किये हुए, पीड़ा का अनुभव करता हुआ, गर्भ में आबद्ध-जीव प्रतिज्ञा करता है कि —[प्रभो ! मुझे शीघ्र इस सागर से पार करो] मैं बाहर जाकर सांख्य-योग का अभ्यास करूँगा। सृष्टि के उत्पादक सभी चोबीस तत्त्वों के साथ

---

१. वि+रञ्ज रागे+घञ्। भावेऽर्थे=विराग+ष्यञ्
[वर्णदृढ़ादियः ष्यञ् च] अष्टा० ५।१।१२३

पच्चीसवें पुरुष [परमात्मा] को जानने का पूर्ण प्रयास करूँगा ।[1] परन्तु गर्भ से बाहर आकर सांसारिक वायु का स्पर्श करके नरदेह धारी जीव जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है सब प्रतिज्ञाएँ भूल जाता है। कुछ मनुष्य प्रबल संस्कारों के कारण बाल्यावस्था से ही सजग हो वैराग्य-भावना को उद्‌बुद्ध कर लेते हैं, कुछ सांसारिक घटनाओं से शिक्षा लेते हुए वैराग्यवृत्ति को धारण करते हैं, शेष संसार में ही रमण करते रहते हैं। संसार में ही रमनेवाले मनुष्यों के लिए वेद में अभिप्रेरक प्रेरणा दी गयी है कि—

'मानव ! तेरा पीपल के वृक्ष पर बैठना है तथा पत्ते पर तेरा निवास है अर्थात् आज है, कल होगा या नहीं, यह कौन जानता है। संसार में तेरा जीवन अनिश्चित—क्षणभंगुर है। यदि तू इन्द्रियों के भोग में आसक्त रहा तो पुरुष [परमेश्वर] से दूर ही रहेगा, उसको प्राप्त न कर सकेगा।'[2]

वेद कहता है कि 'इस संसार में गर्गर[3] शब्द करते हुए नक्कारे भयानक घोर शब्द कर रहे हैं, ढोल-मृदंग आदि चारों तरफ से बड़े जोर से बज रहे हैं। इसी प्रकार अन्यान्य वाद्य भी चारों ओर भय दिखा रहे हैं, अतः हे मनुष्यो ! उस परमात्मा के लिए स्तुतिगान का उद्योग करो।'

वैदिक संहिताओं में उपलब्ध वैराग्य-विषयक वर्णन को प्रमुख रूप से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. अवर वैराग्य

विषयों के दोषदर्शन से अवर वैराग्य अर्थात् ग्लानि वैराग्य होता है। विषयों की कामना मानव के मन में होती है, परन्तु कामवासना

---

१. 'मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नाना योनि सहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥
अवाङ् मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ।
सांख्ययोगं समभ्यस्ये पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥—निरुक्त परिशिष्ट अ० २

२. अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाजऽइत्किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥—यजु० १२।७९; ३५।४

३. 'अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् ।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥—ऋग्० ८।६९।९॥

या भोगेच्छा कभी पूरी नहीं होती। अथर्ववेद में प्रतिपादित है कि—'जब सृष्टि उत्पन्न हुई तो प्राणियों के अन्दर प्रथम कामभाव जागा, इस काम को न देवों=विद्वानों ने पूरा किया, न पितरों=पालक-सत्ताधारियों ने और न मनुष्यों ने। काम की इस विलक्षण शक्ति को जानकर, साधक वैराग्यभावना से अभिभूत होकर कहता है—हे कामदेव! तू ज्येष्ठ है, सदामहान् है, अतः तुझे मैं नमस्कार करता हूँ। तेरे पूरा करने में असमर्थ होने से तुझसे हार मानकर तेरे सम्मुख नहीं आता हूँ, तेरे आगे से हट जाता हूँ अथवा तेरे जैसे महान् शक्तिशाली का जो सबको अपने उदर में धर लेने पर भी तृप्त नहीं होता, वैराग्यरूपी वज्रप्रहार से नाश करता हूँ।[1]' तेरा स्वागत नहीं किन्तु प्रतिरोध ही करता हूँ। काम की विरोधी भावनाएँ जिस समय वैरागी साधक में आ जाती हैं उसका फल कठोपनिषद् के ऋषि ने बताया है कि—

'जब मानव के हृदय में बसी हुई कामनाएँ छूट जाती हैं तो साधक अमर बन जाता है और ब्रह्मानन्द का भोग करता है।'[2]

२. मध्यम वैराग्य

शरीर एवं धन-ऐश्वर्य में आसक्ति न होना, मध्यम वैराग्य है। शरीर को सामान्य कष्ट-क्लेशों तथा परिश्रम से बचाकर अजर-अमर मानकर उसकी पुष्टि, रक्षा एवं सजावट में ही समय एवं धन का प्रयोग करना, शरीरासक्तिरूप अज्ञान है। शरीर की वस्तुस्थिति को जानकर उसे धर्म का साधन मानकर उसकी रक्षा करना ज्ञान है। यह वैराग्य का एक पक्ष है। ऋग्वेद[3] में शरीर से वैराग्य कराया गया है कि—'हे वरुण! परमात्मन्! अब मैं मृन्मय-मिट्टी के घर अर्थात् पार्थिव कच्चे घर को प्राप्त न होऊँ। यह शरीररूप घर कच्चा है, यह

---

१. कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥
—अथ० ६।२।१६

२. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥—कठो० ६।१४

३. मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मृळा सुक्षत्र मृळय॥
—ऋग्० ७।८६।१

शस्त्र से कट-कटकर माँस के टुकड़े तथा लोथड़े बन जाता है, अग्नि से जलकर कोयला और राख बन जाता है। यह विष से विषण्ण-नीला पड़ जाता है, रोगों से रुग्ण और जरा से जीर्ण हो जाता है। त्राणकर्ता ! मुझे सुखी कर।"[1]

यजुर्वेद ने भी इस शरीर को विनाशी, पतनशील बताया है।[2] परन्तु जो मूढ़ परकाय पर आसक्त हो आलिंगन-चुम्बन आदि करते हैं, उन्हें मैत्रायणी उपनिषत्कार ने धिक्कारा है—"यह शरीर मैथुन से अंकुर के समान उभरकर नरक जैसे गुप्त स्थान या बन्द अन्धेरे कोठे में बढ़ा, फिर मूत्रद्वार से बाहर निकला; हड्डियों से खड़ा किया हुआ, मांस से लिपा-भरा हुआ, चमड़ी से ढका हुआ, मलमूत्र, पित्त, कफ, मज्जा, भेद, वसा और अन्य बहुत-से रोगों से परिपूर्ण ऐसा है जैसे कोई कठोर भण्डार भाँति-भाँति के धन-अन्न-बर्तन आदि से भरा हुआ हो।[3] यह स्थिति ऐसी है जैसे कोई मलमूत्र-कफ से सने कमरे में बैठा हुआ हलवा; लड्डू खाने की सोच रहा हो, उसे धिक्कार है ! हलवे के स्वाद के लोभ में इतने मलपूर्ण स्थान में सुख मानना आश्चर्य एवं धोखा है।

साधक विवेक-बुद्धि, से शरीर का अन्तर्ज्ञान प्राप्त करके शरीर से वैराग्य प्राप्त कर लेता है। 'वैराग्य, भावना से साधक सगे सम्बन्धि-जनों में एक ही देव को प्रविष्ट हुआ देखता है' और मोहरूपी बाधक आन्तरिक शत्रुओं को भगा देता है।[3]

धन-ऐश्वर्य से वैराग्य—धन-ऐश्वर्य के प्राप्त करने में आज मानव की सम्पूर्ण शक्तियाँ तथा समय व्यतीत हो रहा है। दूसरों को धोखा देकर, छल, कपट, कालाबाजार करके धन से तिजोरियाँ भरना चाहता है, धर्म-कर्म सब भूल जाता है। ऐसे धनासक्त व्यक्तियों को वेद पहले ही चेतावनी दे रहा है कि 'ये धन-सम्पत्तियाँ रथचक्र या गाड़ी के पहिये

---

१. स्वा० ब्रह्ममुनि परिव्राजक, अभ्यास वैराग्य।—पृ० ४६

२. **तव शरीरं पतयिष्णु**।—यजु० २६।२२

३. **शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संवृद्ध्युपेतं निरयेऽथ मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावनद्धं विण्मूत्रपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्चामयैर्बहुभिः परिपूर्णकोश इव वसुना इति**।—मै० उ० ३।४

४. **उतेषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः**॥

—शत० १०।८।२८

के समान ग्रावर्तनशील रहते हैं ।[1] महर्षि वाल्मीकि ने वेद की पुष्टि करते हुए कहा है—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्' ॥[2]

अर्थात् सारे गाड़े हुए कोष=खजाने क्षीण हो जानेवाले हैं; ऊँचे-ऊँचे महल एक दिन मिट्टी में मिल जाते हैं । जिनका संयोग हुग्रा है उनका वियोग ग्रवश्यम्भावी है; इस जीवन की ग्रन्तिम ग्रवस्था मरण है ।

इसलिए वेद ने कहा है कि हे मानव ! ग्रधिक धन के लालच को त्याग, दूसरे के धन को बिना परिश्रम के लेने का लालच मत कर ।[3] जो तुझे धर्म से धन मिलता है उसमें से दानादि देकर यश-कीर्ति का भोगी बन[4] तथा ग्राध्यात्मिक यश प्राप्त कर ।

३. उत्तम वैराग्य

'ज्ञानपूर्वक कर्म करना उत्तम वैराग्य है । वेद में कहा कि 'मनुष्य कर्म करते हुए सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करे, निष्काम भावना से किये गये कर्म उसे बन्धन में नहीं डालते ।'[5] मन्त्र का ग्रन्तिम पद बड़े महत्त्व का है । कर्म में बहुत बड़ा दोष यह है कि कर्म से फल मिलता है, फल से वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, वासनाएँ पुनः कर्म को जन्म देती हैं । यह ताँता कभी टूटता नहीं, वह ग्रनन्त चक्र को जन्म देता है, जिससे मनुष्य सदा कर्म में लिप्त रहता है । इसका निराकरण कैसे हो कि कर्म हो परन्तु उससे लिप्त न होना पड़े, कर्म के संस्कार कर्ता से चिपके न रहें । इसका समाधान ग्रध्याय के प्रथम मन्त्र में—**'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ।** त्यागपूर्वक भोग करें'—इस वाक्य के द्वारा दिया गया है । डॉ० सम्पूर्णानन्द का कहना है कि 'धर्म के विषय पर विचार करते हुए हमने देखा है कि मनुष्य दूसरे सहस्रों प्राणियों का ऋणी है । यदि वह

---

१. **'ग्रो हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः ॥** ऋग्० १०।११७।५
२. 'बाल्मीकि रामा० अयो० का० १०५।१६ श्लो०
३. **मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'** । यजु० ४०।१
४. **यशोभगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्** ।—साम० ६११
५. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।**
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥—यजु० ४०।२ भावार्थ

इस बात का निरन्तर प्रयत्न करता रहे कि मुझसे दूसरों का ऋण चुकता रहे, इसी हेतु दूसरों की सेवा करता रहे तो वह कर्म में लिप्त न होगा। इसी को निष्काम कर्म कहा गया है। यह निष्काम कर्म उत्तम कोटि के वैराग्य का मूल है।

ज्ञान की पराकाष्ठारूप उत्तम वैराग्य की उपासक के जीवन में उपयोगिता प्रदर्शित करते हुए वेदमन्त्र में कहा है कि 'जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानकर और जड़ एवं चेतन पदार्थ इनके साधक हैं, ऐसा निश्चय करके शरीर आदि जड़ और चेतन आत्मा का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए एक-साथ प्रयोग करते हैं वे लोग लौकिक दुःख से छूटकर पारमार्थिक सुख [मोक्ष] को प्राप्त होते हैं।[1] इस प्रकार अभ्यास तथा वैराग्य के स्वरूप को जानकर, चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य दोनों के द्वारा मिल-कर प्रयत्न करने से होता है; साधक ऐसा निश्चय कर ले। क्योंकि 'आत्मा का साथी चित्त एक ऐसी नदी के समान है जिसमें अनादिकाल से वृत्तियों का अनवरत प्रवाह चालू है। चित्त नदी के धारा प्रवाह की दो दिशाएँ हैं एक—प्राकृतिक विषयों के मार्ग से बहती हुई संसार सागर में गिरती है, दूसरी आत्मसाक्षात्काररूप प्रकाशमय कल्याण-सागर [ब्रह्मानन्द-उदधि] में जा मिलती है।'[2] इन दो धाराओं के कारण हैं—व्यक्ति के पूर्वजन्मों में संचित प्रबल दुष्कृत एवं सुकृतकर्म। जिन व्यक्तियों ने पूर्वजन्मों में अपनी प्रवृत्तियों के प्रवाह को निरन्तर विषयों में सीमित रखा है, ऐसे संसारी जनों की पूर्वोक्त चित्त-नदी-धारा जन्म से ही खुली रहती है; परन्तु जिन व्यक्तियों ने पूर्वजन्म में अध्यात्ममार्ग पर चलने का प्रयास किया है, उनके प्रबल अनुकूल संस्कारों के कारण चालू जीवन में सद्गुरु के उपदेश, अध्यात्म शास्त्र, प्रभु-मिलन आदि उस धारा को खोलते हैं।

विषयों के स्रोत पर जब वैराग्य का बाँध लगा दिया जाता है, तब स्वभावतः साधन न रहने से वे स्रोत सूख जाते हैं। विषयों को भोगने में अर्थात् विषयों में फँसे रहने से, उनकी ओर से कभी प्राणी को तृप्ति नहीं होती। विषयों की ओर से विरक्ति ही उनके स्रोत को

१. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥—यजु० ४०।१२ भावार्थ

२. अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥—यो० १।१२

सुखाती है। इस प्रकार विषयस्रोतों पर वैराग्य का बाँध लगाकर निरन्तर दृढ़ता के साथ अभ्यासरूपी फावड़े से अध्यात्म मार्ग को गहरा खोदकर समस्त चित्तवृत्तियों के प्रवाह को उसमें डाल दिया जाता है; यह दूसरी धारा है, जो ब्रह्मानन्दरूप कल्याण-उदधि में जाकर लीन हो जाती है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य दोनों मिलकर पारस्परिक सहयोग से चित्तवृत्ति-निरोध के प्रबल साधन हैं। जैसे पक्षी दोनों पंखों के सहारे आकाश में उड़ता है और अनुकूल अभिमत को प्राप्त करता है, ऐसे ही अध्यात्ममार्ग का यात्री अभ्यास-वैराग्य द्वारा अपने अभीष्ट को पाता है'। भारतीय योगियों के इतिहास में भर्तृहरि का उदाहरण उक्त तीनों प्रकार के वैराग्य भेदों की पुष्टि करता है। इसके अतिरिक्त उपनिषत्कालीन तथा दर्शनों के निर्माता एवं सूत्रग्रन्थकालीन अनेक ऋषि-महर्षि वैराग्यभाव से साधना में तत्पर रहे हैं।

भोजन का संयम

यद्यपि पातञ्जल योगदर्शन में मनोनिग्रह के साधनों में भोजन का परिगणन नहीं किया गया, तदापि प्रकारान्तर से नियमों में प्रथम 'शौच' भोजन से होनेवाली मानसिक शुद्धि का द्योतक है। योगदर्शन के टीकाकारों ने भीशौच का अभिप्राय पवित्रता एवं 'परिमित भोजन' इत्यादि किया है। परन्तु वैदिक संहिताओं एवं उपनिषदों में मानसिक शुचिता के लिए भोजन के संयम का निरूपण विस्तार से मिलता है।

उपनिषदों में मन को अन्नमय बताया गया है[1] तथा ऋग्वेद[2] में अन्न के गुणों का विशद वर्णन है। मन पर संयम करने के लिए वेद-शास्त्रों से भली-भाँति जानकर भोजन पर संयम करना साधक के लिए अपरिहार्य है, क्योंकि भोजन का सूक्ष्म प्रभाव सीधा मन पर अवश्य पड़ता है, अतः प्रसंगवश मनोमयकोश की साधना के साधनों में भोजन-विषयक वैदिक-विधान यहाँ विन्यस्त है।

स्वादिष्ट-सात्त्विक एवं पौष्टिक भोजन का विधान

'विद्या-योगाभ्यास द्वारा जितेन्द्रिय योगाभ्यासी सुगन्धित, धान्य

---

१. **अन्नमयं हि सोम्य मनः**।—छान्दो० ६।७।६ तथा ६।५।१

२. ऋग्० १।१८७।११

अन्नों से युक्त, पाकशास्त्र-विधि से निष्पन्न, पुआ आदि स्वादिष्ट पदार्थ, जिनको बनाते हुए मधुर-वचन का ही प्रयोग किया गया हो, ऐसे स्वादिष्ट-सात्त्विक एवं पौष्टिक भोजन का प्रातःकाल ही सेवन करते हैं।[1]

योगाभ्यास में व्याधि अत्यन्त बाधक है। व्याधि का कारण धातु-रस-करण की विषमता है। धातुओं को सम रखने के लिए सोमलता (गिलोय) आदि त्रिदोषनाशक ओषधियों का सेवन भी आवश्यक है, वे औषधियाँ वर्षा के जल से उत्पन्न हुई होनी चाहिएँ।[2]

इसके अतिरिक्त 'क्षीरपाकमोदनं' खीर[3], पुरोडाश[4] (चावल को पीसकर, उसके आटे से बनाई गयी मीठी स्वादिष्ट रोटी), सत्तू आदि का विधान है।

एक ऋचा में कहा गया है कि 'जो परमेश्वर की स्तुतिरूप ऋचाओं का अध्ययन करता है उसके लिए विद्या की देवता सरस्वती, दूध, घी, मधु, एवं स्वादिष्ट जल का दोहन करती है।'[5] इसका तात्पर्य है कि किसी को कोई वस्तु समर्पित की जाती है, उस समय उसकी अभिरुचि का विशेष ध्यान रखा जाता है। सूक्ष्म चिन्तकों, योगाभ्यासियों को सूक्ष्म स्निग्ध, सुपाच्य, सात्त्विक भोजन ही अनुकूल होते हैं जिनमें दुग्धादि पदार्थ आते हैं।[6]

योगाभ्यासी-विद्वान् पुरुषों का भोजन रोग आलस्य, तथा प्रमाद को न लानेवाला बुद्धिवर्धक, अन्न-रसपान बताया है। भोजन वही युक्त है जिससे मन में शान्ति एवं शरीर में तेजस्विता का संचार हो।[7] भूख लगने पर ही भोजन करना श्रेयस्कर है। भोजन सात्त्विक, मनन-

---

१. धनावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥
—यजु० २०।२९

२. अध्वर्योऽअद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आनय।—यजु० २०।३१

३. शतं महिषान्क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥—ऋग्० ८।७७।१०

४. पुरोळाशं नो अन्धस इन्द्र सहस्रमा भर।—ऋग्० ८।७८।१

५. पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥—ऋग्० ९।६७।३२

६. वायवा याहि वीतये जुषाणो हव्यदातये।
पिबा सुतस्यान्धसो अभि प्रयः॥—ऋग्० ५।५१।५

७. अन्न प्रशंसा॥—ऋग्० ८।४८।१-१५

शक्ति को बढ़ानेवाला, संयमशक्ति का वर्धक हो; कामक्रोध आदि का बढ़ानेवाला न हो। योगी के भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग में महाभारत शान्तिपर्व में बताया गया है कि योगी को चावल के छोटे-छोटे कण पकाकर या पिण्याक (खली) खानी चाहिए। तैलयुक्त पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए; यदि वह यावक अर्थात् कुलमाष या जौ के दलिया पर ही रहे तब भी बलवान् रहेगा। उसे जल एवं दूध मिलाकर पीना चाहिए और गुफाओं में रहना चाहिए'।[1]

गोरक्षशतक में व्यवस्था है कि 'योगी को कटु, अम्ल, लवणयुक्त भोजन का त्याग कर देना चाहिए। उसे केवल दूध-भोजन पर रहना चाहिए।'[2]

भोजन का प्रभाव

सात्त्विक, सूक्ष्म एवं पौष्टिक आहार से मानसिक बल की वृद्धि, आत्मा में प्रसन्नता एवं चिन्तन-शक्ति बढ़ती है।[3] युक्ताहार-विहार से योगसिद्धि में सहायता मिलती है।[4] सात्विक, राजसिक, तामसिक भोजनों का प्रभाव इन्हीं गुणों का जनक होता है।[5] परिमित मात्रा में किया गया भोजन बल, वीर्य का वर्द्धक एवं हर्षोत्पादक है।[6] अधिक भोजन करनेवाले, उपासना का उपहास करनेवाले या अन्यों के द्वारा उपहास किये जाने पर डरनेवाले, धन और पद के लोभ में आनेवाले साधना से च्युत हो जाते हैं,[7] अतः मनोबल को बढ़ाने के लिए तथा मनो-

---

१. **कणानां भक्षणेयुक्तः पिण्याकस्य च भक्षणे।**
स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमाप्नुयात्॥
भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिन्दम।
एकारामो विशुद्धात्मा योगी बलमाप्नुयात्॥
पक्षान मासानृतुंश्चेतान् सन्चरंश्व गुहांस्तथा।
अपः पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमाप्नुयात्॥—म० शांति० २८६।४३-४५
चित्रशाला प्रेस संस्करण ३००।४३-४५

२. **कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत्॥**—गो० श० ५०; उद्धृत-
धर्म० इ० पंचमभाग, अ० ३२, पृ० २७७-२७८

३. ऋग्० १।१८७।१-११

४. ऋग्० ४।२४।५

५. **यो विश्वान्यभि व्रता सोमस्य···।**—ऋग्० ८।३२।२८

६. ऋग्० ८।८२।२-३

७. **मा त्वा सूरा अविष्यवो।**—साम० ७३२

निग्रह के लिए युक्ताहार-विहार सेवनीय है और बासी, मदकारी, राजसिक, तामसिक भोजन सर्वथा त्याज्य है।[1] मदकारी द्रव्यों का सेवन तीनों शरीरों के लिए हानिप्रद तथा बल-बुद्धि का घातक है। स्पष्ट है कि आहार की शुद्धि से मन की शद्धि होती है,[2] जो योग में अत्यधिक सहायक है।

योगी का आध्यात्मिक भोजन

भक्तिरस ही योगी का वास्तविक भोजन है। जिस समय भक्तिरस उसे तृप्त करने लगता है, सांसारिक भोजन उसके लिए विशेष आनन्द-दायक नहीं रहता। 'ब्रह्मचर्य' शब्द का एक अर्थ ब्रह्म=परमेश्वर में विचरण करना भी है। ब्रह्मचर्य योग का प्रमुख अंग है।

सामवेदीय ऋचा में भक्तिरस को योगी का भोजन बताया है कि—'परमेश्वर जब हमारे साथ मिलकर भक्तिरस और आनन्दरस के पारस्परिक भोग से प्रसन्न हो जाता है, तब आध्यात्मिक सम्पत्तिशाली वेदवाणियाँ हमें बहुत बलप्रदान करती हैं[3] जिन वेदवाणियों द्वारा, हम अन्नभोजी उपासक आनन्द प्राप्त करते हैं'। अध्यात्मभोजन अन्यत्र भी द्रष्टव्य है।[4]

अन्न, फल, दुग्ध, घृत, जल आदि पदार्थों में से किसी एक का आहार करना योगाभ्यासी के लिए सम्भव है, क्योंकि अन्न-जलादि भौतिक भोज्यपदार्थों को वेदों में प्राण या जीवनप्रद माना है। इसके अतिरिक्त केवल वायु का आहार करनेवाले योगियों का वर्णन वेद में मिलता है जिनका विवेचन विभूतियों के प्रसंग में किया है।

समर्पण-भावना से मनोनिग्रह

साधक के लिए आसक्ति अत्यन्त बाधक है, यह आसक्ति चाहे विषय-वासना-भोग ऐश्वर्यों में हो, धन-वैभव-स्त्री-पुत्र में हो, चाहे पर-

---

१. ऋग्० ४।५५।७ भावार्थ महर्षि दयानन्द मदकारी=**बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते।**—शार्ङ्गधर १ख० ४अ० २१ श्लोक

२. **आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः।**—छान्दो० ७।२६।२

३. **रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम॥**—साम० १०८४; ऋग्० १।३०।१३

४. **इन्द्र पिब स्वधया।**—ऋग्० ३।३५।१०

लोक के विश्रुत दिव्य ऐश्वर्यों के प्रति हो। आसक्ति मन को चञ्चल बनाती है। मनोनिग्रह हेतु आसक्ति के घातक परिणामों से बचने के लिए इसकी भावना नितान्त त्याज्य है। वेदों में आसक्ति-भावना के त्याग के लिए समर्पण-भावना को उपयोगी बताया है। वैदिक संहिताओं की समर्पण भावना को योगदर्शन में 'ईश्वरप्रणिधान' के द्वारा अभिव्य किया है। जब व्यक्ति के अन्दर समर्पण भावना जाग्रत हो जाती है तो मनोनिग्रह को बल मिलता है। इसी आशय को हृदयङ्गम कर पतञ्जलि ने 'ईश्वरप्रणिधान' को मनोनिग्रह का प्रमुख साधन स्वीकार किया है।[1] वैदिक संहिताओं में समर्पण की भावना का पदे-पदे वर्णन किया गया है।

समर्पण की प्रेरणा

श्रुति भगवती साधक को कल्याणकारी प्रेरणा देती है कि हे साधको! जिस अनन्तविद्या सम्पन्न सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के विना न सांसारिक, न पारलौकिक यज्ञ की सिद्धि होती है, वही जगदीश्वर सभी की बुद्धि और कर्मों में व्याप्त हो प्रेरणा करता है, अतः उसके प्रति समर्पण करो।[2] जो परमात्मा को आत्मसमर्पण कर देता है वह सुरक्षित स्थान में से ऐश्वर्य को ग्रहण कर लेता है।[3]

अतः हे आत्मयाजी साधको! उठो! ऋतु के अनुसार अपनी आत्महवि का निरीक्षण करो; यदि पक चुकी है तो निश्शंक समर्पित कर दो, यदि कच्ची है तो धैर्य से पकने दो'।[4] परिपक्व साधकों को प्रेरणा दी गयी है कि—हे उपासको! तुम आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दृष्टि से थामनेवाली अपनी अभिलाषाओं को धर्मवीरों द्वारा वन्दित, तथा चन्द्रमा के समान आह्लादकारी परमेश्वर के प्रति पूर्णतया समर्पित कर दो।[5]

ब्रह्माण्ड की विशाल सत्ताओं का निदर्शन प्रस्तुत कर वेद आत्म-

---

१. **ईश्वरप्रणिधानाद्वा।**—यो० १।२३ एवं २।३२

२. **यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति॥**
ऋग्० १।१८।७

३. **स दृळहे चिदभिः।**—ऋग्० ८।१०३।५

४. **उत्तिष्ठताव पश्यत्।**—ऋग्० १०।१७९।१

५. **प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषम्।**—साम० ३६०; ऋग्० ८।६९।१

समर्पण की भावना को उद्बुद्ध करता है कि, 'ये प्रचण्ड सूर्य, सम्पूर्ण द्युलोक जलीयलोक तथा पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष आदि में साथ ही वायुवेगों और मानसूनों में जो भक्तिरस है, उसका आनन्द, भगवन्! आप इस प्रकार लेते हैं जैसे प्रजाजन शुभ्र ज्योत्स्नाओं का।'[1]

उक्त उद्धरणों का उल्लेख यह उद्भासित कराता है कि सारा संसार परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण किये हुए है। एक-एक पदार्थ में मानों भक्तिरस उमड़ रहा है। 'ब्रह्माण्ड के गतिमान पिण्ड उस परमेश्वर के उत्तम शासन की उपासना कर रहे हैं अर्थात् अपने-आपको उसके प्रति समर्पित किये हुए हैं'[2] 'जिस आत्मज्ञान के दाता परमेश्वर की सब योगी विद्वान् उपासना करते हैं, जिसके प्रत्यक्ष सत्य-स्वरूप, न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, अतः उसके प्रति अपने कल्याण-हेतु प्रत्येक साधक को आत्मसमर्पण करना चाहिए।'[3]

समर्पण की आवश्यकता

समर्पण-भाव की उत्पत्ति बिना, साधना सफल नहीं हो पाती। समर्पण-भाव साधक की उस स्थिति का द्योतक है, जिसमें वह योगाभ्यास करते-करते, आत्मचिन्तन तथा यम-नियमों का परिपालनरूप पुरुषार्थ करते-करते इतना थक जाता है कि कभी-कभी निराशा की श्याम-घटाएँ उसे आ घेरती हैं। उससे कुछ बनता दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में अपने लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव प्रतीत होती है, वह अपनी पूरी शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रयोग कर चुका होता है। अन्त में साधक अपने आराध्यदेव के प्रति अपना पूर्ण समर्पण कर देता है और यह सोच लेता है कि जैसा परमात्मदेव चलाएँगे वैसे ही चलूँगा। साधक की इस स्थिति का दिग्दर्शन यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में मिलता है—प्रथम तीन मन्त्रों में साधक को प्रभु-साक्षात्कार का अधिकार प्राप्त होता है, पुनः आगामी पाँच मन्त्रों में परमेश्वर के स्वरूप को बुद्धिपूर्वक समझकर हृदय में बिठाता है, फिर सम्भूति-असम्भूति

---

१. **यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये।**
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः॥—साम० ३८४ ऋग्० ८।१२।१६

२. **तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते॥**—अथ० १३।४।२७

३. **य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।**
—यजु० २५।१३

विद्या-अविद्या को अच्छी प्रकार समझता है, तत्पश्चात् शरीर-आत्म-बोधपूर्वक उस अनन्त अविनाशी परमेश्वर का स्मरण करता है, ध्यान करता है। इतना सब करने पर भी जब वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता तो सोलहवें मन्त्र के आधार पर प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, पुनः सत्रहवें मन्त्र में लक्ष्य की ओर बढ़ते-बढ़ते थककर चूर हुए साधक पर प्रभु अपनी कृपा करता है। इससे ज्ञात हुआ कि समर्पण वह सन्धिकाल है जिसमें साधक पूर्णपुरुषार्थ द्वारा अपने हृदय में तड़प भरता है जिसका परिणाम उसके लक्ष्य की सिद्धि होता है, अतः लक्ष्य की सिद्धि के लिए समर्पण-भाव की महती आवश्यकता है।

आत्मसमर्पण की पद्धति

वेदानुमोदित आत्मसमर्पण की पद्धति को अपनाकर साधक को साधना सेवन के लिए सन्नद्ध होना चाहिए, 'जैसे शिशु माता-पिता के प्रति समर्पित होता है, उनके आदेश का उल्लंघन शिशु के लिए दुर्भर होता है। बालक सदैव अपने माता-पिता की प्रसन्नता चाहता है तद्-वत् योगाभिलाषी परमेश्वर को माता-पिता तथा सर्वस्व जानकर, दयालु की दया तथा प्रसन्नता की प्रतीक्षा करता रहे'।[1]

साधक योगयज्ञ, उत्तम अन्न आदि को समर्पित कर योगक्षेम की कामना करे।[2]

आत्म-समर्पण का फल

साधक जब पद्धति के अनुसार आत्म-समर्पण को अपना लेता है तो परमात्मा में समर्पित उस आत्मा को परमात्मा स्वाधीन कर लेता है[3] जिससे साधक को अपने हृदय-देश में अनुभूति होने लगती है।[4] साधक

---

१. त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ —ऋग्० ८।९८।११; साम० ११७०

२. अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदिस्तोम उपश्रितश्चिदस्तु।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥
—ऋग्० ७।८६।८

३. यजु० ११।१

४. उद्बुध्यस्वाग्ने···।—यजु० १५।५४

मनोवाञ्छित फल प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।[1] वही अभिध्यान में आया हुआ परमेश्वर उसे सब पदार्थों का ज्ञान देता है, वही साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त कर इच्छाओं को परिपूर्ण करता हुआ उसकी रक्षा करता है।[2] परमात्मा से पूर्ण रक्षित साधक का मनोबल बढ़ता है, वीरता का संचार हो आत्मा निर्भय हो जाता है।[3] शत्रुदल छल-कपटपूर्ण व्यवहार से हानि करने में असमर्थ रहते हैं।[4] साधक के आन्तरिक शत्रु एवं इन्द्रियसमूह वश में हो जाते हैं।[5] समर्पण के बदले परमात्मा साधक की आध्यात्मिक भूख को तृप्त करता है, आनन्दरस से परिपूर्ण करता है।[6] इस प्रकार साधक का योगमार्ग उद्घटित होकर निरन्तर अभिवर्धन होता है। उस बढ़ी हुई भक्तिरस की धारा में मानो परमात्मा स्वयं स्नान करता है एवं स्वयं हविरूप बनता है।[7]

इस मन्त्र में प्रयुक्त 'हविः' शब्द पर **'यत्पुरुषेण हविषादेवा यज्ञम तन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः'** यह मन्त्र पूर्ण प्रकाश डालता है। अभिप्राय यह है कि परमेश्वर हविरूप है और जीवात्मा अग्निरूप। ध्यानाभ्यास के प्रकर्ष में परमेश्वररूपी हवि चमक उठती है, जैसे कि प्राकृतिक हवि यज्ञीयाग्नि में डालने से चमक उठती है। जब परमात्मरूपी हवि, अग्नि का रूप धारण कर लेती है, तब इस अग्नि के प्रति तीन ऋतुमय वर्ष, पूर्णरूप से लगा देना चाहिए और इस अग्नि के प्रति वर्ष, काल तथा अपने-आपको तथा अपनी समग्र शक्तियों को समर्पित कर देना चाहिए। इस प्रकार से उपासना-यज्ञ में एक बार तो परमेश्वर 'हवि' बनता है और जीवात्मा अग्नि होता है, दूसरी बार जीवात्मा और उसकी समस्त शक्तियाँ 'हवि' बनती हैं एवं परमेश्वर 'अग्नि' होता है। इस दृष्टि से मन्त्र में परमेश्वर को 'हवि' कहा है।[8]

---

१. ऋग्० ८।६।३

२. ऋग्० ८।८६।२-३

३. **यदि वीरो अनुष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः।**—साम० ८२

४. **न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः।**—साम० १०४

५. **युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ।** ऋग्० ८।९८।९; साम० ७१२

६. **इन्द्र जठरं नव्यं न पृणस्व मधोर्दिवो न।**—साम० ९५३

७. **प्र धारा मधो अग्रियो महीरपो विगाहते।**—साम० ११२९; ऋग्० ९।७।२

८. साम० ११२९ मन्त्र पर टिप्पणी-भाष्यकार पं० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड

आत्मसमर्पण के फलस्वरूप ईश्वर साधक के मन को विविध प्रकार से विलीन करता है अर्थात् मन को विक्षिप्त करनेवाली वृत्तियों को विलीन कर एकाग्र करता है। मन को विलय करने का सामर्थ्य परमेश्वर में है, यह जानकर साधक निःसंकोच आत्मसमर्पण कर देता है।[1]

मनोनिग्रह के प्रमुख साधन आत्मसमर्पण या ईश्वर-प्रणिधान में साधक को ईश्वर में समर्पण करने की प्रेरणा की गयी है। समर्पण की भावना को प्रबलरूप से जाग्रत करने के लिए परमेश्वर के अनन्त गुणों का ज्ञान समर्पक-साधक को होना अनिवार्य है। महत्त्वशाली गुणों के परिज्ञान बिना साधक में श्रद्धा नहीं जागती। यदि हठात् श्रद्धा कर भी ली जाए तो वह श्रद्धा, सत्य नहीं होती, उसे अन्धश्रद्धा कहा गया है। अतः सत्यस्वरूप, सर्वज्ञ ईश्वर के स्वरूप-गुण-कर्म एवं स्वभाव का ज्ञान साधना में सहायक है।

वैदिक संहिताओं में ईश्वर के अनन्त गुणों का निरूपण विशदरूप में किया गया है। प्रसंगवश यहाँ हम प्रमुखरूपेण उनका गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर निर्देश करेंगे। स्वा० वेदानन्द तीर्थ और आचार्य वैद्यनाथशास्त्री[2] ने इस विषय में मन्त्रों का कुछ संकलन किया है, उसके अतिरिक्त सगुण-निर्गुण स्वरूप का विभाजन भी यहाँ प्रस्तुत है, जो साधकों के लिए परमोपयोगी है।

ईश्वर का स्वरूप

वेदों में ईश्वर को[3] सत्-चित्-आनन्दस्वरूप बताया है, जिसको अनादि, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, पिताओं का भी पिता, गुरुओं का भी

---

१. **प्राणपा मेऽअपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः'** ॥ यजु० २०।३४; वेदालोक, पृ०४३४

२. वेदामृत, पृ० २-६४ **'दर्शनतत्त्वविवेक'** पृ० ७४

३. सत्—ऋग्० १।१६४।४६; यजु० ३२।८६; अथ० १०।८।६; ऋग्० १।६६।१

चित्—ऋग्० ४।३१।१-२; यजु० ३६।५; अथ० १८।४।१४; ऋग्० १।७२।१; ऋग्० ६।४।३

आनन्द—अथ० २।१।५; यजु० २२।१०; ऋग्० १०।१२१।१ (यहाँ 'क' पद आनन्दस्वरूप का वाचक है); ऋग्० १०।१२१।१-१०; अथ० ४।२।४; ऋग्० ८।४३।१४

गुरु, त्रिकालज्ञ, पापों का भस्म करनेवाला भी कहा है। इस प्रकार के अनन्त गुणों से युक्त वह ईश्वर ही सभी साधकों का उपास्य है। ऐसे अनन्त-गुण-सम्पन्न उपास्य परमात्मा के स्वरूप को गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर इस प्रकार समझ सकते हैं—

गुणों के आधार पर ईश्वर का स्वरूप

वेदों में वर्णित गुणों के आधार पर परमात्मा के स्वरूप को दो प्रकार से समझ सकते हैं—१. सगुण २. निर्गुण। इसमें उपनिषद् भी प्रमाण हैं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥[1]

सगुण स्वरूप

सगुण स्वरूप के अन्तर्गत सर्वशक्तिमान्,[2] सर्वाधार,[3] सर्वेश्वर,[4]

---

१. श्वेता० ६ अ० ११ मंत्र

२. ऋग्० ८।२४।२१; ८।३२।१५; १०।५५।६; ६।२५।५; १।५२।१२; ५।३८।२; अथ० १०।८।२४; 'शुक्रम्' यजु० ४०।८; **त्वं साहस्रस्य रायऽईशिषे**—यजु० १७।७१; ऋग्० २।३३।१०; ऋग्० १।५४।२; ऋग्० १०।१२१।१०; ऋग्० ६।२५।५; ऋग्० १।१००।१५ ऋग्० ६।१८।१२; ऋग्० ८।६३।६; ऋग्० ६।२९।५

३. ऋग्० १।५९।१; अथ० १०।७।२७; अथ० १०।८।६; अथ० १०।७।१-४३; यजु० ३१।११; अथ० १०।८।११; **स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्**—यजु० १३।४; **सोऽदृंहयत सोऽधारयत**—अथ० ४।११।७

४. **तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम्**—ऋग्० १।८९।५; ऋग्० ८।६४।३; ऋग्० १०।८९।१०; ऋग्० १।३२।१५।; ऋग्० १०।१२१।३; ऋग्०८।९३।४; **त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि।**—ऋग्०८।९३।३; **यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा।**—अथ० १३।३।३

सर्वव्यापक,[1] सर्वान्तर्यामी,[2] सर्वज्ञ,[3] नित्य,[4] पवित्र,[5] साक्षी,[6] अधिष्ठाता[7], इत्यादि ईश्वर के गुणों का सन्निवेश है।

निर्गुण स्वरूप

परमात्मा के निर्गुण स्वरूप के अन्तर्गत निराकार,[8] निर्विकार,[9] अनादि,[10] अजन्मा,[11] अनुपम,[12] अजर,[13] अमर,[14] अभय,[15] दुःखरहित,[16] इत्यादि विशेषणों की गणना की गयी है।

---

१. **त्वं हि विश्वतोमुख**—ऋग्० १।९७।६; १।२२।१७-२१; १।१५४।१-२; यजु० ३२।८, **'विभुः' स पर्य्यगात्**—यजु० ४०।८; अथ० ७।८७।१; ११।२।१२; १०।७।८-९; १०।८।२९; ऋग्० ६।५९।१३; ७।५।१; १०।२६।१४; ऋग्० ८।१।७

२. ऋग्० १।२५।७, १०, ११; ३।६२।९; ८।१०।१४; १०।८२।६; यजु० ३१।१९; **तदन्तरस्य सर्वस्य**—यजु० ४०।५; अथ० ५।११।४; ४।१६।२, ४, ५; १०।८।१३

३. ऋग्० ८।१०।१४; यजु० ३२।१०; ऋग्० १०७१।३

४. ऋग्० १०।५५।६; १।६१।६; ६।२४।७; ६।४।३; ४।३२।१३; १।१६४।३०; अथ० १०।८।२२-२३

५. ऋग्० ८।९५।७-८; ९।३५।६; ८।२८।५

६. **त्वं नृचक्षा असि सोम विश्वतः**—ऋग्० ९।८६।३८

७. **उतामृतत्वस्येशानो**—यजु० ३१।२

८. ऋग्० ४।१।११; ८।६९।११; ८।७२।३; १।२६।१४; यजु० ३२।२, ३, ४

९. ऋग्० १०।१११।३; ८।४७।९; यजु० ३४।५३; अथ० १०।८।४४

१०. यजु० ३२।२ साम० ३९९; ऋग्० ८।२१।१; साम० ४०८; साम० ७०८; अथ० १०।८।२२

११. ऋग्० १।६७।३; ६।५०।१४; ७।३५।१३; यजु० ३१।१९; **स्वयम्भूः** यजु० ४०।८; ३४।५३; अथ० १०।८।४

१२. ऋग्० ७।३२।२३; ८।५२।२; १०।१२।१०; १०।८।२३; ६।१८।१२; १।५२।१३; साम० २४२

१३. ऋग्० ६।४९।१०; १०।८८।३; ६।१९।२; ६।५।७; अथ० १०।८।४४

१४. ऋग्० ५।१४।२; ४।१।१; १०।४८।५; ४।२।१; ६।४।२; ७।४।४; ऋग्० ८।९३।५; ६।२४।७

१५. **उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र**—ऋग्० २।२७।१४; **उताभये पुरुहूत श्रवोभिः** ३।३०।५; **वृषेन्द्र पुर ऐतु नः सोमपा अभयंकरः**—अथ० १।२१।१

१६. **न स जीयते न मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति॥**
—ऋग्० ५।५४।७

ईश्वर के कर्म

परमेश्वर की अनेक शक्तियाँ हैं, उन शक्तियों के फलस्वरूप वह संसार का सृजन, पालन एवं संहार करता है। साथ ही जीवात्माओं की अनादिकर्म-शृङ्खलाओं का न्याय करता हुआ तत्तत्कर्मों का फल देता है। परमात्मा अनेक कर्मों का व्यवस्थापक है[1] उसके कर्म महान् एवं विलक्षण हैं। वेद का आदेश है कि हे साधको! परमात्मा का सखित्व=मित्रता प्राप्त करने के लिए उसके कर्मों एवं व्रतों को देखो।[2] वह परमात्मा सृष्टि का रचयिता है।[3] सृष्टि की संरचना से पूर्व परमेश्वर को 'हिरण्यगर्भ'-रूप[4] कहा गया है जो सूर्य, विद्युत् आदि प्रकाशकों का प्रकाशक एवं आधार है।[5] वही महत्तत्व अहंकारादि इक्कीस पदार्थों का निर्माता है।[6] वह परमात्मा जीवात्माओं के कर्मों का फल प्रदान करता है।[7] उक्त कर्मों के अतिरिक्त विविध ऋचाओं में बुद्धि को प्रेरणा करना,[8] ब्रह्मवर्चस् प्रदान करना,[9] पतितों का उद्धार करना,[10] अन्नपानादि भोगों का प्रदान करना,[11] तथा मोक्षानन्द प्रदान करना[12] इत्यादि परमेश्वर के कर्मों का निर्देश मिलता है। परमात्मा

---

१. नू च पुरा च सदनं रयीणां जातस्य च जायमानस्य च क्षाम् ॥
—ऋग्० १।९६।७

२. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥
—यजु० ६।४

३. ऋग्० १०।११०।९; १०।१२५।८; सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्—ऋग्० १०।१९०।३; १।९६।९; यजु० १७।१८-१९; ३१।५।७
सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्—यजु० ३१।१; साम० ६१७
अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः—अथ० १६।१।१-६

४. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे—यजु० १३।४; २५।१०; ३२।३

५. यजु० ३२.२; आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि—ऋग्० ९।७५।१

६. अयं त्रिःसप्त दुदुहान आशिरं—ऋग्० ९।८६।२१

७. देवानामुत यो मर्त्यानां यजिष्ठः—ऋग्० ६।१५।१३;

८. प्र पूतास्तिग्मशोचिषे वाचो गोतमाग्नये—ऋग्० १।७९।१०

९. पवमान विदा रयिमस्मभ्यं सोम सुश्रियम्। इन्दो सहस्र वर्चसम् ॥
—ऋग्० ९।४३।४ इत्यादि

१०. अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति—ऋग्० ९।८६।४३

११. यो अर्यो मर्तभोजनं पराददाति दाशुषे—ऋग्० १।८१।६

१२. कदा चन प्र युच्छस्युभे—ऋग्० ८।५२।७

ज्ञान-बल और क्रियाओं का आधार,[1] साक्षी[2] तथा संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीन प्रकार के कर्मों का ज्ञाता[3] होने से 'विश्वकर्मा'[4] कहलाता है।

ईश्वर का स्वभाव

परमेश्वर सबका मित्र, कल्याणकारी, सबसे श्रेष्ठ (अर्यमा) न्यायकारी,[5] परमैश्वर्ययुक्त, वेदवाणी का स्वामी और सर्वव्यापक है, उसका रचनादि सामर्थ्य महान् है, वह हम सबका सदैव कल्याण चाहता है। इसके अतिरिक्त परमात्मा को विभिन्न मन्त्रों में धर्मकार्यों का योग्य अध्यक्ष[6] अर्थात् कर्म्मफलप्रदाता कहा है। दानशीलों का कल्याण करने का उसका अटल नियम है। वह श्रेष्ठकर्म तथा दुष्टकर्म करनेवाले दस्यु [अकर्मा] व्यक्तियों को जानता है।[7] पूजादि सत्य कर्म करनेवाले को सिद्धियुक्त करता है और 'अव्रतान्' [पापियों] को दण्ड के द्वारा शिक्षा देता है। परमेश्वर दुष्टों को उनके अपराधानुकूल दण्ड देता है,[8] सत्कर्मी पुरुषों को सुख देता है, यही उसका न्याय है। 'मनुष्य' दुष्ट और मन्द स्तुतियों से तथा हिंसक कार्यों से अभीष्ट धनों को प्राप्त नहीं करता।[9] जो धन इस जगत् में और द्युलोक में परमात्म-भक्त को देने के लिए है, उसको सुकर्मा ही प्रभु से प्राप्त करता है। इस प्रकार 'अर्यमा' आदि शब्द परमात्मा के न्यायकारी स्वभाव के द्योतक हैं, जो वेदों में यथास्थान उपलब्ध होते हैं।

---

१. गोवित्पवस्व वसुविद्धिरण्यविद्रेतोधा—ऋग्० ९।८६।३९
२. त्वं नृचक्षा असि सोम विश्वतः—ऋग्० ९।८६।३८
३. आ हर्यतो अर्जुने अत्के अव्यतः प्रियः—ऋग्० ९।१०७।१३
४. यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥
—यजु० १७।१८
विश्वकर्मा विमना आद्विहाया—यजु० १७।२६
५. शन्नो मित्रः शं वरुण शन्नो भवत्वर्यमा—यजु० ३६।९; ऋग्०१।९०।९;
अथ० १९।९।६
६. विशां राजानमद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम्—ऋग्० ८४३।२४
यदङ्ग दाशुषे—ऋग्० १।१।६
७. वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो—ऋग्० १।५१।८;
८. वधैर्दूःशंसाँ अप—ऋग्० १।९४।९
९. न दुष्टुती मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तं रयिर्नशत्—ऋग्० ७।३२।२१;
—साम० ८६८

परमात्मा दयालु है, 'अपराध करनेवालों के प्रति भी दया को बनाये रखता है, दया करना उसका स्वभाव है,'[1] साधक को भी उसके निकट सदैव निरपराध होकर उपस्थित होना चाहिए। परमेश्वर दण्ड देता है, किन्तु हिंसा के भाव से नहीं, अपितु कल्याण की भावना से।[2] कल्याण चाहनेवालों को दयालु परमात्मा के बताये वेदमार्ग का अनुसरण करना चाहिए। माता-पिता, आचार्य-विद्वान् तथा राजादि जिस प्रकार सन्तान, शिष्य और अल्पबुद्धि मनुष्यों पर करुणा, दया, न्याय एवं शिक्षा करते हैं, उसी प्रकार परमात्मा भी करुणादि करता है।[3] इस प्रकार परमात्मा अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त है, जिनका हमने यहाँ संकेतमात्र किया है।

जप

साधक को चाहिए कि ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव तथा स्वरूप को जानकर अपने चित्त में इन गुणों का आधान करे। स्वरूपस्थिति की बद्धमूलता के लिए जिस गुण का बार-बार आवर्तन किया जाता है, मन उसको ग्रहण कर लेता है और समय पाकर वही विचार पक्का हो जाता है। इस प्रकार जप मनोनिग्रह का मुख्य साधन है।

जपानुष्ठान की विधि

जप शब्द—जप 'व्यक्तायां वाचि, मानसे च' दो अर्थोंवाली धातु से निष्पन्न होता है, अर्थात् शब्द के अनुसार जप का अनुष्ठान स्पष्ट बोलकर किया जा सकता है और मन से भी। विक्षिप्त मनवाले साधक को प्रारम्भिक अवस्था में कुछ योग-शिक्षक जपकरणीय पद को बार-बार लिखने का आदेश करते हैं। व्यासमुनि ने 'प्रणव' आदि पवित्र-कारक मन्त्रों के जप को स्वाध्याय बताया है[4], तथा प्रणव=ओ३म्-जप को योगशास्त्र में मनोनिग्रह का साधन माना है।

---

१. यो मृडयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः।—ऋग्० ७।८७।७
२. यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।—ऋग्० ५।६४।३
३. यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्।—ऋग्० १।२५।१;
इन्द्रश्च मृळयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः॥
—ऋग्० २।४१।११
४. स्वाध्याय प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा॥
—व्या० भा० २।१

'ओ३म्' का जप—ईश्वर का मुख्य नाम 'ओ३म्'[1] है। अथर्ववेद में उसी के द्वारा परमात्मा को पुकारने का विधान है। मन्त्र में कहा है कि सूर्योदय से पूर्व तथा उषा से भी पूर्व जो परमात्मा के नाम द्वारा उसका स्मरण करता है वह स्वात्मराज्य को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मन आदि एकाग्र होकर आत्मा के अधीन हो जाता है, जिससे बढ़कर अन्य कोई स्थिति नहीं है[2]। ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव अनन्त होने के कारण उसके नाम भी अनन्त हैं, परन्तु वेदादेश है कि 'मननशील मन को ज्ञानप्राप्ति या संसार के अन्य कार्यों की सिद्धि-हेतु 'ओ३म्' पद-वाच्य परमेश्वर में ही प्रतिष्ठित करना योग्य है।' साधक भी निवेदन कर रहा है कि 'मेरा मन उस 'ओ३म्' में स्थित हो जाए।'[3]

अहर्निश जप

साधक को केवल साधनाकाल में ही नहीं वरन् अहर्निश कर्म करते हुए एवं मृत्युकाल में परमात्मा के 'ओ३म्' नाम का स्मरण करना स्मरणीय बताया है।[4] अथर्ववेद में जप का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करते हुए प्रार्थना है कि ईश्वर की शक्तियाँ जो मानव को आध्यात्मिक संग्रामों में तथा सांसारिक युद्धों में विजय दिलाती है, जो सभी पदार्थमात्र में व्याप्त हैं वे शक्तियाँ मेरे द्वारा स्मरण-सामर्थ्य से विशेष-रूपेण मुझमें प्रकट हों। परमात्म-स्मरण के कारण मैं विद्वानों का और परमात्मा का प्रेम-पात्र बन जाऊँ।' साधक आगे कहता है कि 'विद्वान् मुझे इस प्रकार से स्मरण का महत्त्व बतलाएँ कि मैं कभी प्रभु-नाम-स्मरण को त्यागूँ नहीं।'[5]

'प्राण-अपान की क्रिया प्राणायाम के समय में नाम-स्मरण-ओम् का जप करूँ तो मुझे यह जप प्रसन्न करे तथा जठराग्नि को उद्दीप्त करनेवाली क्रियाओं को करते हुए स्मरण करता रहूँ।'

---

१. 'ओम्' यजु० ४०।१७ के अनुसार ईश्वरवाचक है। व्युत्पत्ति—अव=रक्षण-गति-कान्ति आदि १९ अर्थोंवाले धातु से, 'अवतेष्टिलोपश्च' उणा०[१।१४२] सूत्र से, अव धातु से मन् प्रत्यय करके टि भाग का लोप करने पर 'ओम्' शब्द सिद्ध होता है।
२. **नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः**—अथ० १०।७।३१
३. **मादयन्तो३म् प्रतिष्ठ**—यजु० २।१३
४. **ओ३म् क्रतो स्मर**—यजु० ४०।१५
५. **'स्मरः' देवता**—अथ० ६।१३०-१३२

'शिर से पैर तक आन्तरिक चिन्तन करते हुए ओ३म् स्मरण रखूँ तथा ध्यान की स्थिति में मैं स्मरण करता रहूँ।'

'स्मरण-सामर्थ्य से मेरी बुद्धि का विकास हो, शरीर में उत्साह बढ़े।' अन्त में कहा गया है कि 'ध्यान-शक्ति बढ़ाने के लिए, विधिवत् मनोनिग्रह तथा मनोबल की वृद्धि के लिए तथा सांसारिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति एवं अभिवृद्धि के लिए सदैव ओ३म् नाम स्मरण करना योग्य है।'

योगाभ्यास में केवल ओम् का जप

कुछ नवीन साधकों ने 'स्तुता मया वरदा वेदमाता'[1] मन्त्र के आधार पर **'ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्...'** गायत्री मन्त्र को वेदमाता कहकर 'गायत्री' का जपानुष्ठान योगाभ्यास के समय करने को कहा है, परन्तु वेद, उपनिषद्, योगदर्शन एवं मनुस्मृति आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में मनोनिग्रह की सूक्ष्मगति के लिए मन्त्र का जप उपयोगी नहीं बताया गया है। मनुस्मृति में कहा है कि ओ३म् तथा 'भूर्भुवः स्वः' महाव्याहृति-सहित प्रातः-सायं सन्धि-वेलाओं में गायत्री का जप करने-वाला वेदपाठ के पुण्य का भागी बनता और पापों से मुक्त हो जाता है। वहाँ गायत्री को ब्रह्म का मुख भी कहा है।[2]

इसके अतिरिक्त उपनिषद्, गीता एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों में गायत्री के जप से ऐश्वर्यों की प्राप्ति का विवरण उपलब्ध होता है। ध्यान रहे, उक्त उद्धरणों में मनोनिग्रह तथा ब्रह्मप्राप्ति का साधन वर्णित नहीं है। गायत्री मन्त्र में २४ अक्षर हैं, अतः सम्पूर्ण मन्त्र का जप, अर्थ-चिन्तन-सहित करने पर प्रारम्भिक अवस्था के साधक को अपना विक्षिप्त मन वश में करने के लिए करना योग्य है, इस कारण व्यासभाष्य में पवित्र मन्त्रों का जप लिखा है। परन्तु मनोनिग्रह के लिए प्राणायाम के समय सप्त व्याहृति मात्र का संकेत महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया है। इससे आगे सूक्ष्मता में जाने के लिए जप का मन्त्र भी सूक्ष्म ही होना चाहिए, अतः 'ओ३म्' एकाक्षर ब्राह्मी गायत्री का जाप ही मनोनिग्रह को ध्यानावस्था तक ले जाने में सहायक है एवं सुगमता से उच्चारण

---

१. अथ० १९।७१।१

२. **'एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।**
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ —मनु० २। ७८।८१

करने योग्य सर्वग्राह्य है। वेद के शब्दों में साधक 'ओ३म्' नाम को स्वयं स्वीकार करता है कि—

'हे परमेश्वर! अविद्या के विनाशक, आपकी वेदवाणियों को भी विचारने में मैं असमर्थ हूँ और प्रजा तथा प्राण-शक्ति के प्रदान करने-वालों में सर्वश्रेष्ठ आपकी उत्तम स्तुति के ढंग को भी मैं नहीं जानता। मैं तो सदा आपके निज-यशस्वी 'ओ३म्' नाम का विशेषतया जप करता रहता हूँ।"[1]

उपनिषद् में भी 'ओ३म्' पद का जप या स्मरण करना बताया है जिस परमपद को वेदों के द्वारा, तपस्वियों को तपस्याओं द्वारा एवं उसको प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य का कठोर व्रत धारण करने-वालों के द्वारा श्रेष्ठ उपाय बताया है।[2]

योगदर्शन में चित्तवृत्ति-निरोध का उपाय ईश्वर के वाचक प्रणव= 'ओ३म्' का जप ही स्वीकार किया है।[3]

जप करने की विधि यह है कि मन से [उपांशु] 'ओ३म्' पद का जप करना एवं साथ ही परमात्मा के अनन्त गुणों की भावना करनी चाहिए। जैसे जल कहने से शीतलत्व, तृप्तिकारक आदि गुणों की भावना सहसा हो जाती है, तद्वत् 'ओ३म्' कहते ही 'ओम्' पद वाच्य परमेश्वर के सत्-चित्-आनन्द-सर्वशक्तिमान्-निराकार, न्यायकारी, दयालु, सृष्टिकर्ता, सर्वज्ञ आदि गुण-कर्म-स्वभाव की भावना मन में प्रकट होनी चाहिए।

मानसिक तप

तपस् का अर्थ है तपस्या, वैराग्य या दैहिक संयम। जैसे शारीरिक तप से अन्नमयकोश पर प्रभाव पड़ता है, तद्वत् मानसिकतप से मनोनिग्रह में सहायता मिलती है। शारीरिक शक्तियों की अपेक्षा

---

१. न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्।
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि॥—साम० १७६६

२. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
—कठ० २।१५

३. तस्य वाचकः प्रणवः।—यो० १।२७
तज्जपस्तदर्थभावनम्।—यो० १।२८

मानसिक शक्तियाँ अधिक बलवती होती हैं। मानसिक तप के अभाव में आन्तरिक दुर्बलताएँ, अतपस्वीरूप भावनाएँ साधक को बैठने तक नहीं देतीं, अतः उत्साह, श्रद्धा, कठिनाइयों में सहनशीलता, प्रसन्नता, आदि ऐसे मानसिक गुण हैं जोकि साधक को दृढ़ बनाते हैं। वेदमन्त्रानुसार साधक तपस्यापूर्वक मनःस्थैर्य की प्रार्थना करता है कि 'हे परमात्मन् ! द्युलोक में आपका तपोरूपी विस्तृत पद विराजमान है, उस पद की दीप्तिवाली किरणें भी स्थिर हैं। उस स्थिर पद के उपासक की आप रक्षा करते हैं, जिससे उपासक द्युलोक के शिखर पर अपने मानसिक-बुद्धिबल से स्थिर होते हैं।[1] यहाँ स्पष्ट है कि तप मन को स्थिर करने में सहायक है।

जो साधक तपस्यामय जीवन से मनोनिग्रह के साधनों का अनुष्ठान करता है परमात्मा उसके लिए सहायक होता हुआ, उसे उत्साहित करता है।[2] तपस्यामय जीवन से उत्पन्न की गई उत्साह, साहस तथा विश्वासरूपी अग्नि से तपस्वी पापवृत्तियों को भस्म करता है।[3]

वेद उद्बोधन देता है कि हे योगसाधको ! परमात्मा के परमतपस्वी स्वरूप को जानकर, अपने दुर्गुणों को भस्म करके, उत्कृष्ट गुणों को उत्पन्न करो जैसेकि दोषों को भस्म करनेवाले प्राणों के तथा योगविद्या के तपानुष्ठान से तपस्वी लोग नष्ट करते हैं।[4]

तैत्तिरीयोपनिषद् में ज्ञानपूर्वक कर्मों के अनुष्ठान को ही तप कहा है—ऋत और अध्ययन-अध्यापन तप है। सत्य और सत्य का अनुष्ठान एवं प्रवचन तप है। तप और तप का करना-कराना तप है। शम और शान्त रहना और रखना तप है। ज्ञानाग्नियों को जानना और जनाना तप है। अग्निहोत्र करना और वेद का पढ़ना, पढ़ाना तप है। अतिथियज्ञ और ज्ञानग्रहण तथा दान तप है। सन्तान, सन्तान की उत्पत्ति तथा सन्तान में उत्कर्ष, इन बातों का जानना-जतलाना तप है।

---

१. **तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन्।**
अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्पृष्ठमधि तिष्ठन्ति चेतसा॥
—ऋग्० ९।८३।२

२. ऋग्० ९।९७।४२

३. **प्रति ते ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु॥**
—ऋग्० १०।८७।२०

४. **भृगूणामङ्गिरसां तपस तप्यध्वम्।**—यजु० १।१८

सत्यवादी 'राथीतर' के मत में सत्य ही तप है। तपःपरायण पौरुशिष्टि इस प्रकार के तप को ही तप मानते हैं। मुद्गल के पुत्र का कथन है कि 'स्वाध्याय-प्रवचन ही तप है। यही तप है, यही तप है।'[1]

तप की आवश्यकता के विषय में व्यास मुनि कहते हैं कि—'अतपस्वी जन को योग सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अनादिकाल से अशुद्ध क्लेश-कर्म-वासनाएँ बुद्धि में चित्रित हुई, विषयजाल को उठानेवाली हैं। वे वासनाएँ-क्लेश-कर्म बिना तप के विनष्ट नहीं होते।'[2]

उक्त तप का अनुष्ठान करता हुआ योगाभिलाषी मन को निर्मल, निर्दोष करता हुआ सतत मनोनिग्रह का प्रयास करे।

तैत्तिरीय उपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ने बलपूर्वक कहा है कि 'तप' ब्रह्मज्ञान के साधनों में एक साधन है।[3] छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध बताते हुए द्वितीय स्कन्ध के स्थान पर तप की गणना की है।[4] 'वैदिक विद्यार्थियों के लिए जो कठोर व्रत या नियम बनाये जाते हैं वे तप हैं।'[5] 'गौतमसूत्र' की व्यवस्था है कि—काम-सम्बन्धी' शुद्धता, सत्यता, दिन में तीन बार स्नान, गीला वस्त्र धारण, यज्ञिय भूमि पर शयन एवं उपवास तप कहे जाते हैं।[6] मनु के अनुसार सात व्याहृतियों एवं प्रणव के साथ तीन प्राणायाम करना ब्राह्मणों का सर्वोत्तम तप है।[7]

---

१. **ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥**

—तैत्ति० १।६

२. **नातपस्विनो योगः सिद्धयति···तपः संभेदमापद्यते।**—व्या० भा० २।१

३. **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।**—तै० उप० ३।५; बृहदा० ४।४।२२

४. छान्दो० २।२३;

५. आपस्तम्बधर्मसूत्र (१-२-५-१)

६. गौतमधर्मसूत्र १६।१५

७. मनु० १०।७०

प्राणायाम

प्राणायाम के द्वारा अन्नमय एवं प्राणमयकोश में होनेवाले लाभों का अनुशीलन हम गत प्रकरणों में कर चुके हैं। प्राणायाम की विविध विधाओं का प्रयोग मन के विधारण में भी कृतकार्य होता है, अतः यहाँ हम मनोनिग्रह के सहायकरूप में प्राणायाम को परिशीलन करेंगे।

यजुर्वेद ग्यारहवें अध्याय के प्रथम दो मन्त्रों[1] में मन की दो अवस्थाओं का वर्णन है। प्रथम—युञ्जान, द्वितीय युक्त।

जो विविध यत्नों से मन को एकाग्र कर परमात्मा में लगाने का अभ्यास है वह युञ्जान मन है। जो सदा प्रभु में लीन रहता है वह युक्त है।

इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में करते हुए प्राण को मन-बुद्धि कहा है।[2] इन दोनों का रोकना अनिवार्य है। यहाँ गूढ़ तत्त्व निहित है कि प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अष्टाङ्गयोग के किसी साधन द्वारा यदि मन रोक लिया जाए तो प्राण अपने-आप रुक जाते हैं। यह उत्तम विधि है। मन और प्राणों के रुकने के साथ सारी मनोवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। यदि किसी कारण से मन पहले न रोका जा सके तो साधक को चाहिए कि वह प्राणों को रोके। प्राणों को रोकना ही प्राणायाम है।[3] प्राणायाम से मन रुक जाता है। एकाग्र मन से जो भी कार्य सम्पादन किया जाता है उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त होती है। वेद में कहा गया है कि 'जो साधक शुद्ध-बुद्धि तथा सर्वसुख देनेवाले पवन को प्राणायाम के द्वारा अपने वश में कर लेते हैं वे समस्त व्यवहारों को सुखपूर्वक प्राप्त कर लेते हैं।[4] 'प्राणायाम' के द्वारा साधक इन्द्रियों की विषयवृत्तियों को जीतता है और संयमी हो जाता है।[5]

वेद के उक्त भावों को श्वेताश्वेतर उपनिषद् ने इस प्रकार कहा है कि—'शरीर में जहाँ अग्निरूपी प्राणों का मन्थन [संघर्षण] होता है

---

१. **युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः**—यजु० ११।१
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।—यज० ११।२

२. **प्राणा धियः।** —शत० ब्रा० ६।३।१।१३

३. **तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**—यो० २।४९

४. **प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारं रथप्राम्।** —ऋग्० ६।४६।४

५. **समी रथं न भुरिजोरेहषत दश स्वसारो अदितेरुपस्थ आ···।**
—ऋग्० ६।७१।५

एवं प्राणवायु रोका जाता है, जहाँ सोमस्वरूप भक्तिरस शेष रह जाता है, वहीं मन स्थिर हो जाता है।[1] श्वेताश्वेतर ऋषि कहते हैं कि 'प्राणायाम करते समय प्राणों को सारी चेष्टाओं से सतर्कता से रोके, जब प्राण क्षीण होने लगें तो दोनों नासिका-छिद्रों से वायु को बाहर फेंक दे। इन्द्रियों की रस्सियों को खींचकर रखता हुआ मनरूपी अश्वों को सारथी वश में कर ले।'[2]

प्राणायाम मनोनिग्रह का प्रमुख साधन है, वेद-सम्मत इस मान्यता को महर्षि पतञ्जलि ने प्राणायाम के फल-निरूपण में बताया है कि 'प्राणायाम के अभ्यास से अभ्यासी के मन की धारणा-ध्यानादि के निमित्त योग्यता हो जाती है।'[3]

प्राणायाम एवं मनोनिग्रह

प्राणायाम मनोनिग्रह का प्रमुख साधन है। इसके अतिरिक्त वैदिक संहिताओं में यत्र-तत्र प्राणायाम से शारीरिक एवं मानसिक दुर्वासनाओं तथा दुर्बलताओं का विनाश होना विशदरूपेण पाया जाता है—यथा प्राणायाम से शरीर में वीर्यधारण करने की क्षमता आती है और मानसिक प्रसन्नता रहती है।[4]

सब पदार्थों की सिद्धि के मुख्य हेतु प्राण को प्राणायाम के द्वारा परमात्मा में युक्त कर मोक्षानन्द की प्राप्ति होती है।[5]

प्राणायामादि के द्वारा शुद्ध पवनों का सेवन शारीरिक एवं मानसिक दोषों का निवारक है तथा सूर्यादि से ग्रहण की गई प्राणशक्ति शरीर में शक्ति का संचार एवं दुर्गुणों का नाश करती है।[6]

प्राणायाम के द्वारा मनुष्य वायु-विद्या को जान तथा उसका प्रयोग

---

१. अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः॥—श्वेता० २।६

२. प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताऽप्रमत्तः॥
—श्वेता० २।९

३. धारणासु च योग्यता मनसः।—यो० २।५३

४. अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था।—यजु० १९।९०

५. युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥
—ऋग्० १।६।१; ऋग्० भा० भू० उपासना वि०

६. ऋग्० १।१९।५-६; ऋग्० ८।१०१।१

कर बल तथा प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। पाँचों प्राण उसके वश में आ जाते हैं। प्राण-गति नियमित हो जाती है।[1]

सामवेदीय ऋचाओं में भी प्राणायाम से इन्द्रियों एवं मानसिक पापवृत्तियों का नाश करने के लिए प्रेरित किया गया है।[2]

रेचक प्राणायाम करते समय साधक वायु-निस्सारण-काल में मनोबल के द्वारा एक-एक दुर्गुण को निकालने का संकल्प करता जाता है तो धीरे-धीरे दुर्गुणों का विनाश हो जाता है।[3]

प्राणायाम का मनोनिग्रह-विषयक परिशीलन कर अब हम क्रम-प्राप्त प्रत्याहार का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

प्रत्याहार से मनोनिग्रह

यजुर्वेद ग्यारहवें अध्याय के प्रथम मन्त्र की व्याख्या करते हुए स्वा० वेदानन्द तीर्थ ने 'मनो धियः युञ्जानः'=मन तथा बुद्धियों को युक्त करना प्रत्याहार का स्वरूप बताया है।[4]

साधक अपनी अतृप्त इन्द्रियों को विषयों में भटकता हुआ अनुभव कर वेद के मन्त्रानुसार परमेश्वर से अपनी इन्द्रियों तथा मन को तृप्त करने की प्रार्थना करता है कि 'मेरा मन, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और आत्मा तृप्त हो।'[5] साधक जब मनोनिग्रह का प्रयत्न करता है तो इन्द्रियाँ झट से अपने विषयों में चली जाती हैं। जैसे छिद्रोंवाले पात्र में पानी का रोकना कठिन हो जाता है, तद्वत् इन्द्रियों का विषयों में जाना छिद्र के समान है। इन्द्रियों की इसी न्यूनता को दूर करने के निमित्त साधक बृहस्पति से प्रार्थना करता है कि 'मेरी दोनों आँखों में अदर्शनीय दृश्य को देखने की बलवती इच्छा है तथा हृदयस्थ मन में अचिन्तनीय के चिन्तन करने की जो दुष्प्रवृत्ति है यह घाव के समान

---

१. ऋग्० १।६४।१३; ऋग्० ८।१०२।११-१२; ऋग्० ६।६२।२-३

२. **वृत्रस्य त्वा श्वसथा।**—साम० ३२४

३. **असौ या सेना।**—साम० १८६०

४. **योगोपनिषत्।**—पृ० सं० १६

५. **मनो मे तर्प्पयत वाचं मे तर्प्पयत प्राणं मे तर्प्पयत चक्षुर्मे तर्प्पयत श्रोत्रं मे तर्प्पयत आत्मानं मे तर्प्पयत।**—यजु० ६।३१

मुझे दुःख देती है, अतः हे प्रभो ! आप मेरे इन अपवारणीय छिद्रों को भर दो।"[1]

योगाभ्यास में अग्रसर योगाभिलाषी सतत साधना के साथ जब इन्द्रियों की वृत्तियों को मनोनुकूल बना लेता है तो मन्त्र के शब्दों में अधिकारपूर्वक कहता है—

'मेरी वाणी स्तुति करने के योग्य शक्तिशाली होकर वश में आ गई है, मेरा मन संयत हो, शुभ-संकल्पों के अनुसार कार्यों में लगा रहना पसन्द करता है। प्राण सान्त्वना की वृत्ति को धारण कर धैर्यपूर्वक ठहर गये हैं। दर्शन एवं श्रवणशक्ति पर मैंने अधिकार पा लिया है। इस प्रकार प्राण तथा इन्द्रियाँ मेरे वश में आ गये हैं।'[2]

वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित मन के वश में आई हुई इन्द्रियों की स्थिति को महर्षि पतञ्जलि ने 'प्रत्याहार' अन्वर्थ संज्ञा का योगाङ्गों में प्रयोग किया है।[3]

प्रत्याहार के द्वारा साधना की सफलता यही है कि इन्द्रियाँ मन के वशीभूत हो जाती हैं।[4]

मनोमयकोश की साधना के प्रसंग में इस अध्याय में मन के भेद, कार्य तथा मनोनिग्रह की बाधाओं का दिग्दर्शन कराते हुए, मनोमयकोश की परिशुद्धि के लिए प्रमुख साधनों का निरूपण प्रस्तुत किया है। प्रत्याहार के माध्यम से इन्द्रियों तथा मन को वशीभूत करने की साधना ही वास्तव में साधक के लिए कठिन है। मनोनिग्रह के उपरान्त आगामी योगभूमियों में साधक साध्य की प्राप्ति में सुगम मार्ग को पा लेता है। इसके आगे विज्ञानमयकोश का परिशीलन करेंगे। □

---

१. यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
—यजु० ३६।२

२. ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥—यजु० ३६।१ व्याख्याकार डॉ० मुन्शीराम शर्मा (गुरु० प०) वेद और योग—पृ० सं० ३२१

३. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।—यो० २।५४

४. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्।—यो० २।५५

चतुर्थ अध्याय

विज्ञानमयकोश का योग-साधना में महत्त्व

विज्ञानप्रधान बुद्धि को सोलह तत्त्वों के संघात, क्रियाप्रधान मनोमयकोश के साथ मिला देने से सत्रह तत्त्वोंवाला विज्ञानमयकोश अथवा सूक्ष्मशरीर होता है। मन का जो भाग मस्तिष्क में रहकर कार्य-रत रहता है उसे प्रज्ञान अथवा बुद्धि कहते हैं। मन का प्रकाशित लोक ही बुद्धितत्त्व है। मनस्तत्त्व के कार्य तथा शक्ति-परिचय के साथ साधना का ज्ञान हो जाने के बाद विज्ञानप्रधान मनस्तत्त्व बुद्धि का ज्ञान एवं साधनाक्रम का परिचय होना नितान्त आवश्यक है।

वेदमन्त्रों में विज्ञानमयकोश का स्वरूप

निघण्टु के अनुसार वेदों में बुद्धिवाची 'प्रज्ञा' पद के एकादश पर्याय-शब्द संकलित हैं—'केतः, केतुः, चेतः, चित्तम्, क्रतुः, असुः, धीः, शची, माया, वयुनम्, अभिख्या।'[1] परन्तु धीतिः, धिषणा, मतिः, मनीषा, मेधा, मनः इत्यादि शब्दों का भी भाष्यकारों ने बुद्धि अर्थ किया है।

उक्त पर्याय-शब्दों में बुद्धिवाची 'धी' शब्द का प्रयोग सभी विभक्तियों में लगभग ३३२ बार ऋग्वेद में हुआ है। इसी प्रकार यजुर्वेद में ४१ बार, सामवेद में ७३ बार तथा अथर्ववेद में 'धी' वाची पदों का २८ बार प्रयोग है। 'धी' शब्द के समान 'मति' शब्द का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर पाया जाता है।[2]

वैदिक संहिताओं में बुद्धिवाची शब्दों का विपुल प्रयोग मिलने के

---

१. **एकादश प्रज्ञानामानि।**—निघ० ३ अ ९ ख।

२. द्रष्टव्य—**ऋग्वेदपदानुक्रमणिका**—'मतिः' शब्द पृ० सं० ४४४१; **एवमेव त्रिष्वपि वेदेषु।**

कारण यह स्पष्ट है कि ज्ञान के साधनरूप बुद्धि का वेदों में विशेष-महत्त्व है। 'वेद' शब्द की निष्पत्ति पाँच धातुओं से मानी गई है।[1] उनमें ज्ञानार्थक विद् धातु का प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि निष्कर्षरूप में वेदों का तात्पर्य ज्ञान है। इसी कारण ऋग्वेदादि वेदों का विषय प्रकृति के परमाणु से लेकर परमात्मा तक निखिल पदार्थों का ज्ञान कराना है। चारों वेदों के विषय को ज्ञान, कर्म तथा उपासना तीन काण्डों में विभाजित किया जाता है। यहाँ भी ज्ञान की प्राथ-मिकता है। वेदों में ज्ञान से कर्मों की शुद्धि का प्रतिपादन मिलता है—

"शरीरधारी मानव दिनों को सुदिन बनाने के निमित्त उत्पन्न होता है। वह जीवन-संग्राम में लक्ष्यप्राप्ति के निमित्त सब प्रकार से बढ़ता है। ध्यानी जन बुद्धि से कर्मों को पवित्र करते हैं और मेधावी दिव्य कामना से वाणी का उच्चारण करता है।[2]

वेदमन्त्र के उक्तभाव को गीता ने भी स्वीकार किया है कि—

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'[3]—ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है अर्थात् कर्मों में समाविष्ट दोषों को ज्ञान दूर कर देता है। ऋग्वेद में कहा है कि 'मैं साधक ऋतयुक्त साधना करता हुआ ऋतयुक्त बुद्धि को धारण करता हूँ।'[4]

अतः स्पष्ट है कि मनोमयकोश की साधना से मन को समाहित करने की प्रथम कोटि प्राप्त हो जाने पर साधक को मन की एकाग्रता से शान्ति मिलती है। उस समय ऐसी तीव्र अभिलाषा होती है कि यह प्राप्त की गई शान्ति मुझसे कभी विलग नहीं हो, मेरी यह अवस्था लम्बे समय तक बनी रहे। साधक की इस ध्यानगत विकलता का समाधान देते हुए वेद में इसका सुझाव प्रस्तुत किया गया है कि—जिन-के पास पवित्रता को धारण करनेवाली बुद्धि विद्यमान रहती है उनके साधनामय यज्ञ का सवन विनष्ट नहीं होता। ऐसे सतत क्रियाशील

---

१. **विद् ज्ञाने** [अदादि० प०] **विद्लृ लाभे** [तुदा० उभय० आ०] **विद् सत्तायाम्** [दिवा० आ० अ०] **विद् विचारणे** [रुधा० आ० अ०] **विद् चेतनाख्यान-निवासेषु** [चुरादि० आ० सेट्]

२. **जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः।**
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥—ऋग्० ३।८।५

३. गीता० ४।३७

४. **साधन्नृतेन धियं दधामि॥**—ऋग्० ७।३४।८

योगाभ्यासी के हृदय का भाव कभी काँपता नहीं।[1] सारांश यह है कि जो साधक चाहता है कि उसका साधना के विषय में किया गया उद्योग विफल न हो, सभी क्रियाएँ सफलतादायक हों, उसे सर्वप्रथम अपनी बुद्धि का व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बनाने के लिए पवित्र पदार्थ से बाँधना होगा। उच्छृङ्खल या अपवित्र से सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धि चञ्चल और अपवित्र होती है। यह किसी विषय का दृढ़ निश्चय करने में असमर्थ होती है, अतः बुद्धि की शुद्धि परमावश्यक है तभी मन निश्चिन्त, शान्त, रह सकता है।

इस विज्ञानमयकोश के विवेचन में हम बुद्धि के विभाग एवं कार्य तथा साधकों के लिए बुद्धि को शुद्ध करने के साधनोपायों का श्रुति-प्रतिपादित प्रमाणों से निरूपण करेंगे।

समष्टि से व्यष्टि बुद्धि-तत्त्व का निर्माण-क्रम

समष्टिबुद्धि के परिणामों के आधार पर ही विश्व के सब कार्य चलते हैं। यह ब्राह्मी सृष्टि चेतन ब्रह्म के संयोग से ही क्रियाशील रहकर भोग और अपवर्ग के लिए पदार्थों को उत्पन्न करती रहती है। इस बुद्धि के मण्डल में क्रिया उत्पन्न कर व्यष्टिबुद्धि के रूप में परिणत करना और संयोग करना इस चेतना के ही आधार पर होता है।

बुद्धि के जितने भी धर्म हैं, प्रत्येक की भिन्नता प्रतीत होती है। इस भेद में भी ये अभेदरूप से निहित हैं। इन्हीं के द्वारा बुद्धि की सत्ता का भी बोध होता है। ये बुद्धिरूपी धर्मों को छोड़कर अलग नहीं होते, अतः इनका परस्पर स्वरूप-सम्बन्ध है। इस समष्टिबुद्धि का सूक्ष्मरूप महत्सत्त्व, महद्रजः तथा महत्तमः हैं। ये ही इसके उपादान कारण हैं। इन्हीं से व्यष्टिबुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। ये तीनों गुण सामान्य हैं और समष्टिबुद्धि विशेष है। व्यष्टिबुद्धियाँ समष्टिमण्डल से उत्पन्न होती हैं।

समष्टिबुद्धि में प्रत्येक प्राणी के लिए अर्थवत्ता है। यह कार्यभाव को प्राप्त होकर सब जीवों के लिए भोग और मोक्ष का हेतु होती है।

---

१. समुद्रमासामवतस्थे अग्रिमा न रिष्यति सवनं यस्मिन्नायता।
अत्रा न हार्दि क्रवणस्य रेजते यत्रा मतिर्विद्यते पूतबन्धनी॥
—ऋग्० ५।४४।९

योगी के लिए यह बुद्धि ऋतम्भरा[1] के रूप में आत्म-साक्षात्कार का हेतु बनती है। संशय, विपर्यय एवं विकल्प के रूप में यह अज्ञान और बन्धन का भी हेतु होती है।[2] जीवात्मा को मोक्ष प्रदान कराने के लिए विवेकख्याति आदि उत्पन्न कराने में यही साधन है। इस प्रकार सांख्यदर्शन में प्रकृति की प्रथम विकृति-अवस्था 'महान्' को बुद्धितत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।[3]

बुद्धितत्त्व के भेद एवं उनके कार्य

वेद के मन्त्रों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर व्यष्टिरूप में मानवमात्र के बुद्धितत्त्व को तीन भागों में विभक्त हुआ पाते हैं—

१. निकृष्ट बुद्धिवाले,—अज्ञानी, अविद्या से परिपूर्ण।

२. मध्यम बुद्धिवाले—सामान्यजन, सत्य को न जाननेवाले।

३. उत्तम बुद्धिवाले—उत्तमविद्वान्, सदसद्विवेकी।

ऋग्वेद में ज्ञान देवतावाले सूक्त में ज्ञान को तीन भागों में विभक्त किया है अर्थात् ज्ञान के आधार पर तीन कोटि के पुरुष संसार में देखे जाते हैं अथवा बुद्धि के तीन भेद हैं।

समान आँखोंवाले,[4] समान कानोंवाले, परस्पर मित्रभावना रखनेवाले व्यक्ति भी मननात्मक बुद्धि की शक्ति में असमान होते हैं। उनमें कई तो मुखपर्यन्त पानीवाले और कई काँख तक पानीवाले तालाब के समान दिखाई देते हैं तथा कई-एक स्नान करने योग्य अत्यधिक गहरे जलवाले जलाशय के समान दिखाई देते हैं।

बुद्धितत्त्व का उपादान सत्त्व, रजस्, तमस् त्रिगुणात्मक होने के कारण जिस गुण का उद्रेक बुद्धि में होता है वही विशेषरूप से अभिव्यक्त होता है। तीनों गुणों के पृथक्-पृथक् प्रभाव से इसके कार्यों में

१. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।—यो० १।४८; ऋतम्='सत्यमेव बिभर्त्ति'
द्रष्टव्य व्या० भा० १।४८

२. द्रष्टव्य—'ब्रह्मविज्ञान'—'समष्टि बुद्धि मण्डल'।

३. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः।
—सां० द० १।६१

४. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥
—ऋग्० १०।७१।७

विभिन्नता होनी स्वाभाविक है। गीता में कार्योंसहित बुद्धि के तीनों भेदों का निरूपण मिलता है—

१. **सात्त्विकी बुद्धि**—'प्रवृत्ति एवं निवृत्ति-मार्ग को जो बुद्धि भली-भाँति जानती है और कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक रखती है, भय और अभय-पद का ज्ञान रखती है तथा बन्ध और मोक्ष के निखिल हेतुओं को जो समझती है वह सात्त्विकी बुद्धि है।'[1]

२. **राजसी बुद्धि**—'जिस बुद्धि के द्वारा धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य का यथावत् निर्णय नहीं होता, वह राजसी बुद्धि होती है।'[2]

३. **तामसी बुद्धि**—'जो बुद्धि अज्ञानरूपी अन्धकार से ढकी हुई होती है, जिससे वह अधर्म को धर्म मानकर व्यवहार में प्रवृत्त होती है और सभी तत्त्व-पदार्थों को विपरीतता से ही देखती है वह तामसी बुद्धि होती है।[3]

ज्ञानी[4] की प्रथम पहचान यह है कि वह ऋत और सत्य अर्थात् सत्याचरण एवं सृष्टिनियम का अनुगामी होता है। सृष्टि नियम के अनुगमन के फलस्वरूप उसे उत्तम अवस्था मिलती है। मूढ़ लोग सृष्टि-नियम को जानते ही नहीं, न प्रमादवश जानने का यत्न करते हैं और न वे सत्याचरण का ही पालन करते हैं। दुराग्रह के कारण विद्वानों का साथ उन्हें दुर्लभ होता है। विद्वान् साधकों की द्वितीय पहचान यह है कि वे भगवान् की स्तुति करते हैं, सदा योगयज्ञ करते हैं, लोगों को ज्ञानदान एवं अन्नदान से तृप्त करते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों की संगति करते हैं और ईश्वर-आराधना में तत्पर रहते हैं, परन्तु बुद्धिहीन व्यक्ति इनसे वञ्चित होता है।

---

१. **प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।**
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥—गी० १८।३०

२. **यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।**
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥—गी० १८।३१

३. **अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।**
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥—गी० १८।३२

४. **आ यद्योनिं हिरण्ययमाशुर्ऋतस्य सीदति। जहात्यप्रचेतसः॥**
—ऋग्० ६।६४।२०

अभिवेना अनूषते यक्षन्ति प्रचेतसः। मज्जन्त्यविचेतसः॥
—ऋग्० ६।६४।२१ [स्वाध्याय सन्दोह २८]

अन्य योनियों से मनुष्य-योनि की उत्कृष्टता इसी बात में है कि सद्बुद्धि से धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करे। मानव के लिए वेद का आदेश है कि विद्वान् ज्ञान और अज्ञान की विशेष पहचान करे।[1] मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह मनन करके सब कार्य करता है।[2] बिना विचारे कार्य करना पशुता है।

विज्ञानमयकोश के अङ्ग

सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक गुणों के प्रभाव से बुद्धि तत्त्व के तीन भेदों के अतिरिक्त विज्ञानमयकोश के अङ्गों का वर्णन बड़ी गम्भीरता से तैत्तिरीयोपनिषद् में किया गया है—

'मनोमयकोश[3] से भिन्न उसका आत्मा जो बुद्धिमय [विज्ञानमय] है, उस विज्ञानमय से यह मनोमय परिपूर्ण है। मनोमय के समान यह विज्ञानमय भी पुरुषाकार तथा पुरुषविध है। श्रद्धा=सत्य में धारणा, आस्तिकभाव सिर है अर्थात् विज्ञानमय में ही श्रद्धा-विश्वास तथा भक्तिभाव प्रधानता से विद्यमान हैं। ऋत-ज्ञान इसका दक्षिण अंग है। सत्य बायाँ अंग है। योग-चित्तवृत्ति निरोध इसका आत्मा है। तेज उसकी पूँछ और प्रतिष्ठा [आश्रय] है। इस तरह विज्ञानमयकोश में=विमल बुद्धि में अर्थात् शुद्ध चैतन्य आत्मा में ही श्रद्धा और ज्ञानादि की स्फूर्ति का संचार होता है, इस कारण ये विज्ञानमय-कोश के अङ्ग हैं।

बुद्धि का महत्त्व

'भौतिकयज्ञ या योगयज्ञ आदि तथा धर्म का विस्तार करना, विज्ञान-बुद्धि का ही कार्य है। बुद्धि को ही सभी इन्द्रियाँ ज्येष्ठ और महान् मानती हैं। यदि कोई साधक बुद्धि को ब्रह्म-आराधना का साधन समझकर उस ब्रह्म-धारणा में प्रमाद नहीं करता, तो मनुष्य-शरीर में

---

१. चित्तिमचित्तिं चिनवद् वि विद्वान्।—ऋग्० ४।२।११

२. मत्वा कर्माणि सीव्यन्तीति मनुष्याः।—निरुक्त ३।७

३. तस्माद् वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥—तैत्ति० उ० ब्रह्मवल्ली ४ अनु० २ श्लो०

ही पापों को त्याग, सारे सुखों का अनुभव करता है। उस विज्ञानमय का यही शरीर में रहनेवाला जीव-आत्मा है, वह पूर्व-वर्णित मनोमयकोश का आत्मा है।[1]

धारणावती विज्ञान-बुद्धि [मेधा बुद्धि] के महत्त्व को अनुभव करता हुआ साधक विविध प्रकार से बहुत प्रकरणों में सर्वज्ञ परमेश्वर से बुद्धि को श्रेष्ठ कार्यों में प्रेरित करने की प्रार्थना करता है। साथ ही ऐसी मेधाबुद्धि की याचना करता है जिससे अल्पज्ञ जीवात्मा निज कल्याणार्थ शीघ्र याथातथ्य का निर्णय कर सके।

बुद्धि के लिए प्रेरणा-प्राप्ति की याचना

वैदिक संहिताओं में अभ्युदय अर्थात् सांसारिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने की प्रार्थनाएँ मिलती हैं। इससे भी अधिक मार्मिक शब्दों में बुद्धि को उत्तम गुण-कर्म स्वभावों में प्रेरित करने की प्रार्थना साधक करता है। गायत्रीमन्त्र[2] जिसे गुरुमन्त्र, सावित्री मन्त्र, एवं महामन्त्र की संज्ञाएँ दी गई हैं, के प्रथम दो पदों में स्तुति-प्रार्थनापरक भावना व्यक्त की गयी है, तृतीय पद में उपासना की अवस्था में धारण किया हुआ परमात्मा का तेजोमय स्वरूप बुद्धि को उत्तम गुर्ण-कर्म-स्वभाव में प्रेरित करे, एतदर्थ मङ्गलमय याचना है। आज भी साधक गायत्री-मन्त्र का जप, यज्ञ आदि करते हैं।

गृह्यसूत्रों में गायत्री का विनियोग

वैदिक साहित्य-शृङ्खला में द्वितीयवेदाङ्ग कल्प के अङ्गीभूत गृह्यसूत्रों में जन्म से लेकर मरणपर्यन्त संस्कृत जीवन की प्रेरणा लेने के लिए सोलह संस्कारों का विधान किया है। अष्टम वर्ष में बालक

---

१. **विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान् कामान् समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥**—तै० उ० ब्रह्मवल्ली ५ अनु० १ श्लोक

२. **ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥**—यजु० ३६।३; ३।३५; २२।९; ३०।२; ऋग्० ३।६२।१०; साम० १४६२; तै० सं० १।५।६।४; ४।१।११।१; तै० आ० १।११।२

जब विद्याध्ययन के योग्य हो, तब उसे गुरुकुल में पिता प्रवेश कराए। वहाँ आचार्य विधि-अनुसार उपनयन-संस्कार करता है। उसी दिन वेदारम्भ-संस्कार किया जाता है। वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचारी प्रतिज्ञा करता है। उस समय बालक, आचार्य से कहे कि—'हे आचार्य! ओंकार के साथ महाव्याहृति तदनन्तर सावित्री का मुझे उपदेश कीजिए।'[1]

गायत्री के उच्चारण से लेकर सम्पूर्ण अङ्गोपाङ्गों-सहित वेद की शिक्षा प्राप्त करते हुए विद्यार्थी को गायत्री का अवलम्बन मिलता है, तदनन्तर विद्या के साक्षात्कार के समय उपासना-काल में भी गायत्री का निर्देश किया है। गृहस्थ-वानप्रस्थाश्रमों में जप, सन्ध्या तथा यज्ञकाल में गायत्री का विनियोग किया गया है। अन्त में संन्यास की दीक्षा लेते हुए मधुपर्क के बाद तथा नाभिमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर **'ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम्'**[2] इत्यादि सावित्री-मन्त्र का चार खण्डों में उच्चारण करने का विनियोग किया है। गायत्री के साथ ही मेधावी बनने की प्रार्थनाएँ संस्कारों में की गई हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि वैदिक-संस्कृति में मेधा की कामना बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक करने का विधान है।

मेधा की कामना करते हुए साधक देवगण तथा पितरों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आज ही मेधा प्राप्ति की इच्छा करता है।[4] वरुण-अग्नि-प्रजापति-इन्द्र-वायुस्वरूप परमात्मा मुझे आज ही मेधा-बुद्धि दे। अथर्ववेद के मेधासूक्त[5] में वर्णन है कि ब्रह्मचारी, ब्रह्मज्ञानी-योगी, ऋषि-मुनियों एवं सत्यवादी मेधावी जनों के द्वारा सेवित मेधा बुद्धि का मैं साधक प्रातः-सायं तथा मध्याह्न में आह्वान करता हूँ और गौओं, अश्वों एवं सूर्य की किरणों द्वारा मेधा प्राप्त करने का सतत प्रयास करता हूँ। इस प्रकार बुद्धि की याचना अन्यत्र भी विद्यमान है।

---

१. **अधीहि भूः सावित्रीं भो अनुब्रूहि।**—आश्व० गृह्य० १।२१।४

२. **संस्कारविधिः—संन्यासविधिः**—पृ० सं० ३२४-३२५

[महर्षि दयानन्द सरस्वती]

३. **ओं मेधां देवः सविता आ ददातु।**—पार० गृ० २।४, ५, ६, ७
ओं मयि मेधां मयि प्रजाम्।—आश्व० गृ० १।२१।४

४. **यां मेधां देवगणाः।**—यजु० ३२।१४, १५, १३

५. **त्वं नो मेधे प्रथमा।**—अथ० ६।१०८।१-५

विज्ञानमयकोश के शोधन की आवश्यकता

साधक पूर्व-वर्णित साधनों में प्राणायाम, प्रत्याहार एवं संयम के द्वारा मनोनिग्रह की अवस्था तक पहुँच गया था, यह मनोनिग्रह की स्थिति निरन्तर अग्रसर होती हुई समाधि को भी प्राप्त करा देती है। इस प्रकार से प्राप्त हुई समाधि को शून्य-समाधि का नाम दिया गया है। संसार के पदार्थों से वृत्तियों को हटाकर शून्य में लय करना ही तो योगी का मुख्य तात्पर्य नहीं है। यह सम्पूर्ण साधना व्यर्थ होगी, यदि साधक को समाधि की अवस्था में विवेकज्ञान की उपलब्धि नहीं हुई। विवेकज्ञान पैदा करने के लिए विज्ञानमयकोश का शोधन परमावश्यक है, अतः साधक बुद्धि की शुद्धि एवं कुशलता की प्रार्थना करता है।[1]

राजसी बुद्धि

राजसी बुद्धि धर्म-अधर्म का निर्णय करने में साधिका नहीं होती, क्योंकि रजोगुण के चलायमान होने से स्थिरता नहीं आ पाती तथा तामसी बुद्धि पर अज्ञान-अविद्या-आलस्यादि स्तम्भक दुर्गुणों का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि याथातथ्य का ज्ञान हो ही नहीं पाता, अतः स्पष्ट है कि विवेकज्ञान को पैदा करना केवल सात्त्विकी बुद्धि का ही कार्य है। साधक के लिए अनिवार्य है कि बुद्धि पर मल-विक्षेप-आवरणों का जो पर्दा पड़ा हुआ है उसे हटाने का सफल प्रयास करे, यही विज्ञानमयकोश के शोधन का हेतु है।

विज्ञानमयकोश के शोधक उपाय

आलस्य का त्याग

विवेकज्ञान ही परमात्म-साक्षात्कार में परम सहायक है। विवेकज्ञान की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है कि साधक सर्वप्रथम बुद्धि को आच्छादित करनेवाले कारणों को पृथक् करे। बुद्धि को आवृत करनेवाला महान् दोष आलस्य है। आलस्य मानव का घातक शत्रु है।

---

१. किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः॥
—ऋग्० १०।४२।३

आलसी को प्रशंसा नहीं मिलती, न वह शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक उन्नति कर सकता है, अतः आलस्य से बचने के लिए साधक प्रार्थना करता है कि—'हे सौम्यगुणों के रक्षक, ऐश्वर्य-सम्पन्न परमेश्वर ! आलस्य के कारण हमें अनेक प्रकार से अपयश मिलता है। आप आलस्य को छुड़ा, प्रशंसनीय कार्यों में मुझे संयुक्त कीजिए।'[1]

'हे ऐश्वर्य-सम्पन्न ! अविद्या एवं निद्रा आदि दोषों को दूर करनेवाले प्रभो ! हमारे अन्दर जो विषयासक्ति, बुरे कार्य एवं प्रमादवश अच्छे कार्यों का विनाश करनेवाले, ज्ञान को तिरोहित करनेवाले दोष हैं, उन्हें आप अच्छे प्रकार विनष्ट कर दीजिए और उत्साह, प्रेरणा एवं बोध करानेवाले गुणों को[2] दीजिए।

आलस्य-निवारक मन्त्रों का भाव स्पष्ट करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि—'जो आलस्ययुक्त जन श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, और दूसरा विद्वान् पुरुष सत्य और असत्य को जानकर सत्य का आचरण नहीं करता, ये दोनों तुल्य अधर्मात्मा हैं।'[3] परन्तु जो मनुष्य आलस्य आदि दोषों को त्यागकर धर्म से पुरुषार्थ करते हैं वे सम्पूर्ण इष्ट सुख को प्राप्त होते हैं।'[4] 'जो आलस्य को त्याग पुरुषार्थ से कार्य करते हैं वे कर्मयोगी हो लक्ष्य-प्राप्ति के लिए कटिबद्ध रहते हैं। पुरुषार्थी व्यक्ति ही आत्मिक बल प्राप्त कर सकता है और सत्कर्मी बनकर अकर्मण्यता-दोष को मार भगाता है। ऐसे पुरुषार्थी पुरुष को ही परमात्मा अपनी कृपा का पात्र बनाते हैं।'[5] 'परमात्मा के आनन्द-अम्बुधि के रस को केवल कर्मयोगी ही पान कर सकता है; आलसी, निरुद्यमी लोग कदापि उक्त आनन्द के अधिकारी नहीं हो सकते।'[6] इसलिए मनुष्य सदा पुरुषार्थ में लगा रहे, आलस्य में कभी न पड़े,[7]

---

१. **यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि।**
आ तू न इन्द्र शंसय॥—ऋग्० १।२९।१

२. **नि ष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने।**
आ तू न इन्द्र शंसय॥—ऋग्० १।२९।३

३. **उत घा नेमो अस्तुतः पुमाँ इति ब्रुवे पणिः।**—ऋग्० ५।६१।८

४. ऋग्० ६।१४।१

५. ऋग्० ७।८९।१-४; ऋग्० ४।२।६ (स्वाध्याय सं० १५३)

६. ऋग्० ९।९६।२१; ऋग्० ५।३४।५

७. यजु० ३।४७

क्योंकि पुरुषार्थी पुरुष ही विमल प्रज्ञा प्राप्त करने का अधिकारी होता है।[1]

वेद से आलस्य-प्रमादनिवारक, अभिप्रेरक प्रेरणाओं को प्राप्त कर साधक शरीरगत आलस्य को दृढ़संकल्प की प्रचण्ड ज्वालाओं से भस्मसात् कर दे, साथ ही तमोगुण को बढ़ानेवाले पदार्थों का सेवन नितान्त निरुद्ध कर दे।

सात्त्विक भोजन

मनोनिग्रह के लिए जिस प्रकार भोजन का ध्यान रखना बताया गया है, तद्वत् बुद्धि को सात्त्विक बनाने के लिए सात्त्विक भोजन का वेद में संकेत है।

'जो मनुष्य बल के धारक सोम को अथवा आनन्द के लिए महौषधियों के रस को अन्न आदि में सींचते हैं, सब ओर से सींचते हैं, उत्तम रीति से सींचते हैं वे शरीर और आत्मा के बल को प्राप्त करते हैं। जो मूढ़, वह क्या है ? वह क्या है ? ऐसा कहता है, वह कुछ भी प्राप्त नहीं करता।'[2]

मन्त्र का भाव यह है कि 'जो मनुष्य अन्नादि को पवित्र करके अर्थात् संस्कार करके उत्तम रसों से सींचकर युक्त आहार-विहारपूर्वक सेवन करते हैं, वे सब सुखों को प्राप्त होते हैं। जो मूढ़ता से ऐसा नहीं करता, वह बल और बुद्धिहीन होकर सदा दुःख भोगता है।

सात्त्विक पदार्थ-भोक्ता स्वयं निज-रुचिकर भोजन को अङ्गीकार करता है कि—'मैं गौओं के दूध से अपने-आपको सिंचित करता हूँ, घी से बल बढ़ानेवाले रस को सिंचित करता हूँ। दूध-घी से हमारे वीर संसिक्त हों, सदैव गौएँ मेरे घर में बनी रहें।'[3]

इस प्रकार भोजन के लाभों का वर्णन करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि—'द्विपाद तथा चतुष्पाद पशुओं के दूध और ओषधियों के रस से मैं पुष्टि को प्राप्त करता हूँ।'[4] वेदवाणी के पति परमात्मा ने मेरी बुद्धि

---

१. यजु० १२।१०६

२. **सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च।**
सुरायै बभ्रवे मदे किन्त्वो वदति किन्त्वः॥—यजु० २०।२८

३. **सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।**—अथ० २।२६।४

४. **पयः पशूनां रसमोषधीनाम्।**—अथ० १९।३१।५

के विकास के लिए मुझे पशुओं का दूध तथा ओषधियों का रस दिया है जो शराब पीकर, दुष्टबुद्धि से नग्न होकर परस्पर लड़ते हैं उनकी मैं निन्दा करता हूँ।"[1]

अथर्ववेदीय मन्त्र के अनुसार स्वामी ब्रह्ममुनि विद्यामार्तण्ड ने 'वृक्षों में पीपल,[2] तृणों में दाभ [दर्भ], लताओं में सोम, प्राकृतिक पदार्थों में जल, जीवनीशक्ति देनेवालों में घी, अन्नों में चावल, जौ और आकाशीय दिव्य पदार्थों में सूर्यचन्द्र—इनको महौषधियाँ माना है। ब्राह्मीबूटी, वच, बादाम आदि ओषधियों के सेवन से भी बुद्धि प्रदीप्त होती है। साधक को चाहिए कि कफ=श्लेष्मा को नष्ट करनेवाली ओषधियों के गुणों का आयुर्वेद के अनुसार परिज्ञान करके उनका यथा-अनुपान सेवन करे, जिससे बुद्धि में तमोगुण पैदा करनेवाले दोष शरीर में न रहें।

बुद्धिवर्धक प्राणायाम

मनोमयकोश की भाँति विज्ञानमयकोश की शुद्धि करने में प्राणायाम बहुत सहायक है। बुद्धितत्त्व को आच्छादित करनेवाले आवरणों का नाश प्राणायाम से होता है।

सामवेदीय दो ऋचाओं में प्राणायाम के द्वारा उपासना करनेवाले उपासकों को उद्‌बोधित किया गया है कि—'हे उपासको! आप मित-भाषी रहते हुए प्राणायाम करके अपनी भक्तिरूप भेटों को समर्पित किया करो, क्योंकि परमात्मा प्राणायाम आदि क्रियाओं से अज्ञान तथा पापबुद्धि को दूर कर ज्ञानरूपी धाराओं में प्रवाहित कर प्रज्ञाविशेष देता है'।[3] प्राणायाम के अभ्यासी की बुद्धि निश्चितरूपेण विकसित, परिमार्जित एवं कुशाग्र बनती है। वेद में स्पष्ट संकेत है—

'प्राणायाम के अभ्यासियों के लिए परमेश्वर ने ज्ञानरश्मियों को उद्‌बुद्ध किया है अर्थात् हृदय की गुफा में छिपी हुई ज्ञान रश्मियों को उसने आविष्कृत किया है, प्रकट किया है और ज्ञान-रश्मियों के विरोधी

---

१. हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।—ऋग्० ८।२।१२

२. अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ॥—अथ० ८।७।२०; [अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र पृ० १२]

३. साम० २५७-२५८

रजस्, तमस् के बलों को परमेश्वर ने मानों, नीचे पटक दिया है।[1]

'प्राणाभ्यासी उपासक अपनी बुद्धियों को परिष्कृत करके मनन, निदिध्यासन से उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा के प्रकाश को अधिकाधिक रूप से बढ़ाते हैं[2]।' 'प्राणायाम के अभ्यासी बुद्धि को वैदिक स्तोत्रों के ग्रहण करने योग्य बनाकर जब वेदविद्या-संपन्न, वेदविश्रुत परमात्मा की आराधना सफलतापूर्वक करते हैं, तो वह सदा-युवा, परमैश्वर्य-सम्पन्न परमात्मा साधक की सर्वप्रकारेण सहायता करता है।'[3]

यजुर्वेदीय मन्त्र में स्त्री-पुरुषों का मार्गदर्शन किया है कि—तुम विद्युत्-रूप प्राणाग्नि को प्रदीप्त किया करो जिससे मन तथा बुद्धि को सुसंयत किया जा सके।[4]

यजुर्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या में स्वामी वेदानन्द तीर्थ प्राणायाम का लाभ प्रतिपादित करते हैं कि—'प्राणों को वश में कर लिया जाए एवं उनकी गति पर पूरा अधिकार कर लिया जाए, तब सब दुःख और क्लेश निवृत्त हो जाते हैं, अविद्या आदि क्लेशों के दूर होने से ज्ञानालोक बढ़ता है।'[5]

महर्षि पतञ्जलि ने विज्ञानमयकोश की शुद्धि के लिए 'बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी' चतुर्थ-प्राणायाम का विधान किया है।[6] इस प्राणायाम की पूर्ण विधि प्रकाशित करते हुए महर्षि व्यास ने कहा है कि—'देश, काल, संख्या के द्वारा बाह्य विषय को देखकर प्राण को पुनः-पुनः धकेलना और आभ्यन्तर विषय को भी देश, काल और संख्या द्वारा देखकर प्राण को पुनः-पुनः त्यागना, दोनों प्रकार से दीर्घ-सूक्ष्म होता है। उन दोनों के सहित तृतीय प्राणायाम की भूमिजय के क्रम से दोनों की गति का अभाव होना, चतुर्थ प्राणायाम है। तृतीय प्राणायाम तो बाह्य-आभ्यन्तर विषय का ध्यान रखते हुए उनकी गति का एकदम अभाव करके देश-काल-संख्या से अभ्यस्त दीर्घ-सूक्ष्म होता है, परन्तु श्वास-प्रश्वास के विषयके निश्चय से क्रमशः भूमिजय से दोनों के आक्षेपपूर्वक गति का अभाव चतुर्थ प्राणायाम है, यह विशेष है।'

---

१. उद्गा आजदङ्गिरोभ्यः।—साम० १६४१
२. त्वां वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठाः।—साम० १३०६
३. अर्चन्त्यर्कं मरुतः।—साम० ४४५
४. यजु० ११।६६
५. युक्त्वाय सविता देवान् स्वर्यतो धिया दिवम्।—यजु० ११।३ [योगोप०]
६. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥—यो० २।५१; द्रष्टव्य—व्या०भा०

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने निज अनुभव के आधार पर चतुर्थ प्राणायाम की विधि इस प्रकार प्रकाशित की है—

'चौथा बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाए। ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होती हैं। बल-पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है।[1]

चारों प्रकार के प्राणायामों का फल योगदर्शन में भी इसी प्रकार बताया गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से विवेकज्ञान को आवृत करनेवाले कर्म क्षीण हो जाते हैं अर्थात् महामोहमय इन्द्रजाल से प्रकाशशील सत्त्व को आवृत करके वही आवरण अकार्य में नियुक्त करता है एवं आत्मज्ञान को ढकता है। प्राणायाम से वह संसार में बाँधनेवाला कारण प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है।[2] प्राणायाम के अभ्यास से ही मन धारणा के योग्य हो जाता है।[3] इस प्रकार विज्ञानमयकोश की साधना एवं शुद्धि के मुख्य साधन प्राणायाम का परिशीलन कर 'धारणा' का अनुशीलन करें।

धारणा से विज्ञानमयकोश की शुद्धि

प्राणायाम-प्रत्याहार से मन तथा इन्द्रियों को वश में करके जब साधक का मन स्थिर होता हुआ, स्थानविशेषों पर रुकने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है तो चिन्तन-मननात्मक बुद्धि की उस अवस्था को दार्शनिक भाषा में 'धारणा' कहा जाता है।[4] धारणा से विज्ञानमयकोश का परिष्कार होता है। वैदिक संहिताओं में इस अवस्था को अभिव्यक्त करनेवाले मन्त्रों का विवरण यहाँ प्रस्तुत है—

जो साधक ऐश्वर्य की कामना करता हुआ, परमेश्वर आदि पदार्थों

---

१. सत्यार्थप्रकाश (तृतीय समुल्लास), पृ० ३९

२. **ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्**—यो० २।५२; द्रष्टव्य—व्या० भा०

३. **धारणासु च योग्यता मनसः।**—यो० २।५३;

४. **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**—यो० ३।१

के विज्ञान के लिए पहले मननात्मक ग्रन्तःकरण की वृत्ति को, पुनः धारणात्मक ग्रन्तःकरण की वृत्तियों को योगाभ्यास में युक्त करता है तो पृथिवी ग्रादि में विद्यमान विद्युत् के प्रकाश के समान निश्चय करके पदार्थविद्या तथा योगविद्या का ज्ञाता हो जाता है।[1]

इससे ग्रगले मन्त्र[2] में प्रयुक्त 'मनसा' पद भी 'विज्ञानेन' बुद्धि-विज्ञान को धारण करनेवाली 'धारणात्मक' स्थिति का ही द्योतक है। चतुर्थ मन्त्र[3] में प्रयुक्त 'युञ्जते धियः' पद का ग्रर्थ भी धारणा की प्रक्रिया का परिचायक है कि—जैसे मेधावीजन बुद्धियों को युक्त करते हैं तद्वत् तत्त्वज्ञान का ग्रभिलाषी मैं भी मन ग्रौर बुद्धि को युक्त करता हूँ।

धारणात्मक बुद्धि से विज्ञानमयकोश बुद्धितत्त्व की शुद्धि निश्चित-रूप से होती है। साधक इस प्रक्रिया को स्वीकार करता है कि 'जिस प्रकार युद्ध में शत्रुग्रों का विदारण करनेवाले वीर को ग्रन्न-धन ग्रादि की प्राप्ति सुखी करती है, तद्वत् मैं धार्मिक-उपासक भी हृदय, मन तथा विज्ञानमय बुद्धि की विशेष तर्कणा से बुद्धि को शुद्ध करता हूँ।[4]

श्रद्धा का महत्त्व

पूर्वोक्त धारणा के द्वारा जाने हुए सत्यस्वरूप को धारण करना ही श्रद्धा है। श्रद्धा का ग्रस्तित्व विज्ञानमयकोश में प्रधानता से विद्यमान रहता है। श्रद्धा योगी को माता के समान पालती है। धारणा एवं धारणा से ग्रागे की साधना मुख्यरूपेण श्रद्धा पर ग्रवलम्बित है। श्रद्धा के ग्राश्रय से योगाभ्यासी विशेषरूपेण साधना-पथ पर ग्रग्रसर होता है। श्रद्धा ही ग्रास्तिक भाव की जननी है, ग्रतः वेद-सम्मत श्रद्धा की साधना में उपयोगिता का निरूपण करना यहाँ प्रासंगिक है। गत प्रकरणों में तैत्तिरीय-उपनिषद् के प्रमाण से श्रद्धा को हम विज्ञानमय-कोश का ग्रंग प्रतिपादित कर चुके हैं।

'सत्य को धारण करनेवाली क्रियासहित श्रद्धा के द्वारा योगा-भिलाषी ग्रपने ग्रन्तःकरण में प्राणाग्नि को प्रदीप्त करता है, श्रद्धा के

---

१. युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।—यजु० ११।१

२. युक्तेन मनसा वयम्।—यजु० ११।२

३. युञ्जते मन उत युञ्जते धियोः।—यजु० ११।४

४. इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त।—ऋग्० १।६१।२
अथ० २०।३५।२

वशीभूत ईश्वरप्रणिधान के पालन में साधक आत्मरूपी हवि को समर्पित करता है।[1] भग अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि की प्राप्ति में यह श्रद्धा मूर्धास्थानीय है। श्रद्धा बुद्धिगत है, साधक वाणी से उसकी श्रेष्ठता प्रकाशित करता है।[2]

'योगयज्ञ करनेवाले विद्वान्, प्राणवायु से रक्षित श्रद्धा का उपसेवन करते हैं तथा सभी साधक हृदय में होनेवाले संकल्प-भाव से श्रद्धा का सेवन करते हैं। श्रद्धावान्, श्रद्धा के द्वारा मोक्षधन को प्राप्त करते हैं।'[3]

कश्यप की माता—श्रद्धा—सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, उपासना आदि परमधर्म के पालन से परमात्माग्नि प्रकट होता है, उसके साथ स्वाभाविक शक्तियाँ भी होती हैं। तब उपासक 'कश्यप' संज्ञावाला हो जाता है।[4] साधना की उच्च स्थितिवाले 'कश्यप' साधक का अग्नि-स्वरूप परमात्मा पिता, श्रद्धा माता तथा मन उसका उपदेष्टा गुरु-पदवी को पाकर उसकी रक्षा करते हैं।[5]

श्रद्धा से आत्मिक बल की वृद्धि—सामवेदीय ऋचा में प्रतिपादित है कि 'ज्ञान प्रकाश से परमात्मा के प्रति उत्पन्न हुई श्रद्धा साधक को आत्मबल प्रदान कर सकती है, क्योंकि सब प्रकार के बलों का स्वामी वही परमात्मा है'।[6]

श्रद्धाहीन उपासक सत्त्व, रजस् तथा तमोगुणों की मिश्रित रंग-बिरंगी वृत्तियोंवाला होता है, परन्तु जब श्रद्धामाता की गोद में आसन जमाता है तथा परमात्मगुणों का स्तवन करता है, तब उपासना-मार्ग पर

---

१. **श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।**
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥—ऋग्० १०।१५१।१

२. **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।**
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

३. **श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।**
श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥—ऋग्० १०।१५१।४

४. **जातः परेण धर्मणा यत्सवृद्भिः सहाभुवः।**
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः॥—साम० ९०

५. **कश्यपः पश्यको भवति, यत् सर्वं पश्यतीति।**—तै० आ० १।८।८

'उपासक जब दिव्यदृष्टि से सम्पन्न हो जाता है तब वह कश्यप बन जाता है, यथार्थ द्रष्टा बन जाता है।'—द्रष्टव्य साम० ९० (टिप्पणी)

६. **श्रद्धा हि ते मघवन्पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति।**
—साम० २८०, १६८२; ऋग्० ७।३२।१४

आगे-आगे बढ़ता है और सुखस्वरूप निश्चल परमात्मा की ओर निरन्तर प्रयाण करता रहता है।[1]

यजुर्वेदीय[2] मन्त्र के अनुसार पदार्थ-यज्ञ के द्वारा तथा सत्य-धर्म की उन्नति करनेवाले उपदेश से जैसे सत्य एवं श्रद्धा आदि की भावना सुदृढ़ या समर्थ होती है, तद्वत् योगयज्ञ के द्वारा भी याथातथ्य जानकर उसपर श्रद्धा करने से साधक की साधना में सामर्थ्य-शक्ति का विकास होता है।' सामवेद के भाष्यकार पं० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने उपासकों की सेना में 'श्रद्धा' की गणना की है[3], जो उपासक की सर्वदा रक्षा करती है।

उपासकजन उक्त प्रकरणों में निरूपित श्रद्धा के महत्त्व को कल्याणकारिणी माता के समान उपादेय समझकर श्रद्धासूक्त के शब्दों में कहते हैं—'हम उपासक प्रातःकाल श्रद्धा का आह्वान करते हैं, इसी प्रकार मध्याह्न तथा सूर्य की अस्तमन-वेला में आह्वान करते हैं। साथ ही प्रार्थना करते हैं कि हे श्रद्धे! इस जीवन में हमें श्रद्धालु बनाये रखना।'[4]

प्रश्नोपनिषद् में भरद्वाज के पुत्र सुकेशा नामक ऋषि ने प्रश्न किया कि सोलह कलाओंवाला पुरुष कहाँ है?[5]

महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर दिया कि—इस शरीर में षोडशकलापूर्ण पुरुष है, उसी में ये सोलह कलाएँ प्रकट होती हैं। महर्षि ने सोलह कलाओं की गणना में श्रद्धा को भी बताया है।[6] इस प्रकार सोलह कलाओं से पूर्ण पुरुष=जीवात्मा और परमात्मा दोनों हैं। अखिल विश्व में सोलह कलाएँ परिपूर्ण हैं, जिनमें श्रद्धा का भी स्थान है।

छान्दोग्योपनिषद्[7] में नारद व सनत्कुमार के ब्रह्मविद्या-विषयक

---

१. **आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।**—साम० १३७६
२. **सत्यं च मे श्रद्धा च मे।**—यजु० १८।५
३. द्रष्टव्य—साम० १८५५-५६ टिप्पणी
४. **श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।**—ऋग्० १०।१५१।५
५. प्रश्नो० ६ प्र० १ श्लो०
६. **षोडशकला**—(१) प्राण, (२) श्रद्धा, (३) आकाश, (४) वायु, (५) अग्नि, (६) जल, (७) पृथिवी, (८) इन्द्रियगण, (९) मन, (१०) अन्न, (११) बल, (१२) तप-ज्ञान, (१३) मन्त्र, (१४) कर्म, (१५) श्लोक, (१६) नाम।—प्रश्नो० ६।४
७. **छान्दो० ७ प्रपा० १९ ख०।**

संवाद में, नारद ने सनत्कुमार से कहा कि—'भगवन्! मैं श्रद्धा को जानना चाहता हूँ, मुझे श्रद्धा का उपदेश दीजिए।'

सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि—'आत्मा में परमात्मा-रूप सत्य को धारण करने की जो रुचि है, जो आस्तिकभाव है, उसका नाम श्रद्धा है। निश्चय से जब मनुष्य सत्य में श्रद्धा करता है, तब सत्य को मानता है और असत्य में अश्रद्धा करता हुआ उसे नहीं मानता। श्रद्धा ही जानने की इच्छा करने योग्य है।'

महर्षि पतञ्जलि ने असम्प्रज्ञात समाधि को दो प्रकार से प्रतिपादित किया है—(१) भवप्रत्यय, (२) उपायप्रत्यय[1]।

'श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञादि उपायों से होनेवाले योगियों के चित्तवृत्ति-निरोध का नाम उपायप्रत्यय है'।

'असम्प्रज्ञात समाधि की आधारभूत श्रद्धा का विशद विवेचन करते हुए महर्षि व्यास ने श्रद्धा आदि उपायों को मुमुक्षु योगियों के लिए वर्णित किया है।[2] चित्त का भलीभाँति प्रसादयुक्त होना ही 'श्रद्धा' का तात्पर्य एवं सूत्रकार का अभिमत है। श्रद्धा ही माता की भाँति कल्याणरूपा होती हुई योगी की रक्षा करती है। उससे श्रद्धावान् विवेकार्थी योगी का बल-उत्साह प्रकट होता है, उत्साह के कारण योगी की स्मृति=ध्यानशक्ति[3] उत्पन्न होती है, इससे विना बाधा के चित्त समाहित हो जाता है। समाहित चित्तवाले योगी का प्रज्ञाविवेक जागता है।

साधक-समाज के निमित्त श्रद्धा के समग्र स्वरूपों पर विचार-विमर्श प्रस्तुत कर, यहाँ यह भी अपेक्षित है कि श्रद्धा को किन उपायों अथवा साधनों से योगी अपने अन्दर प्रस्थापित करे? व्यासभाष्य में निरूपण किया गया है कि 'चित्तप्रसादन' ही श्रद्धा है। योगी अपने स्वभाव से अन्य साधकों तथा प्राणियों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे और किन-किन व्रतों का पालन करे कि उसका चित्त-प्रसादन सदैव सम्पादित होता रहे, कभी विषाद का आरोप न हो जिससे वह श्रद्धालु बना रहे।

---

१. **श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।**—यो० १।२०

२. द्रष्टव्य—व्या० भा० १।२०

३. **स्मृति=ध्यानम्**—यो० १।२० [तत्त्ववैशारदी, पातञ्जलरहस्यम्, योगवार्तिकम्]

चित्त-प्रसादन के साधन तथा साधक का स्वभाव

साधक अपने रुचिकर प्रसन्नताकारक स्वभाव को एक मन्त्र में स्वीकार करता हुआ कहता है कि--मित्रभाव के मारनेवाले, शाप देनेवाले, आक्रोशयुक्त जन से मैं न बोलूँ, न किसी प्रकार सम्भाषण करूँ प्रत्युत सुख देनेवाले एवं दिव्यगुणों की कामना करनेवाले की सेवा सदा किया करूँ।[1]

वेद चित्त-प्रसादन के उपयोगी व्यवहार का प्रकाशन करता है कि मारनेवाले,[2] शाप देनेवाले, विषादि देनेवाले तथा अन्याय से पर-पदार्थों को हरनेवाले, इन चारों प्रकार के मनुष्यों का विश्वास न करे, इनसे नित्य डरे और दुष्ट वचन कहनेवाले से मित्रता न करे। साधक स्वयं भी इन दुर्गुणों से बचता रहे। मित्रता के लिए आवश्यक है कि माता-पिता[3] से मित्रता करनेवालों को भी मित्रता की भावना से देखता रहे। दूसरों से[4] प्राप्त प्रशंसा से आनन्दित न होकर उसे परमात्मा को समर्पित कर दे। वैरभाव[5] को त्याग, मित्रभाव को बढ़ावे। विद्वान् साधकों का सत्कार किया करे। परमात्मा[6] के समान द्रोहरहित स्वभाव करे। प्रशंसा[7] करने योग्य श्रेष्ठ साधक-विद्वानों की प्रशंसा करे और मित्रों की वाणी तथा धन से सेवा करे। मित्रता[8] को बढ़ाता रहे, जीर्ण न करे, विद्वानों से की हुई मित्रता कभी जीर्ण नहीं होती। मित्रता के प्रेरकों का आदर तथा घातक चोर-द्वेषी पुरुषों की ताड़ना करता रहे।

चित्त-प्रसादन के अन्य साधन

१. अज्ञान से अनादर करनेवाला हो या मारने के लिए प्रेरित हुआ हो, अथवा अपराध करके लज्जित हो रहा हो, साधक उसे क्षमा कर दे, उसपर क्रोध न करे।[9]

२. साधक क्रोधी स्वभाववाले से दूर रहे, जिससे स्वभाव विकृत

---

१. **चतुरश्चिद् ददमानाद् बिभीयादा निधातोः।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥**—ऋग्० १।४१।९

२. ऋग्० १।७१।१०
३. ऋग्० १।१७३।१३
४. ऋग्० २।७।३; ३।१०।९
५. ऋग्० ३।३२।९
६. ऋग्० ५।५३।१६; ५।७४।६
७. ऋग्० ६।४५।२६
८. ऋग्० ६।५१।१४
९. ऋग्० १।२५।२

न हो ।[1]

३. परमेश्वर के समान राग-द्वेषरहित होकर प्रेम का व्यवहार करे ।[2]

४. दुष्टों से दूर रहे, विद्वानों की निन्दा न करे ।[3]

५. सिद्ध योगियों तथा नवीन साधकों से मित्रता रखे ।[4]

६. विद्या तथा विनय से सम्पन्न साधक प्रसन्नचित्त हो साधना करे । नीचों के समान, अभद्र व्यवहार न करे । कभी भक्तिरहित न हो, दुष्टों से निर्भीक होकर परमात्मा की स्तुति-प्रार्थनोपासना करता रहे ।[5]

७. उपासक भोज्यान्न से, नमस्कारों से, सत्कार से और मधुर-वाणी से सेवा करता रहे तो सिद्धि प्राप्त करता है ।[6]

८. मारण, मोहन, उच्चाटन, हिंसा, कुत्सित कर्म के लिए साधना न करे । न किसी का शत्रु, चुगलखोर तथा कलंक लगानेवाला बने, न अनिष्ट चिन्तन करे ।[7]

९. साधक किसी प्रकार वर्गभेद न मानकर समान शीलवालों से मैत्री करे ।[8]

१०. सौम्य स्वभाव से ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है । अतः स्वभाव में सदैव सौम्यता रक्खे ।[9]

११. साधक का निकलना, दूर जाना, बोलना आदि सारा व्यवहार मधुर हो, किसी के लिए कष्टदायी न हो ।[10]

१२. साधना करते समय कभी लज्जा अनुभव न करे । साधना में हुई प्रवृत्ति को जन्मजन्मान्तरों का सौभाग्य समझे ।[11]

१३. चञ्चल=राजसिक एवं तामसिक आलस्य-प्रमाद वृत्तिवालों से सदैव अलग रहे ।[12]

---

१. ऋग्० १।२५।४
२. ऋग्० १।२६।९; ९।१००।७; ९।१०२।५
३. ऋग्० १।९०।३; १।१६१।५
४. ऋग्० ७।२२।९
५. ऋग्० ८।१।१३
६. ऋग्० ८।१९।१३
७. ऋग्० ८।१९।२६; ८।७१।७
८. ऋग्० ८।८३।७
९. ऋग्० ९।९८।११
१०. अथ० १।३४।३; ऋग्० १०।२४।६
११. साम० ७५५, ७५८
१२. साम० ७७४

१४. वेदज्ञान का आश्रय लेकर तथा भूतपूर्व योगी एवं वर्तमान योगियों का श्रद्धा-प्रेम से सम्मान एवं अनुसरण करता रहे।[1]

उक्त साधनों के अतिरिक्त यजुर्वेद के अन्तर्गत योगी पुरुषों के कर्म, स्वभाव, तथा गुणों का वर्णन विशदरूपेण मिलता है। साथ ही योग-विद्या के शिक्षक, शिष्यवर्ग के गुणों, कर्मों एवं स्वभावों का निरूपण[2] भी यत्र-तत्र सन्निहित है। जिज्ञासु वेदों के स्वाध्याय-मनन से तत्तद्-गुणों का परिज्ञान प्राप्त कर तदनुकूल आचरण करें।

वैदिक संहिताओं में प्रोक्त चित्त-प्रसादन के अनुपम, अगणित साधनों का महर्षि पतञ्जलि ने एक सूत्र में अन्तर्भाव किया है। सूत्र में कथित साधनों को व्यासमुनि ने इस प्रकार व्याकृत किया है—

'चित्त[3] के प्रसादन=निर्मलता के लिए साधक सुख-सम्भोग पूर्ण समस्त प्राणियों से मित्रता करे। दुःखितों पर दया करे। पुण्यात्माओं में हर्ष की भावना तथा पापियों के प्रति उपेक्षा-वृत्ति रखे। प्राणियों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करने से साधक में निर्मल-धर्म का उदय होता और चित्त में प्रसन्नता का साम्राज्य छा जाता है; प्रसन्न एवं निर्मल चित्त-स्थितिध्यानादि में परम सहायक होती है। उक्त उपायों से विज्ञानमयकोश के शोधन द्वारा निर्मल प्रज्ञा प्राप्त कर अविद्या-विनाश का उपक्रम करें।

योग-साधना से अविद्या का नाश

अविद्या-विनाश की आवश्यकता

विज्ञानमयकोश की साधना में प्रवृत्त साधक जब निर्मल बुद्धि प्राप्त करने का प्रयास करता है, तो सर्वप्रथम आवश्यक है कि विद्या को तिरोहित करनेवाले दोषों का निवारण करे। विद्या का अभाव अविद्या,

---

१. साम० १८२८

२. **योगिकृत्यं-स्वभावश्च**—यजु० ७।७, ८, १२, १३, १४, १५; ३८।२५; १७।१३; १९।९०, ९३-९४; १७।७४, ७६ **परमात्मानं के ज्ञातुं समर्थाः**—यजु० २३।६; १८।५६; **योगविद्या-शिक्षकादयाः**—यजु० ७।१०, ११; १९।९३; ९५।२३; ५५-६१

३. **मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् ॥**—१।३३

नहीं, अपितु [भ्रामक] विपरीत ज्ञान अविद्या है।[1] विपरीत ज्ञान की वासना से भरी हुई बुद्धि कार्य-निष्ठा एवं आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती; अधिकार से युक्त न होने के कारण पुनः पतित हो जाती है। इस कारण बुद्धि से वासना की निवृत्ति करना अत्यन्त आवश्यक है। अविद्या-विनाश के साधन एवं फल का शेष वर्णन मोक्ष के प्रकरण में किया गया है। □

१. विपर्यासज्ञानवासनेत्यर्थः।—व्या० भा० २।२४

पञ्चम अध्याय

आनन्दमयकोश

पञ्चकोश की प्रक्रिया में जीव सम्बन्धी सूक्ष्मतम विज्ञान की दृष्टि से 'आनन्दमयकोश' अन्तिम है। वैदिक साहित्य में इस कोश के लिए कारणशरीर तथा लिंगशरीर नाम भी प्रयुक्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त हिरणमय, हृत्पुण्डरीक, हृत्कमल, हृत्चक्र, हृदयदहर, हृदयगुहा, हृदयाकाश, हृत्पद्म, ब्रह्मपुर आदि शब्दों का प्रयोग आनन्दमयकोश के स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए मिलता है।

आनन्द का निरूपण

पूर्व-वर्णित विज्ञानमयकोश तक इन्द्रिय तथा मन के संयोग से बुद्धितत्त्व द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है। उस ज्ञान की क्रिया के दर्शन से समाहित चित्त में एक मधुर-सा रस बहानेवाली लहरियाँ उठ-उठकर जो हर्षयुक्त भाव उत्पन्न करती हैं वह है 'आनन्द'। यह आनन्दानुभूति, स्थितप्रज्ञ, परितृप्ति, विवेकख्याति तथा आत्मदर्शन के अनन्तर आत्मा का विषय है। साधक जब त्रिगुणातीत, स्वरूपनिष्ठ, जीवनमुक्त अवस्था में प्रवेश कर लेता है तभी 'आनन्द' की अनुभूति विशेषरूप से होती है। आनन्द की अनुभूति का आधार होने के कारण हृदयस्थ इस कोश को 'आनन्दमयकोश की संज्ञा दी गयी है।

आनन्दमयकोश का वैदिक स्वरूप

आनन्दमयकोश को वेदों में हिरण्ययकोश की संज्ञा दी गयी है। अथर्ववेद में प्रतिपादित है कि—'आठ चक्रों तथा नव द्वारोंवाली देवों की यह अजेय नगरी 'मानवशरीर' परमात्मा द्वारा निर्मित है। इस मानव-देहरूपी नगरी में स्वर्णिम आभा से आवृत सुखविशेष की

अनुभूति का साधन 'हिरण्ययकोश' है। इस हिरण्ययकोश में तीन ओर से सम्बद्ध त्रिकोण स्थान में आत्मा स्थित है जिसको ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं। हिरण्मयी दीप्ति से प्रकाशमान, दुःख हरनेवाली, यश से ढकी हुई, अपराजेयपुरी में आत्मा ने प्रवेश किया है।[1]

इन मन्त्रों से पूर्व सांसारिक व्यवहार की साधिका ज्ञानेन्द्रियों को देव तथा शिर को देवकोश बताया गया है।[2] इसी देवकोश को अथर्ववेद में ही देवसदन[3] भी कहा है। प्राण को शिर=देवकोश=मस्तिष्क तथा अन्न और मन का रक्षक कहा है। यह प्राण भौतिक वायु नहीं, अपितु जीव का वाचक[4] है, क्योंकि अथर्ववेद के प्राणसूक्त में प्राणशब्द से जीव की महिमा का वर्णन है।[5] लोक में भी प्राणयुक्त सचेतन शरीर का 'प्राणी' शब्द से व्यवहार होता है। मन्त्र में अन्न और मन शब्द अन्न-मय तथा मनोमय कोशों के वाचक हैं।

तीनों मन्त्रों में आगत 'हिरण्ययः' 'पद वैयाकरणों के मतानुसार[6], प्रकृत अर्थात् प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्ययान्त निपातन है। तदनुसार 'हिरण्ययः' पद का अर्थ होगा 'हिरण्य के प्राधान्य से निर्मित'। देवपुरी का विवेचन करने से प्रतीत होता है कि मस्तिष्क हल्के पीले [धूसर] वर्णवाले पदार्थ के बाहुल्य से बना हुआ है जिसको आधुनिक शारीर संज्ञा में 'आज्ञाकन्द' कहा जाता है।[7] योगीजन इसे आज्ञाचक्र कहते हैं। यह वाम और दक्षिण भेद से दो भागों में विभक्त है। इन दोनों की

---

१. **अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।**
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥—अथ० १०।२।३१
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥--३२
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥--३३

२. **तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।**—अथ० १०।२।२७

३. **अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।**—अथ० ६।६५।१

४. **प्राणो हि प्रियः प्रजानाम्।**—तै० ब्रा० २।३।६।५

५. प्राणसूक्त अथ० ११।४

६. **तत्प्रकृतवचने मयट्।**—अष्टा० ५।४।२१, **प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम् [काशिका]**
ऋत्व्यवास्त्व्य'''हिरण्ययानिच्छन्दसि।—अष्टा० ६।४।१७५

७. **आज्ञाकन्दोनाम—धूसरवस्तुभूयिष्ठोकन्दो ब्रह्मगुहासुभयतो वर्तते।**
प्रत्यक्षशारीर भाग—३, अ०६, पृ० ७६

आकृति मनुष्य के अंगुष्ठ से मिलती-जुलती है। सुवर्ण वर्ण के सदृश और समस्त ज्ञानतन्तुओं का केन्द्र होने से इस अवयव को वेद ने 'हिरण्ययकोश' कहा है। शरीर के ऊर्ध्वभाग में निहित होने से स्वर्ग कहा है।[1] पूर्वोक्त आज्ञाकन्दों के धूसर वर्ण सदृश होने के कारण वेद का उन्हें 'ज्योतिषावृत' कहना उपयुक्त है। कठोपनिषद् में भी अंगुष्ठ-पर्वमात्र पुरुष को धूमरहित ज्योति से अर्थात् चमकते हुए अंगारों से उपमा दी है।[2] वेद का हिरण्ययकोश ही उपनिषद् का अंगुष्ठपर्वमात्र पुरुष है, क्योंकि हिरण्ययकोश का आकार भी अंगुष्ठपर्ववत् है।

'त्र्यरे' और 'त्रिप्रतिष्ठित' हिरण्ययकोश के विशेषण नहीं बन सकते, वरन् हिरण्ययकोश के दोनों आज्ञाकेन्द्रों के मध्य में "ब्रह्मगुहा" नामक एक त्रिकोण परिखाकार स्थान[3] है। इसे ही वेद में 'त्र्यरे' पद से कहा गया है। यह त्र्यरे [ब्रह्मगुहा] स्थान गुहान्तरालिक छिद्रद्वार द्वारा दो ओर से त्रिपथगुहाओं से सम्बद्ध[4] और तीसरी ओर ब्रह्मद्वार सुरंग द्वारा प्राणगुहा से सम्बद्ध है। इसीलिए वेद में भी 'त्र्यरे' स्थान को 'त्रिप्रतिष्ठित' कहा है। 'यक्षपूजायां' धातु से यक्ष शब्द बनता है। अध्यात्म में यह शब्द जीव और ईश्वर दोनों का वाचक है। अथर्ववेद के तीन अध्यात्म-प्रकरणों में चार बार यक्ष शब्द का प्रयोग मिलता है। इन प्रकरणों में जहाँ-जहाँ ज्येष्ठ-ब्रह्म [परमात्मा] का वर्णन है, वहाँ-वहाँ यक्ष का विशेषण 'महत्' दिया[5] है। जहाँ-जहाँ जीव का वर्णन है, वहाँ-वहाँ यक्ष का विशेषण 'आत्मन्वत्' उपलब्ध होता है।[6] प्रकृत मन्त्रों में यक्ष को नवद्वारयुक्त देवपुरी के आभ्यन्तरिक 'त्र्यरे' [ब्रह्म-गुहा] स्थान में विद्यमान कहा है, अतः यह यक्ष शब्द निश्चय ही जीव का वाचक है।

---

१. ऊर्ध्वमु वै स्वर्गोलोकः उपरीव स्वर्गोलोकः।—तै० ब्रा० ३।२।१।१५

२. अंगुष्ठमात्रः पुरुषोज्योतिरिवाधूमकः।—कठो० ४।१३

३. ब्रह्मगुहा ब्रह्मयोनिर्वा नाम आज्ञाकन्दयोरन्तरालेमध्यरेखायां दृश्या गुहा तनु त्रिकोणपरिखाकारा। तदेव क्वचिद्ब्रह्महृदयमिति वा व्यवहरन्ति प्राञ्चः॥
—प्रत्य० शा० भा० ३ अ० ६ पृ० ८२

४. सा च गुहायाः पुरस्तादूर्ध्वं त्रिपथगुहाभ्यां सम्बन्धवती गुहान्तरालिक विवरद्वारेण—। [प्रत्य० शा० वही]

५. द्रष्टव्य—अथ० १०।७।३८; १०।८।१५

६. अथ० १०।२।३२; १०।८।४३

'आत्मा शब्द जीव तथा ईश्वर दोनों का वाचक है', यह लोक-प्रसिद्ध है परन्तु आत्मा शब्द शरीर का वाचक है, यह विद्वान् ही जानते होंगे। अथर्ववेद में जहाँ-जहाँ 'आत्मन्वत्' विशेषण के साथ यक्ष का वर्णन है वहाँ-वहाँ नवद्वारपुरी या पुण्डरीक [गृह] का भी उल्लेख है। 'आत्मन्वतं' शब्द का अर्थ है—आत्मा से युक्त [आत्मा अस्यास्तीति], इससे स्पष्ट है कि द्वितीय मन्त्र में प्रयुक्त 'आत्मन्वत्' में आत्मा शब्द शरीर का वाचक है। ब्राह्मण ग्रन्थों[1] में भी आत्म को शरीर तथा अंगवाची कहा है।

तृतीय मन्त्र का ब्रह्मा शब्द 'जीव' वाची है, क्योंकि इसके मूल 'ब्रह्मन्' शब्द से ब्रह्मा तथा ब्रह्म पुंल्लिग और नपुंसकलिंग भेद से दो प्रकार का है। दोनों ही प्रकार का ब्रह्मन् शब्द अध्यात्म में जीव और ईश्वर दोनों के लिए प्रयुक्त होता है।[2] जहाँ ब्रह्मन् शब्द के साथ ज्येष्ठ या महत् आदि विशेषण प्रयुक्त होते हैं, वहाँ वह निश्चय से ईश्वर का ही बोधक होता है।[3] यहाँ प्रकरणानुसार मन्त्र में 'ब्रह्मा' शब्द जीव का ही वाचक है, ईश्वर का नहीं।

प्रस्तुत विवरण के अनुसार पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक[4] ने निष्कर्ष प्रकट किया है "कि मस्तिष्कान्तर्गत पीताभवर्णवाले दोनों आज्ञाकन्दों के मध्य में जो त्रिकोण परिखाकार स्थान है, उसमें जीवात्मा निवास करता है। इसीलिए योगिजन इस स्थान को ब्रह्मगुहा या ब्रह्मयोनि नाम से पुकारते हैं। यही सप्तम सत्य या स्वर्ग नामक लोक है।[5] इसी

---

१. **आत्मा वै तनूः।**—शत० ६।७।२।६; **पाङ्क्त इतर आत्मा लोमत्वङ्मांसम् अस्थिमज्जा।**—तां० ब्राह्० ५।१।४

२. यक्ष, पुरुष, आत्मा, ब्रह्म या ब्रह्मा पद अध्यात्म में शरीर के वाचक तथा अधिदैवत में ब्रह्माण्ड के भी वाचक हैं।

३. **तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।**—अथ० १०।७।३२--३४, ३६; १०।८।१

४. द्रष्टव्य—वेदप्रतिपादित आत्मा का शरीर में निवास स्थान, (वेदवाणी—वेदाङ्क—पृ० सं० ३१--३४; वर्ष ६ अंक १-२; नव०-दिस० १९५३ ई०)

५. द्रष्टव्य—**ओं भूः ओं भुवः, ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यम्।** पुराणों में सात स्वर्ग कहे हैं; सप्तम सत्यनामक स्वर्ग में देवाधिदेव इन्द्र का वास है। शरीर—पिण्ड में नाभि आदि सात स्थान हैं और सत्य आज्ञाचक्र में जीव का निवास है।

में ब्रह्म=जीव निवास करता है। इसी भाव को यजुर्वेद के अन्तिम मन्त्र में व्यक्त किया गया है कि 'हिरण्मयपात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है, उस सत्यरूपी आदित्य में वर्तमान जो पुरुष है, वह मैं हूँ।'[1]

यहाँ हिरण्मय पात्र से अभिप्राय उक्त पीताभ [धूसरवर्ण] दोनों आज्ञाकन्दों से है। मस्तिष्क का यह भाग समस्त शरीर के ज्ञानवाहक तथा चेष्टावाहक तन्तुओं का केन्द्र है, अतः पात्रवत् ज्ञान का आधार होने से 'पात्र' पद द्वारा व्यक्त किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य को आदित्य कहा है।[2] ब्रह्माण्ड का आदित्य पिण्ड का शिर है, अतः मन्त्रार्थ स्पष्ट है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमयकोश का निरूपण कुछ भिन्न प्रकार से है—'उस विज्ञानमय से भिन्न दूसरा अन्तरात्मा है जो आनन्दमय है। उस आनन्दमय से यह विज्ञानमय परिपूर्ण है। यह आनन्दमय पुरुष शरीर में पुरुषाकार ही है। उस विज्ञानमय की पुरुषाकारता के सदृश यह आनन्दमय पुरुषविध है। प्रेम इसका शिर है। प्रसन्नता दायाँ अङ्ग है। विशेष प्रसन्नता उसका बायाँ अङ्ग है। आनन्द, परमशान्ति इसका स्वरूप है। इसको समभाव में रखनेवाली पूँछ ब्रह्म है; वही उसका प्रतिष्ठा स्थान है।'[3]

शरीर में आत्मा का स्थान

उक्त विवरण से स्पष्ट हो गया कि आनन्दमयकोशस्थ हृदय में ही आत्मा का निवास-स्थान है, परन्तु विद्वानों में इस विषय में मतभेद मिलता है कि हृदय का मुख्यस्थान कहाँ है?

इस प्रसंग में 'युधिष्ठिर मीमांसक' की मान्यता वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् एवं आयुर्वेदिक ग्रन्थों के आधार पर है कि हृदय मस्तिष्क में है। उन्होंने उद्धरणों के निष्कर्ष में लिखा है कि "हृदय शब्द मस्तिष्क का भी वाचक है। केवल उरःस्थानीय मांसमय अवयव का ही वाचक नहीं है। अतः **'अंगुष्ठमात्र ! पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः'**

---

१. **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।** —यजु० ४०।१७

२. **तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यः।**—शत० ६।४।१।१२
असौ वा आदित्यः सत्यम्।—तै० ब्रा० २।१।११।१

३. **तस्माद्वा—अन्योन्तरऽआत्माऽऽनन्दमयः।**—तै० ब्रह्म० ५।२

कठोपनिषद् के प्रमाण से लोकप्रसिद्ध हृदय अवयव में जीवात्मा का निवास है, ऐसा मानना अनुचित तथा वेदविरुद्ध है। इसलिए उक्त कठवचन में भी हृदय शब्द का अर्थ मस्तिष्कान्तर्गत ब्रह्मगुहा ही करना उचित है।[1]

स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ने **'अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद्यमः'** अर्थात्—'अन्तक भगवान् ने अंगुष्ठ जितने बड़े आत्मा को बलपूर्वक शरीर से निकाल दिया'[2] इस वाक्य से सिद्ध किया है कि 'आत्मा शरीर में व्यापक नहीं है शरीर के एक भाग मस्तिष्क में रहता है और उसका परिमाण अणु है। उसके समीप ही मस्तिष्क में अन्तःकरण रहता है और अन्तःकरण के समीप ही मस्तिष्क में प्राणकेन्द्र है। इन्हीं सब शक्तियों के चारों ओर शिर में ज्ञानेन्द्रियों का सन्निवेश है'।

स्वामीजी ने मस्तिष्क तथा छाती के हृदय में आत्मा के आवागमन को अन्य उपनिषद्-वाक्य से स्पष्ट किया है कि 'एक सौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं उनमें से एक मूर्द्धा में जाकर निकली है। उससे ऊपर की ओर जाकर आत्मा मुक्त होता है, शेष सब नाड़ियाँ उस उत्क्रान्ति में सहायक होती हैं।'[3]

इस उपनिषद्-वाक्य में आत्मा का एक नाड़ी के द्वारा छाती के हृदय से मस्तिष्क के हृदय में जाना लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि आत्मा संकल्प-विकल्प के समय छाती के हृदय में यक्षमन की सहायता करता हुआ यहाँ भी निवास करता है, परन्तु जब यह अन्तःकरण के शेष तीन भाग बुद्धि, चित्त और अहंकार नामक यन्त्रों से काम लेता है तथा ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठाता दैवमन की सहायता करता है, तब वह उसी एक नाड़ी के द्वारा मस्तिष्क के हृदय में चला जाता है। इस प्रकार इसका यह आना-जाना लगा रहता है, परन्तु जिसे नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वगति या उत्क्रान्ति कहते हैं यह आत्मा की ऐसी उत्क्रान्ति है जिसके बाद फिर वह नीचे नहीं आता और मुक्त हो जाता है'।

---

१. द्रष्टव्य—कठो० ६।१७

२. **सन्ध्या—अष्टांगयोग**।—पृ० सं० ४८-४९

३. **शतञ्चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका, तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति। विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥**

—उद्धृत—सन्ध्या अष्टांगयोग, पृ० सं० ३८-४०

स्वामी योगेश्वरानन्द जी की मान्यता[1] है कि 'पञ्चकोशों के स्वामी 'जीवात्मा' का आवास इस रक्ताशय हृदय के मध्य में स्थित 'आनन्दमयकोश' में है। स्वामीजी ने अपनी मान्यता को कतिपय चित्रों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

आत्मा का स्थान एवं आत्मसाक्षात्कार के विषय में श्री अरविन्द का लेख है—'मानसिक प्रयत्न को सजीव आध्यात्मिक अनुभवों में बदलने के लिए, प्रथम आवश्यकता है अपनी चेतना को अपने अन्दर ही एकाग्र करने लगना। साधारण मानव-मन की क्रिया ऊपरी तल पर होती है, यह आत्मा को आवृत कर देती है, परन्तु ऊपरी चेतना के पीछे, अन्दर, एक-दूसरी छिपी हुई चेतना है जिसमें वह वास्तविक अहंतत्त्व से और प्रकृति के विस्तृत-गम्भीर सत्य से सचेतन हो सकते हैं, जहाँ हम आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं और प्रकृति को मुक्त तथा रूपान्तरित कर सकते हैं। ऊपरी मन को अचञ्चल करके अन्दर रहना प्रारम्भ करना इस एकाग्रता का उद्देश्य है। इस सच्ची चेतना के, जो उपरितल की चेतना से भिन्न है, मुख्य केन्द्र दो हैं : एक हृदय में [भौतिक हृदय में नहीं, परन्तु छाती के मध्य में हृत्-चक्र में] और दूसरा सिर में। हृदय में की हुई एकाग्रता हमें अन्दर की ओर खोल देती है और इस अन्तर्मख-उद्घाटन का अनुसरण करने और गहरा हो जाने से मनुष्य 'आत्मा या हृत्पुरुष अर्थात् व्यष्टि में विद्यमान दिव्य-तत्त्व का अनुभव प्राप्त करता है। यह हृत्पुरुष अनावृत होकर सामने आना, प्रकृति पर शासन करना, उसे और उसकी सब गतियों को सत्य की ओर, भगवान् की ओर मोड़ देना, और जो कुछ ऊपर है उस सबको नीचे प्रकृति के अन्दर आवाहन करना शुरू करता है। यह परम की उपस्थिति के प्रति सचेतनता तथा उच्चतम के प्रति आत्मोत्सर्ग पैदा करता है और हमारी प्रकृति में उस बृहत्तर-शक्ति तथा चेतना के अवतरण को नियन्त्रित करता है जो उच्चतर स्तर में हमारी प्रतीक्षा कर रही है। भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण और उसके अन्तर्मुख-उद्घाटित हृदय में उपस्थिति के लिए अभीप्सा करने के साथ 'हृदयकेन्द्र' में एकाग्रता करना सर्वप्रथम उपाय है; और अगर यह किया जा सके तो यह स्वाभाविक आरम्भ होगा, क्योंकि इसके सफल हो जाने पर

---

१. द्रष्टव्य—'आतमविज्ञान'—अन्नमयकोश पृ० ३४ एवं आनन्द पृ० १६६

आध्यात्मिक मार्ग सुगम और सुरक्षित हो जाता है, किसी दूसरे-तीसरे तरीके से शुरू करने पर ऐसा नहीं होता। दूसरा तरीका है—सिर में, मानसिक केन्द्र में एकाग्रता करना। परन्तु अगर कोई कर सके तो हृदय-केन्द्र से आरम्भ करना ही अधिक वाञ्छनीय है।[1]

आत्मा का मुख्य स्थान तथा आत्मसाक्षात्कार के विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'[2] में छान्दोग्योपनिषद् के प्रमाणों से सुस्पष्ट करते हैं—'जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहे, उस समय इस रीति से करे कि—(**अथयदिदमस्मिन्०**) कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय-देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है, दूसरा इसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।[3] छान्दोग्योपनिषद् के इसी प्रकरण के अन्य सन्दर्भों में इस विषय में होने-वाली अन्य शंकाओं का समाधान भली-भाँति किया गया है।

विषय के स्पष्टीकरण के लिए उपनिषदों के अन्य स्थल भी द्रष्टव्य हैं—(**हृदि एष आत्मा**)[4] हृदय ही जीवात्मा का निवास-स्थान है। (**एषोऽणुः आत्मा चेतसा वेदितव्यः**)[5] यह अणु आत्मा चित्त से जानना चाहिए, चित्त का स्थान वेद में (**हृत्प्रतिष्ठं**) से हृदय में बताया है। (**अंगुष्ठ-मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः**)।[6] अंगुष्ठमात्र

१. 'श्री अरविन्द के पत्र, प्रथम भाग पृ० २२ से आगे, उद्धृत सन्ध्यायोग—ब्रह्म० पृ० १५१-१५२

२. 'ऋ० भा० भू०, उपासना विषय पृ० १३६ (आर्षसाहित्यप्रचार ट्रस्ट, बड़ा आकार)

३. **अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-स्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाववविजिज्ञासितव्यमिति॥**

—छान्दो० ८।१ (५वें मन्त्र तक देखें)

४. प्रश्न० ३।६

५. मुण्ड० ३।१।६

६. कठो० ६।१७

स्थान में अन्तरात्मा पुरुष सदैवम नुष्यों के हृदय में प्रविष्ट रहता है एवं (**स वा एष आत्मा हृदि, तस्यैतदेव निरुक्तम हृद्ययमिति तस्माद् हृदयम्**)[1] वह ही यह आत्मा हृदय में है, उसका यह ही निर्वचन है—हृदय में यह आत्मा है इसी कारण हृदय कहा है।' इस वाक्य का अर्थ करके, स्पष्टीकरण के लिए स्वामी सत्यानन्द का विचार है कि 'सुषुप्ति में तथा समाधि में आत्मा के सारे भाव हृदय में एकीभूत हो जाते हैं। हृदय ही आत्मज्योति का केन्द्र है। आगे कहा है कि 'हृदय से निकली ७२ सहस्र 'हिता' नामक नाड़ियों से निकलकर वह 'पुरीतत्' नाम की एक विशेष नाड़ी में जा सोता है।[2] इसी प्रकार महाराजा जनक को हृदय के विषय में उपदेश करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—'राजन्![2] यह हृदय ब्रह्म के समान विशाल तथा समस्त गुणों का सागर है। हृदयाकाश में ही समस्त भूतों=जीवों, जीवात्मा की स्थिति है—निवास है। हृदय में ही श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, निर्भयता आदि सात्त्विक भाव संस्काररूप से सुरक्षित हैं। हृदय ही परम ब्रह्म है, हृदय ही हरि का मन्दिर है।[3]

हृदय में ध्यान लगाकर आत्मसाक्षात्कार, तदुपरान्त परमात्म-साक्षात्कार की विधि बताते हुए स्वामी सच्चिदानन्द योगी का कहना है कि—'ध्यान से मन को भ्रकुटि में केन्द्रित कर धीरे-धीरे दे हृदय में ले जाओ। वृत्तियाँ रुक गईं। ज्ञानांश बना रहे। दहर पुण्डरीक में ज्ञान बने। मन-बुद्धि शान्त रहे चेतना बनी रहे। दहर पुण्डरीक-कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, वहीं ध्यान लगाने का अभ्यास करे। उस ब्रह्मपुर में जो गर्त=गड्ढा है उसमें कमल के आकार का खाली स्थान है उसमें ही आत्मा का स्थान है। वहीं आत्मा को परमात्मा का ज्ञान साधना की अन्तिम स्थिति में होगा।'[4]

योगदर्शन ब्रह्मज्ञान को इस रूप में प्रकट करता है कि—'हृदय-

---

१. छा० उ० ८।३।३
२. बृह० उ० २।१।१६
३. द्रष्टव्य—बृह० उ० ४।१।७
४. 'पातञ्जल योगसाधना' तृतीय संस्करण—पृ० २३-२४
प्रकाशक—पातञ्जल योग साधक समाज, योगधाम, ज्वालापुर (सहारनपुर)

गत[1] हिरण्यमय कोश अर्थात् अक्षयज्योतिर्मय चित्त-अण्ड के निर्झर से निरन्तर अक्षुण्ण रूप से निर्झरित ज्ञान-जाह्नवीरूप 'धर्ममेघसमाधि' की स्निग्ध-सरस-शान्ति की अगाध सौम्यता से आसिक्त वर्षा में स्नात योगी 'क्लेश-कर्म-निवृत्ति' के द्वारा कृतकृत्य हो जाता है।"[2] सर्वज्ञ इष्टदेव की परमोज्ज्वल दिव्य-ज्योति के संस्पर्शमात्र से ही यह अल्पज्ञ 'जीव' (सामर्थ्यानुसार) पूर्णज्ञानी की कोटि में आ जाता है। 'हृदये चित्तसंवित्।[3] यह सूत्र इस विषय में प्रमाण है कि—हृदय में संयम करने से चित्-स्वरूप-चेतन का साक्षात्कार होता है। इसको स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'तत्र विजानाति स्वमिति हृदय में स्वरूप को जान लेता है, ऐसा लिखा है।[4]

आत्मा के स्थानविषयक विशद् विवेचन से यही अधिक प्रामाणिक एवं संगत प्रतीत होता है कि—'आत्मा का प्रमुख निवास वक्षःस्थल में स्थित हृदयप्रदेश में होता है। साधना-अभ्यास यहीं से सुगमतापूर्वक होता है। विशेषावस्था अर्थात् उत्क्रमण के समय मस्तिष्क स्थानीय हृदय में स्थित रहकर, बाहर निकल जाता है।

कुछ विचारकों का कहना है कि यदि आत्मा उरःस्थानीय हृदय में रहता तो शल्यचिकित्सा के द्वारा आजकल हृदय-परिवर्तन भी कर देते हैं पुनरपि मनुष्य चेतनावान् रहता है। इस विषय में इतना ही ज्ञातव्य है कि शल्यचिकित्सा के समय हृदय का कार्य कृत्रिम साधनों से चालू रखा जाता है, पुनः नवीन हृदय में सम्पूर्ण शक्ति कार्य करने लगती है। इस विषय का पूर्णज्ञान तो परमात्मा ही जानता है। विज्ञ पुरुष निर्भ्रान्त हो, एक स्थान पर ध्यान लगाकर आत्मसाक्षात्कार करें, यही युक्ति-युक्त है।

आनन्दमयकोश के विभाग

अथर्ववेदीय मन्त्र[5] में आनन्दमयकोश की कमल से उपमा देते हुए सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीन गुणों से आवृत बताया है। यह

१. **प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्मेघः समाधिः।**—यो० ४।२९
२. यो० ४।३०
३. यो० ३।३४
४. उद्धृत—सन्ध्यायोग० ब्रह्म० पृ० १५२-१५३; ले० ब्रह्मचारी जगन्नाथ पथिक
५. **पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृत म्**—अथ० १०।८।४३

जीवात्मा आनन्दमयकोश के अन्तर्गत सूक्ष्म छह मण्डलों से घिरा हुआ है। इनमें प्रथम मण्डल ब्रह्म का है जो सूक्ष्म आकाश की तरह घटाकाश, महाकाश की संज्ञा के व्यवहारवत् यहाँ प्रयुक्त किया गया है। ब्रह्म का आवरण इसलिए भी मान्य है कि—'दैव ने उसे सर्वोपरि सुरक्षित गर्भस्थानीय बनाया है, ज्ञान एवं कर्मयोग से सम्पन्न योगी अन्तःकरण की गुहा में सर्वप्रथम ब्रह्म को जानते हैं।[1] 'प्रकृति ने भी हृदयदेश में ब्रह्मदर्शन करने की योग्यता प्रदान की है।' यह हृदयप्रदेश का आकाश बाह्य आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म से परिपूर्ण है। वह ब्रह्म अपरिवर्तनशील है, गायत्री से आराधित सविता हृदय का प्रकाश है। वह अन्तर्मुख होकर देखा जाता है। जो उपासक इस प्रकार जान लेता है, वह पूर्ण तथा अपरिवर्तनीय मोक्षश्री को पा लेता है।'[2]

ऋग्वेदीय मन्त्र में स्पष्ट प्रतिपादित है कि 'होनहार, योग्य शिशु को साथ में रखती हुई पालनेवाली माता जिस प्रकार उसका धारण-पोषण करती है तथा जिस प्रकार बन्धन से छूटा हुआ पशु खाद्य-पदार्थों को चाहता हुआ जाता है उसी प्रकार हे परमेश्वर! तू हृदयाकाश में प्रवणमार्ग से विद्वान् योगियों को प्राप्त होता है और इन्हें अधिगत एवं ज्ञात होता है।'[3]

हृदय में प्रकट होनेवाले परमात्मा के लिए उपासक सामूहिक रूप से भी प्रार्थना करते हैं कि—'हे सोमस्वरूप भगवन्! आप हमारे हृदयों में इस प्रकार आनन्द से विहार करें जैसे गौएँ जौ के खेत में तथा मनुष्य अपने घर में विहरण करता है।[4] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ब्रह्म की विशेषानुभूति हृदयाकाश में ही सम्भव है।

---

१. सं दक्षेण मनसा जायते कविर्ऋतस्य गर्भो निहितो यमापरः।
यूना ह सन्ता प्रथमं वि जज्ञतुर्गुहा हितं जनिम नेममुद्यतम्॥
—ऋग्० ६।६८।५

२. अयं वाव स यो यमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत् पूर्णमप्रवर्त्ति।
पूर्णमप्रवर्त्तिनीं श्रियं लभन्ते य एवं वेद॥—छा० उ० ३।१२।९

३. शिशुं न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्त्ति सचनस्यमाना।
धनोरधि प्रवता यासि हर्यञ्जिगीषसे पशुरिवावसृष्टः॥—ऋग्० १०।४।३

४. सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्य्य इव स्व ओक्ये॥—ऋग्० १।९१।१३

द्वितीय मण्डल ब्रह्म-मण्डल के अन्दर 'अव्यक्त परा प्रकृति' का अंशभूत 'सूक्ष्मप्रकृति' का मण्डल है जो हल्के पीताभवर्ण का है। यही जीवात्मा का वास्तविक कारण व लिंग शरीर है। इसका जीवात्मा के साथ अनादिकाल से ही सम्बन्ध चला जा रहा है, क्योंकि वासनाएँ जाति, देश, काल के पर्दे या आवरण से कट नहीं सकतीं और संस्कार स्मृति के अनुरूप आकृतिवाले होते हैं। इस कारण अनुकूलता पाते ही संस्काररूपी वासनायें झट उद्बुद्ध हो जाती हैं।[1] अविद्या के रहते हुए ये वासनायें नष्ट नहीं होतीं, क्योंकि 'नष्ट न होने की इच्छा' अनादि-काल से इसके साथ संलग्न है।[2] इस सम्बन्ध का हेतु अज्ञान है।[3] ध्यान करने पर अति सूक्ष्म होने के कारण यह मण्डल प्रथम ही प्रत्यक्ष नहीं होता, बाद में होता है।[4] तृतीयमण्डल—सूक्ष्म प्रकृति के अन्दर सूक्ष्म प्राण का है। यह मण्डल चेतनतत्त्व आत्मा के संयोग से चित्त को चेतन-सा बनाने की क्रिया का स्थूल रूप है, जो चमकीली वाष्प के रूप में व्यक्त होता है। इसकी प्रतीति अहंकार-मण्डल के बाहर होती है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार हृदय में पाँच छिद्रों से रश्मियाँ निकलती हैं तथा प्राणों द्वारा जीवनी शक्ति निकलती है।[5]

चतुर्थ मण्डल—सूक्ष्म प्राण के अन्दर अहंकार का है, जोकि अस्मिता का स्थूल रूप है। यह मण्डल सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के प्रभाव से विभिन्न वर्णोंवाला, मन्थर गति से युक्त है।

पञ्चम मण्डल—अहंमण्डल के अन्दर चित्तमण्डल है। यह अत्यन्त शुभ्र, पारदर्शी, मनोरम ज्योति से युक्त तथा वृत्तियों के कारण सदा परिवर्तनशील वर्णोंवाला है। यह चित्त जीवात्मा की चेतना ज्ञानशक्ति का द्योतक है और अन्तःकरण का ज्ञानप्रधान भागविशेष है। हृदयगत इसी चित्त गुहा में आत्मा का निवास है।

षष्ठ मण्डल—आत्मा का है जो सृष्टि में लघुता की दृष्टि से परमाणु से भी छोटा और सूक्ष्मता में ब्रह्म के सदृश सूक्ष्म है। यह चित्त

१. **जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यस्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥** —यो० ४।९

२. **तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।**—यो० ४।१०

३. **तस्यहेतुरविद्या।**—यो० २।२४

४. **सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः।**—सां० १।१०९

५. **तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः।**—छान्दो० ३।१३

के साहचर्य से रंग तथा गुण की दृष्टि में उसी जैसा प्रतीत होता है। जीवात्मा भी एक अति सूक्ष्म बिन्दु के आकार में भासता है। उक्त छः मण्डलों का वर्णन स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती ने विशदरूप से किया है।[1] इस वर्णन की समता बृहदा०, छान्दो० तथा कठोपनिषद् से की है।[2] उपनिषदों में आगत हृदयस्थ नाड़ियों के वर्णन को स्वामी सत्यानन्द ने स्वीकार किया है कि 'इस उपासना में आत्मा के निवास-स्थान को सूर्य के साथ मिलाया है। यह प्राचीन चक्रोपासना है। आदित्यधाम में आत्मा को स्थिर करनें का रहस्य है।'

यह आनन्दमयकोश सूक्ष्म-प्राण, अहंकार और चित्तसहित आत्मा को सूक्ष्म प्रकृति के मण्डलकोश वा ढाँचे में संगठित किए हुए है। यह सूक्ष्म प्रकृति का मण्डल भी अलिङ्ग प्रकृति या समष्टि प्रकृति का हृदयदेश में सम्पूरित एक अंग-जैसा है। इस कारण मण्डलों के संघात को श्रुतिभगवती ने 'हिरण्ययकोशः स्वर्गोज्योतिषावृतः' कहा है। मुण्डकोपनिषद ने इसकी सम्पुष्टि की है।[3]

आनन्दमयकोश की साधना के साधन

आनन्दमयकोश तक पहुँचने से पूर्व अन्नमय आदि चार कोशों की क्रमिक साधना पहले आवश्यक है। आनन्दमयकोश की परिशुद्धि के लिए चित्त को समाहित करनेवाले पूर्व-वर्णित साधनों का प्रयोग तो आवश्यक है ही, उसके साथ ही समाधि का अभ्यास अनवरत रूप से उपादेय है।

आनन्ददायक आत्मा के संशोधन के लिए यजुर्वेदीय मन्त्र में उपायों का निर्देश किया है कि 'आत्मिक उन्नति के लिए उपासकों को चाहिए कि वे कभी अपने आत्मा को शोक में न डालें। किसी पर तलवार आदि अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार न करें। किसी के उपकार का विच्छेद न करें। सदैव परोपकार से युक्त रहें।'[4]

---

१. द्रष्टव्य---आत्मविज्ञान---आनन्दमयकोश, पृ० १६६-२०२

२. द्रष्टव्य---कठो० ६।१६; प्रश्नो० ३।६; छान्दो० ८।६; बृहदा० २।१।१६; ४।२।३; ४।३।२०

३. **हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।**
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥---मुण्डक० २।२।६

४. **मा त्वा तपत् प्रियऽआत्मापियन्तम्।**---यजु० २५।४३ भावार्थः

उपासक समाधि की अवस्था में पहुँचकर जब परमात्मा के साम-स्वरूप का सेवन सर्वात्मना करता है तो उसके आनन्दमयकोश के परितः अहंकार तथा सूक्ष्मप्रकृति आदि बन्धन के हेतु सभी क्षीण होने लग जाते हैं। अन्य कोई साधन उसकी आत्मा को वैसा संस्कृत नहीं करते, जैसा सर्वोत्पादक, सोमस्वरूप परमात्मा। वैदिक ऋचाओं में परमात्मा की इस शक्ति का प्रतिपादन बहुत स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है।[1]

सम्प्रज्ञात समाधि की प्राथमिक स्थिति से ऊपर उठता हुआ उपासक जितना-जितना समाधि की उच्च स्थिति में पहुँचता जाता है उतनी ही आनन्द की मात्रा बढ़ती जाती है। विज्ञान में निरन्तर रुचि होती जाती है।

'जब देखनेवाला आत्मा ज्योतिःस्वरूप कर्त्ता-ईश्वर परमपुरुष को और ज्ञान के स्रोत को देखता है तब वह विद्वान् पाप के बन्धन को झाड़कर निर्मल हो भगवान् की परम समता को प्राप्त करता है।'[2] 'वह भगवान् सदा सत्य से, यथार्थज्ञान से, तप से तथा ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया जाता है। वह परमेश्वर शरीर के भीतर प्रकाशमय और शुद्ध है। उसको निर्दोष यतिजन देखते हैं।'[3]

आनन्दमयकोश की साधना का स्वरूप प्रकट करते हुए योगदर्शनकार पतञ्जलि ने अभ्यास तथा वैराग्य से निरुद्ध हुई चित्तवृत्तिवाले योगी की समाधि किस प्रकार की होती है, उसका एक सूत्र के द्वारा निरूपण किया है कि—'वितर्क,[4] विचार, आनन्द और अस्मिता से युक्त सम्प्रज्ञात समाधि होती है। वितर्क अर्थात् जिसमें चित्त के स्थिर करने में स्थूल का आश्रय लिया जाता है। वितर्कानुगत योग वह है जिसमें वितर्क

---

१. येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।—साम० १३०२; सोमः पुनानः कलशेषु सत्ता। आ ते रुचः पवमानस्य सोम०।—ऋग्० ९।९६।२३-२४

२. यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥—मुण्ड० ३।१।३

३. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
—मुण्ड० ३।१।५

४. वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।
—यो० १।१७; व्या० भा०

का आश्रय लेकर समाधि में यह विचारना कि इस जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, पुनः उसके द्वारा सृष्टिकर्ता परमेश्वर में चित्त को लगाना। सूक्ष्म वस्तुओं के विचार को, विचार कहा है। विचारानुगत वह योग है जिसमें चित्त और शरीर के सूक्ष्म अवयव तथा रजःकार्य से उत्पत्ति को असाध्य समझकर जगत्कर्ता की स्थिति में अपने को समाहित करना। चित्त के आलम्बन में अव्यक्तवस्तु=कारणप्रकृति का सहारा आनन्द है। आनन्दानुगत समाधि में पूर्वोक्त दोनों समाधियों से स्थूल-प्रकृति को जानकर, उन जड़ पदार्थों को स्थूलशरीर से आनन्द तथा सन्तोष होता है। चित्त के आलम्बन से एक अपने आत्मा की अस्मिता है। इसमें जीव केवल अपने स्वरूप को विचारता है।

इस प्रकार आनन्दमयकोश के स्वरूप को समझकर साधनों के प्रयोग द्वारा उपासक शनैः-शनैः अग्रिम समाधियों को प्राप्त कर लेता है, जिनका वर्णन योगाङ्गों में विशेषरूप से प्रतिपादित किया है।

आनन्दमयकोश की साधना का फल

संयमी योगी द्वारा आन्तरिक उपासना किए जाने का परिणाम ऋग्वेद में स्पष्ट किया गया है कि—'जब ज्ञानी पुरुषों द्वारा आध्यात्मिक वृत्तियों की सेना से प्रकाशस्वरूप परमात्मा की उपासना की जाती है, तब सर्वव्यापक, शान्तिदायक परमात्मा उपासकों के अन्तःकरणों में विराजमान होता है और प्रेमयुक्त सूक्ष्म धाराएँ, सदुपदेश से पवित्र करनेवाले संयमी योगी को प्राप्त होती हैं, जोकि गतिशील हैं।[1] इन आनन्द-धाराओं को कर्मों का जाननेवाला परमात्मा सर्वोपासनाओं के आधार एवं रक्षक, वरणीय पुरुष में प्रेमपूर्वक स्थापित करता है।[2]

ऋग्वेद-भाष्यकार पं० आर्यमुनि ने ऋग्वेदीय मन्त्रों में उपासना का फल निरूपण किया है कि 'उपासकगण उपासना के कारण सर्वकामनाओं की वर्षा करनेवाले ईश्वर के निकट ऋजुगामी, सात्त्विक, इन्द्रियगण को पाते हैं। दुःखनिवारक परमात्मा से सात्त्विक ज्ञान प्राप्त करते हैं।

---

१. प्र ते धारा अत्यण्वानि मेष्यः पुनानस्य संयतो यन्ति रंहयः।
यद् गोभिरिन्दो चम्वोः समज्यस आ सुवानः सोमकलशेषु सीदसि॥
—ऋग्० ९।८६।४७

२. पवस्वसोमक्रतुविन्नः उक्थ्योऽव्यो वारे परि धाव मधु प्रियम्।
—ऋग्० ९।८६।४८

जिसके लिए सामगान गाते हैं उस ईश्वर की कृपा से सुन्दर शरीर-रथ को पाते हैं।'[1]

उपासक उपासना से ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों की शुद्धता, कर्म-कुशलता, विवेकबुद्धि प्राप्त करते हैं।[2] इसी प्रकार आध्यात्मिक आनन्द के गुणों का गान वेदों में विपुल रूप से निरूपित है।[3]

आनन्द की मीमांसा करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् में उल्लेख किया है कि—'मनुष्य युवा ही नहीं श्रेष्ठ युवा हो, पठित हो, पुरुषार्थी और सुशिक्षित हो। यह सारी पृथिवी धन से पूर्ण उसकी हो जाये अर्थात् पृथिवी पर उसका आधिपत्य हो, यह एक मनुष्य-सम्बन्धी सुख है। ऐसे सौ मानुषी आनन्द के बराबर गन्धर्वों का एक आनन्द है। इसी उत्क्रम से देवगन्धर्व, पितर, ज्ञानदेव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मवेत्ता का आनन्द सर्वोपरि है।[4] वह आनन्द जो ब्रह्मसमाधिगत पुरुष में है और जो आनन्द आदित्यवर्ण भगवान् में है, वह एक है। यहाँ ब्रह्मज्ञानी की और ब्रह्म की आनन्दावस्था में समता है। यही आनन्द-मीमांसा याज्ञवल्क्य ऋषि ने राजा जनक को बताई है।[5] जो ज्ञानी आनन्दधाम ब्रह्म की महत्ता को उक्त प्रकार से जानता है वह इस लोक से मुक्त होकर अन्नमयकोश आदि पञ्चकोशों के आत्मा को प्राप्त कर लेता है एवं उसका देहाध्यास नष्ट हो जाता है।

पञ्चकोश विवेचन की उपयोगिता

शोधप्रबन्ध के पूर्वार्द्ध में पञ्चकोश का विवेचन करते हुए पृथक्-पृथक् उनकी उपयोगिताओं का निर्देश किया है। यही पञ्चकोश का विवेचन मोक्ष के साधनों में परिगणित है।

'सोम' डा० मुन्शीराम शर्मा एम० ए० डी० लिट् ने वैदिक सन्ध्या[6]

---

१. **ऋज्रमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे। रथं युक्तमसनाम सुषामणि॥**
—ऋग्० ८।२५।२२

२. **स्मदमीशू कशावन्ता विप्रा नविष्ठया मती।**—ऋग्० ८।२५।२४

३. द्रष्टव्य—ऋग्० ८।३२।२०-२१; ऋग्० ६।४७।१; साम० १३९२; १७२५; १७४९ इत्यादि।

४. **सैषाऽनन्दस्य मीमांसा भवति**—तैत्तिरीयो० ब्रह्म ८।१

५. द्रष्टव्य—बृहदा० ४।३।३३

६. द्रष्टव्य—वेद और पंचकोष [सविता मई, १९८०, अजमेर]

में भी पञ्चकोशों का अनुक्रम प्रदर्शित किया है। उनका कहना है कि सन्ध्या में सर्वप्रथम आचमन आता है। उसके पश्चात् अंगन्यास तथा मार्जन है, जिनका सीधा सम्बन्ध अन्नमयकोश के पवित्रीकरण के साथ है। वेद भी कहता है कि 'जो साधक अन्नमयकोश अर्थात् तनु को दमन द्वारा शुद्ध कर लेता है, वह इस पवित्रीकरण द्वारा मानो, प्रभु की सेवा-पूजा कर रहा है। वसुओं की दीप्ति उसी के लिए है। इसके पश्चात् प्राणायाम-क्रिया आती है जो प्राणमयकोश से सम्बन्ध रखती है। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान प्राणों की पाँच क्रियाएँ बाहर और भीतर दोनों ओर प्रभाव डालती हैं। प्राण के द्वारा अन्तरिक्ष की ऊर्जा शरीर के अन्दर जाती है और अपान द्वारा भीतर का मल बाहर निकल जाता है। वेद के शब्दों में—प्राण दक्ष तथा भेषज का लानेवाला है, तो अपान रप वा दोष को दूर करनेवाला है।[1] इस प्रकार प्राण और अपान दो अश्विनीकुमार हैं जिन्हें देवों का वैद्य कहा जाता है क्योंकि इन्हीं दोनों के द्वारा शरीर में देवों की दिव्यता प्रविष्ट होती है। समान प्राण खाए-पिए को एकरस बनाकर रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं वीर्य में परिणत करता रहता है। व्यान का कार्य रक्त को शरीर के सभी अंगों तक पहुँचाना है।[2] उदान हमें उठाता, ऊँचा करता, तथा मृत्यु के समय स्थूल शरीर से निकालकर ले जानेवाला है। उत्क्रमण वा स्वर-गमन में भी यही हमारा साथी बनता है।

प्राणायाम के पश्चात् सन्ध्या में 'मनसा परिक्रमा' का विधान है जिसका सम्बन्ध मनोमयकोश के साथ है। मनोमयकोश मनन और चिन्तन का क्षेत्र है। यदि वह पवित्र रहा तो मन दिव्य बनकर मनुष्य को सम्यक् ज्ञान की ओर ले जाएगा। इससे हम न तो कष्टों की विभीषिका से सन्त्रस्त होंगे और न सुदिन आने पर प्रभु का ही विस्मरण कर सकेंगे। वेद यही कहता है कि 'हम मन से अच्छी प्रकार जानें, भली-भाँति जानकर दिव्यमन से कभी वियुक्त न हों।[3]

---

१. यो अग्निं तन्वो३दमे देवं मर्तः सपर्यति। तस्मा इद् दीदयद् वसु॥
—ऋग्० ८।४४।१५

२. दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः।
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहियद्रपः॥—अथ० ४।१३।२३

३. सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
—अथ० ७।५२।२

यह दिव्य मन धी (बुद्धि) का जनक है। ऋग्वेद में इसकी शक्ति को बताया है कि 'मनुष्य विशुद्ध मन से संकलपरूपी अग्नि को प्रज्वलित करता हुआ, बुद्धि को भी चेतित अर्थात् प्रखर करे।'[1]

यदि हमारी मानसिक अग्नि प्रज्वलित हो गयी तो हम धी को, धारणात्मक प्रकाश को अवश्य प्राप्त कर लेंगे। प्रकाश की किरणें चतुर्दिक् विकीर्ण हो रही हैं, पर उन्हें हम प्राप्त कहाँ कर पाते हैं! अन्धकार के दास बने हुए, हम बहुधा किंकर्तव्यविमूढ़ता के आखेट ही सिद्ध होते हैं। मन की दिव्यता ही हमें इन प्रकाश-किरणों का सानिध्य, सामीप्य प्राप्त करा सकती है, अतः दिव्य मन द्वारा दिव्य धी में प्रवेश विज्ञानमयकोश का उद्घाटन करनेवाला है।

दिव्य मन और दिव्य धी दोनों ही प्रभु के उप (समीप) ले जानेवाले हैं। इसी की सन्ध्या में 'मनसा परिक्रमा' के पश्चात् 'उपस्थान' संज्ञा दी गयी है। इस उपस्थान में आप उत् से उत्तर तथा उत्तर से उत्तम ज्योति को प्राप्त करते हैं। उस जातवेदस् के साथी बनते हैं जिसके रथ की ध्वजाएँ चारों ओर फहरा रही हैं। यह जातवेदाः देवों का अद्भुत बल, प्रकाशों का प्रकाश, सबमें ओतप्रोत, दिव्यता की निधि और सबका प्रेरक तथा उत्पादक है। गायत्री मन्त्र इसी सविता देव के वरेण्यभर्ग का ध्यान और धारण करानेवाला है। इसी के सायुज्य में आनन्द है, यह आनन्दमयकोश का विषय है।

पञ्चकोश प्राकृत हैं। इन्हें 'ऋत के वितत तन्तु' भी कहा जा सकता है। ऋत और सत्य का ताना-बाना यह निखिल ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड का ही लघु संस्करण यह देहरूपी पिण्ड है जिसमें पाँच कोश हैं। अन्नमयकोश दिखाई देता है। प्राणमयकोश का पल-पल में अनुभव होता है। इनके अतिरिक्त भीतर के तीन कोश (मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय) दिखाई नहीं देते, सबके अनुभव के विषय भी वे नहीं बन पाते। पर जो साधक हैं, तपस्वी हैं, ज्ञानी हैं, कवि हैं, ऋषि हैं, वे उन्हें अनुभव भी करते हैं और परिष्कृत भी करते हैं। जिसने इन कोशों को शुद्ध, निर्मल और पवित्र बना लिया वह दुरित के पदों को अतिक्रान्त करता हुआ उस दैवी द्वार पर पहुँच जाता है जहाँ से इन कोशों के स्वामी, आत्मतत्त्व की बाँकी झाँकी दिखाई देती है।

---

१. अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।
अग्निमीधे विवस्वभिः॥—ऋग्० ८।१०२।२२

कोशों में विविधता है। अन्नमयकोश में भूतों के संघात के साथ इन्द्रियों के झरोखे हैं। प्राण के पाँच रूपों का उल्लेख पहले हो चुका है। मनोमयकोश में वितर्क, संकल्प, मनन, चिन्तन, संश्लेषण आदि की विविध क्रियाएँ चलती रहती हैं। विज्ञानमयकोश में धी, सरस्वती, मेधा, प्रज्ञा आदि के स्वर अनुभूत होते हैं। यह वैविध्य एकत्व को कैसे प्राप्त करे? वेद कहता है—'ऋत के इस बढ़े हुए रूप को विश्राम दो'[1] (असश्चतः) इसकी आसक्ति को छोड़ो। तुम्हें स्वरूप में अवस्थिति करनी है। ऋतवृत्तियों के वैविध्य से हटकर एकत्व की ओर उन्मुख हो जाओ। वृत्तिसारूप्य को छोड़ो। त्रिगुणात्मिका अहं की ग्रन्थि को समर्पित कर दो उसी देवाधिदेव के चरणों में जिसने इनके साथ तुम्हें जोड़ा है। पञ्चकोश और आवरण हैं। ये उत्तम, मध्यम, अधम पाश हैं जिनसे हम सब जकड़कर अपने को विस्मृत कर बैठे हैं। वृत्तियों के साथ हमारा सारूप्य हो गया है। हम इन्हीं को अपना रूप समझते हैं। यह समझ नासमझी है, अज्ञान है, अविद्या है।[2] इस अविद्या से हटकर ज्ञान में, विवेकख्याति में प्रवेश करें। वृत्तियों के साथ संयोग, पंचकोशों के साथ ममत्व तभी समाप्त होगा। विवेकख्याति ही इस हान वा समाप्ति का एकमात्र उपाय[3] है। तभी हम अपने स्वरूप में अवस्थित रह सकते हैं।

योगदर्शन जहाँ सत्त्व की शुद्धि कहता है वहाँ पुरुष की शुद्धि का भी उल्लेख करता है।[4] पुरुष वा आत्मा पञ्चकोशों के साथ एक होकर आत्मविस्मृतिरूप अशुद्धि में पड़ता है और सत्त्व अपनी दिव्यता के क्रमशः ह्रास के कारण अशुद्ध होता है। वेद इसी हेतु साधक को दैवी मन और दैवी बुद्धि बनाने का संकेत देता चलता है। दिव्यता ही सत्त्व की शुद्धि का कारण है। सत्त्व भी शुद्ध और पुरुष भी शुद्ध; दोनों की शुद्धि, समता कैवल्य की, मुक्ति की जननी है।

पञ्चकोश भोग और अपवर्ग के साधन हैं। भोग संचित कर्मों की पुण्यापुण्य सम्पदा को क्षीण करते हैं। वे ह्लाद और परिताप, दोनों के

---

१. वि श्रयन्ताम् ऋतावृधः।—ऋग्० १।१३।६; १।१४२।६
२. तस्यहेतुरविद्या।—यो० २।२४
३. तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्॥—यो० २।२५;
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः॥—यो० २।२६
४. सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।—यो० ३।५५

दाता हैं। अपवर्ग इन दोनों से ऊपर आनन्दमयी मुक्ति है। भोग में कोशों की उच्चावच, दिव्यादिव्य, दोनों स्थितियाँ रहती हैं। अपवर्ग दिव्यता का सर्वोच्च सोपान या धाम है। इसमें सत्त्व ही सत्त्व है। रजोगुण और तमोगुण का एकान्त अभाव है। पञ्चकोश जब शुद्ध, निर्मल और पावक बन जाते हैं तभी अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार शोधप्रबन्ध के पूर्वार्द्ध में पञ्चकोशों के निखिल अवयवों, निर्माणक्रम, परिशोधन की आवश्यकता तथा उनके साधनों का वैदिक संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में पूर्ण परिशीलन किया है। उत्तरार्द्ध में योगाङ्ग आदि अन्य तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

□

षष्ठ अध्याय

वेद में योगाङ्गों का स्वरूप

वेदों के परिशीलन से यह तथ्य प्रकट होता है कि पातञ्जल-योगदर्शन की भाँति योगाङ्गों का संकलित स्वरूप वेदों में प्रतिपादित नहीं किया गया है। अथर्ववेदीय मन्त्र में प्रयुक्त 'अष्टधा', 'अष्टायोगैः' पदों का अर्थ भाष्यकार क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने पातञ्जल-योग में निर्दिष्ट यम-नियम-आसन आदि अष्ट योगाङ्गों को ग्रहण किया[1] है एवं द्वितीय पस 'षड्योगैः' को द्विजवर्णों के षड्विध कर्मों का परिचायक माना है। अन्यत्र संहिताओं में योगाङ्गों के निश्चित संख्यावाची पदों का प्रयोग नहीं मिलता। योग-विद्या के गूढ़तम रहस्यों को उपमा, वाचकलुप्तोपमालंकार तथा अन्योक्ति के द्वारा उद्घाटित किया गया है।

परवर्तीकाल में योगाभ्यासियों ने योगपद्धतियों का मूल वैदिक संहिताओं में खोजने का प्रयास भी किया। उसी सरणी में वेद-विहित योगाङ्गों को महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि[2] इन अष्टांगों में सन्निविष्ट किया। योगतत्त्वोपनिषद्[3] ने अष्ट योगाङ्गों का ही परिगणन किया है, परन्तु ध्यानबिन्दूपनिषद् तथा अमृतनादोपनिषद् में

---

१. अष्टधा युक्तो वहति—अथ० १३।३।१९
इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः।
तेना ते तन्वो३रपोऽपाचीनमपव्यये।—अथ० ६।९१।१

२. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥
—यो० २।२९

३. पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुक्तम्॥—योगतत्त्वो०३

यम-नियम को छोड़कर शेष छह अङ्गों को स्वीकार किया है।[1]

ध्यानबिन्दूपनिषद् और विष्णुपुराण में षडङ्गों की गणना में नितान्त समता है, इसी तरह अमृतनादोपनिषद् तथा दक्षस्मृति में पारस्परिक समानता विद्यमान है। श्रुति एवं स्मृति की विभिन्नता में योगशास्त्रसम्मत अष्टाङ्गों का अनुशीलन वैदिक संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में यहाँ प्रस्तुत है। शब्दभेद से वर्णित योगाङ्गों का अन्तर्भाव इन्हीं अष्टाङ्गों में समझना चाहिए। विशेष अङ्गों का उल्लेख यथा-स्थान पर किया जाएगा।

यमों का निरूपण

उपरम अर्थवाली यम[2] धातु से अप्प्रत्ययान्त 'यमः' शब्द का अर्थ है 'उपरमण का साधन' अर्थात् 'जो हिंसादि निषिद्ध कर्मों से हटाने-वाले हैं, वे यम कहलाते हैं।[3] यम धातु का एक अर्थ नियमन भी है, जिसके अनुसार **'यम्यते, नियम्यते चित्तम् अनेन इति यमः'** ऐसा निर्वचन होगा। जिनसे चित्त का नियन्त्रण किया जाए'। कई ऋचाओं में भी नियमन-अर्थक 'यम' का प्रयोग हुआ है।[4] वेदों में पाँचों यमों का परिगणन किसी एक मन्त्र या सूक्त में एकत्रित नहीं मिलता, वरन् प्रकरणानुसार यमों के स्वरूपों का ज्ञान होता है। महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पाँच साधनों को यम[5]

---

१. आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥—ध्यानबिन्दू० ४१
प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तपश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥—अमृतनादो० ६

२. यम उपरमे [भ्वादि०] + अप् प्रत्ययः [अष्टा० ३।३।६३]

३. हिंसादिभ्यो निषिद्धकर्मभ्यो योगिनं यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः।
—यो० सुधा २।३०

४. शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि श्रवो देवभक्तं दधानाः।—ऋग्०१।७३।१०
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे॥
—ऋग्० १।८३।५
यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।—ऋग्० १।१६३।२
—यजु० २६।१३
यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैःसम्पिबते यमः।—ऋग्० १०।१३५।१

५. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।—यो० २।३०

की संज्ञा दी है। परवर्ती काल के योगविषयक साहित्य में यमों की मान्यता में भी विभेद पाया जाता है।

पाराशर संहिता में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति (धैर्य), दया, सरलता, मिताहार तथा पवित्रता इन दश[1] को यमों के अन्दर स्वीकारा है। भागवत में स्वल्प भेद से बारह यमों का उल्लेख किया गया है।[2] हम यहाँ योगाङ्गों के विभेद को महत्त्व न देकर वेदों में वर्णित पतञ्जलि-प्रोक्त अष्टाङ्गों का विवेचन करेंगे।

अहिंसा

मानव-जीवन के साथ ही दैवी और आसुरी वृत्तियों का संघर्ष सर्गारम्भ से चला आ रहा है। जीवन-संग्राम में आसुरी वृत्तियों के विजयी होने पर क्लेशों का समुद्र उमड़ पड़ता है और ये क्लेश मानव को काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेष, अहंकार आदि विविध रूपों में व्यथित करते हैं। इनके वशीभूत होकर मनुष्य जब अन्य प्राणियों को कष्ट देने के लिए सन्नद्ध होता है तो उस वृत्ति का ही नाम है 'हिंसा'। परन्तु साधक जब आसुरी वृत्तियों की प्रबल विरोधिनी सेनाओं के द्वारा दैवी वृत्तियों को विजयी बना लेता है तो दैवी वृत्तियों के विशाल साम्राज्य में सात्त्विकता, शान्ति, श्रद्धा, प्रेम, उत्साह आदि आध्यात्मिक सुखद राज्यों की स्वतः स्थापना हो जाती है। इन्हीं दैवी वृत्तियों की जननी एवं पोषिका वृत्ति का नाम है 'अहिंसा'।

आसुरी=हिंसात्मक वृत्तियाँ साधक को विविध कष्टों से दुःखित करने के साथ ही आध्यत्म-प्रसाद से वञ्चित रखती हैं, अतः श्रुति-भगवती साधक को कल्याण-भावना से शिक्षा देती है कि—'सोमस्वरूप परमेश्वर को चाहनेवाले साधको ! तुम किसी की हिंसा मत करो।[3] हिंसा न करने का हेतु बताते हुए आगे कहा, 'क्योंकि हिंसक वृत्तिवाला व्यक्ति मोक्षरूपी अनुपम सम्पदा को कदापि पा नहीं सकता।[4] इसके

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयाऽऽर्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥—पारा० सं०

२. अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम्॥ भाग० सं० ३३।२०।२३

३. मा स्रेधन्त सोमिनः।—ऋग्० ७।३२।९

४. न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।—साम० ८६८; ऋग्० ७।३२।२१

विपरीत जो अन्याय-अनीति से स्वार्थवश किसी की हिंसा नहीं करते, वही धर्मात्मा, शक्तिशाली होकर निर्भयता से विजय पाते हैं,[1] अतः वेद का सन्देश है कि—'योगाभिलाषी उपासक अहिंसा का पालन करें, अन्य राजपुरुष आदि उनकी रक्षा करते हुए अहिंसा-वृत्ति का आचरण करें'।[2]

हिंसा का निषेध

वेदों में हिंसा न करने तथा अहिंसा का परिपालन करने के विषय को अतिसूक्ष्मता एवं व्यापकता से प्रस्तुत किया गया है। साधना के लिए उद्यत साधक जब गम्भीरता से दृष्टिपात करता है तो उसे सारा प्राणि-जगत् हिंसा से परिपूर्ण, जीव जीव का घातक दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में जीव, जीव का भोजन बना हुआ है, सबल निर्बल को खा रहा है, पीड़ा दे रहा है, दुःखित कर रहा है। ये दुःखित करने की भावनाएँ गुण-कर्म तथा स्वभाव में आ चुकी हैं। इनसे मानव स्वयं दुःखी है और दूसरों को भी कष्ट देने के लिए तैयार रहता है। इस अवस्था में सुख कहाँ? साधक यह विचारकर सर्वप्रथम इन 'दुरितों' को दूर करने को प्रार्थनाएँ करता है कि—'हे सविता देव! हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को दूर कर दीजिए।[3] हे इन्द्र! हिंसा करानेवाले काम, क्रोध, द्वेषादि के अधीन हमें न होने दीजिए।'[4] द्वेष की भावना ही सब प्रकार की हिंसा की मूल है, इनके विनष्ट हुए बिना साधक आगे बढ़ नहीं सकता, इसलिए विनम्र हो पुनः निवेदन करता है—'प्रभो! आप सम्पूर्ण द्वेषयुक्त कर्मों को हमसे पृथक् कर दीजिए।'[5] हिंसा से पृथक् रहने की अवस्था तभी आती है जब मनुष्य हिंसा के के दुष्परिणामों को भली-भाँति जान लेता है। पहले अज्ञान, कुसंगवश दुष्कर्मों में फँस जाता है, पुनः उनसे छुटकारा पाना कठिन समझकर परमेश्वर से विनय करता है, साथ ही लोक में अपने से वरिष्ठ विद्वानों से प्रार्थना करता है कि 'विद्वान् पुरुषो! अत्याचार करनेवाले, दान न

---

१. तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे ॥—ऋग्० ७।३२।९

२. मा हिँसीः पुरुषं जगत्।—यजु० १६।३

३. विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।—ऋग्० ५।८२।५; यजु० ३०।३

४. मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परादाः।—साम० १८०६

५. विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्।—ऋग्० ४।१।४

देनेवाले तथा दुःख देनेवाले द्वेषभावों को हमसे दूर करके कल्याण का मार्ग प्रशस्त करो।'[1] हिंसा करना तो दूर रहा, वैदिकसाधक तो हिंसक का संसर्ग भी नहीं चाहता। उसकी सदा यह भावना रहती है कि 'जैसे विद्वान् लोग हिंसारहित मित्र के घर जाते रहते हैं उन्हीं का अनुसरण मैं करूँ।[2] द्वेष ही हिंसा का जनक है, द्वेषी व्यक्ति योगमार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता। अद्वेषी होना योगी की प्रथम पहचान है। वेद का दृढ़ सिद्धान्त है कि 'अद्वेषी ही परमात्मप्रसाद को पा सकता है,[3] अतः वेदों में द्वेषयुक्त कर्म न करने तथा द्वेष-त्याग की भावना से ओत-प्रोत अनेक ऋचा मिलती हैं।[4] ऐश्वर्याभिलाषी साधक! मोह, क्रोध, मत्सर, काम, मद एवं लोभ इन छह राक्षसी वृत्तियों को क्रमशः उल्लू, भेड़िया, कुत्ता, कोक=चकवा या कबूतर, गरुड़ और गिद्ध की दुर्वृत्तियोंवाला जानकर पत्थर से पीसने के समान समूल मसल दे।[5] अर्थात् आगे से, पीछे से, नीचे से, ऊपर से, सब ओर से ऐसे राक्षसी भावों को सर्वथा समाप्त कर दे।[6]

हिंसा से बचने के उपाय

वैदिक संहिताओं में हिंसा एवं अहिंसा विषय के विधि और निषेध-परक मन्त्र मिलते हैं। वेद के रहस्यमय गूढ़ तत्त्वों को विद्वान् योगी ही भली-भाँति हृदयंगम कर सकता है। वैदिक अहिंसा के मूल में सदा प्राणियों के अवैध व्याघात का अभाव, जन-कल्याण की भावना तथा ईश्वरीय न्याय-व्यवस्था विद्यमान है। वेद का संकेत है कि—'ऐसा

---

१. **अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।**
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये॥
—ऋग् १०।६३।१२

२. **यन्नूनमस्यायां गतिं मित्रस्य यायां पथा।**
अस्यप्रियस्य शर्मण्य हिंसानस्य सश्चिरे॥—ऋग्० ५।६४।३

३. **अद्वेषो हस्तयोर्दधे।**—ऋग्० १।२४।४

४. द्रष्टव्य—ऋग्० ५।८७।८; ६।१०।७

५. **उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।**
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृशदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥—ऋग्० ७।१०४।२२;
अथ० ८।४।२२

६. **प्रावतो अपाक्तो अधरादुदक्तो३भि जहि रक्षसः पर्वतेन।**—अथ० ८।४।१९

साधक, ईश्वर के सर्वोपकारक मार्ग से कभी पृथक् न हो। हिंसारहित श्रेष्ठकर्म योगयज्ञ का अनुष्ठान करता रहे तथा अपने अन्दर शत्रुता की भावनाओं को तथा दान न देने की भावनाओं को ठहरने न दे।[१]

राजा तथा राजपुरुषों का कर्तव्य है कि अहिंसा-व्रतसेवी योगी पुरुषों की सब प्रकार से रक्षा करें। यदि कोई नराधम उसे कष्ट दे, तो राजा उसे विविध कष्ट दे, संतप्त करे।[२] उससे प्रेम न करे।[३] उसकी अधोगति कर दे,[४] पुनरपि वह अपने स्वभाव को नहीं त्यागे तो देश से बाहर निकाल दे,[५] या मार दे।[६]

दण्डविधान हिंसा नहीं

वेद में जहाँ प्राणिमात्र को मित्र की[७] दृष्टि से देखने के बार-बार निर्देश दिये गये हैं वहाँ वेद[८] विद्वान्-द्वेषी, मांस-भक्षी, क्रूर प्रकृतिवाले, प्रत्येक कार्य में कुतर्क करनेवाले—कुकर्मी, एवं पाप की प्रशंसा करनेवालों को विशेष मन्युबल से सन्तप्त करने, बाण से बींध देने, बन्धन में डाल दण्ड देने तथा अङ्ग-भङ्ग करने या मार देने तक के आदेश मिलते हैं।[९] जो वीर-पुरुष क्रूर-हिंसकों को मारता है उसके लिए प्रतापी [शुक्रशोचिः],[१०] अमर, पवित्र, शुद्ध करनेवाला, स्तुति करनेयोग्य, अग्नि के समान तेजस्वी, मित्र, विप्र सखा आदि विशेषण का प्रयोग किया गया है। शत्रुनाशन-प्रसंग[११] में वेद के शब्दों में यदि कोई

---

१. मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः।—ऋग्० १०।५७।१

२. तपतं रक्ष उब्जतं।—अथ० ८।४।१

३. ब्रह्मद्विषे···द्वेषो धत्तम्।—अथ० ८।४।२

४. स वीरैर्दशभिर्वियूया।—अथ० ८।४।१५

५. भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः।—अथ० ८।४।२१

६. हन्ति रक्षो हन्त्यासद्।—अथ० ८।४।१३

७. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।—यजु० ३६।१८

८. ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने।—अथ० ८।४।२

९. द्रष्टव्य—अथ० ८।४।१-२५

१०. द्रष्टव्य—अथ० ८।३, २०, २२, २६ इत्यादि

११. यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥—अथ० १।१६।४

गौ, अश्व या प्रिय पुरुष को मारता है तो उसे सीसे की गोली से बींधने का विधान है। इस प्रकार हिंसकों के नाश का अन्यत्र[1] भी स्पष्ट विधान किया गया है। वस्तुतः आसुरी वृत्तियों से उत्पन्न हिंसक कर्मों के विनाश के लिए किया गया दण्ड-विधान अहिंसा के परमोत्तम सिद्धान्त की रक्षा के लिए ही है। इसीलिए दुष्ट-शत्रुनाशक पुरुषों को मित्र=सखा कहा गया है।

वेद की अहिंसा की रक्षिका हिंसा के सूक्ष्म रहस्य को न समझकर मध्य-वर्तीकाल में पशु-पक्षियों की हिंसा को वेदसम्मत मानने का प्रयास किया गया जिससे वेद के प्रति जनसाधारण को ग्लानि तक हो गयी, परन्तु वेद का स्पष्ट मत यही है कि अधार्मिक, पापवृत्तियों के जनक दुर्गुणों तथा घातक मनुष्यों का मानव-कल्याण के लिए अवश्य वध करना योग्य है, अर्थात् पापियों को दण्ड देना हिंसा नहीं; वेद में किया गया दण्ड-विधान अहिंसा की रक्षा के लिए है।[2]

अहिंसा-पालन के प्रकार

वैदिक उपासना के मार्ग पर अग्रसर उपासक विविध प्रकार से व्यवहार में अहिंसा का पालन करने को उद्यत रहता है। वह अहिंसा-सेवी अन्य उपासक बन्धुओं के साथ सूर्य-चन्द्रमा के समान सदैव कल्याण तथा अहिंसा के पथ पर चलने की कामना करता है।[3] अहिंसा के पालन का संकुचित क्षेत्र नहीं होना चाहिए। इसलिए वेद अहिंसा का पालन, मनुष्यमात्र में ही नहीं, प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखकर, करने को निर्देश करता है।[4] अहिंसाधर्म का पालन सत्यवक्ता, अहिंसासेवी विद्वान् के संसर्ग में ही हो सकता है,[5] अतः अहिंसा का

१. अथ० **दस्युनाशनम्** २।१४; **पिशाचक्षयणम्** ४।२०; **मन्युशमनम्** ६।४३; **यातुधाननाशनम्** १।७।८; **यातुधानक्षयणम्** ६।३२; **रक्षोघ्नम्** १।२८, १।५।२६; **क्रिमीजम्भनम्** २।३१।३२; ४।३७; **क्रिमीघ्न** ५।२३; **शत्रुशमन** ६।५४; ७।७०; ऋग्० ५।८७।८ इत्यादि

२. द्रष्टव्य—अथ० ८।३।१२, १३ तथा १९

३. **स्वस्ति पन्था मनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।**
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि॥—ऋग्० ५।५१।१५

४. **मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥**
यजु० ३६।१८

५. **सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तास ऊतये।**—ऋग्० ३।९।१

पालक ऐसे विद्वानों का अपने यहाँ आह्वान करता है ।[1]

अहिंसा का पालन किसी समयविशेष में करने से सिद्धि नहीं होती, इसलिए महर्षि दयानन्द सरस्वती मन्त्र के भावार्थ में स्पष्ट करते हैं कि 'जो[2] यम-नियमों से युक्त होकर कार्यसिद्धि के लिए दिन-रात प्रयत्न करते हैं वे उत्तम होते हैं ।' दैनिक व्यवहार में दिन-रात अहिंसा का पालन करते हुए साधक आत्मिक शक्ति=साहस को प्राप्त कर सकता है । अहिंसनीय[3] व्यवहारों में परमात्मा विशेष रूप से प्रोत्साहित करता है । वह परमात्मा[4] हिंसारहित योग-यज्ञों का सम्राट् है । वह अहिंसा से[5] परिपूर्ण स्तुति-प्रार्थना को ही स्वीकार करता है । साधक अहिंसा का पालन करते-करते जब अपनी इन्द्रियों को अहिंसा में अभ्यस्त बना लेता है, तब परमात्मप्राप्ति का मार्ग उसके लिए प्रशस्त हो जाता है । साधक इन्द्रियों की हिंसक [दाहक] अग्नि के संयम से प्रभु-प्रेम को प्राप्त करते हैं ।[6]

वेदों में प्रयुक्त अध्वरः,[7] अथवा,[8] अदभा,[9] अनेहस्,[10] अघ्नता,[11] अघ्न्या[12], तथा अदब्ध[13] आदि पद अहिंसा-पालन का स्पष्ट संकेत करते हैं ।

वेदों में अहिंसाविषयक पर्याप्त निरूपण होते हुए भी पाश्चात्य विद्वानों ने तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में

---

१. **देव्यावध्वर्यू आगतम् ।**—यजु० ३३।७३

२. **स्था ऊ षु ऊर्ध्व ऊती अरिषण्यन्नक्तोर्व्युष्टौ परितक्म्यायाम् ।**
—ऋग्० ६।२४।६

३. **अग्निं वो वृधन्त मध्वराणां पुरूतमम् ।**—ऋग्० ८।१०२।७

४. **सम्राजन्तमध्वराणाम् ।**—साम० १७

५. **स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे ।**—साम०३२

६. **यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ।**—साम० ३८

७. यजु० २।८; १५।३८; **ध्वरति हिंसा कर्मा तत्प्रतिषेधो निपातः ।**—निरु० १।७

८. ऋग्० १।८०।१६; १।८३।५; यजु० ८।५६; १६।५० इत्यादि

९. ऋग्० ५।८६।५

१०. ऋग्० १।१८५।३; ६।५०।३; ६।७५।१०; यजु० २६।४७

११. ऋग्० ५।५१।१५; ७।२०।८

१२. ऋग्०१।१६४।२७; अथ० ३।३०।१; यजु० १।१; **अघ्न्या अहन्तव्या भवति**

१३. ऋग्० १।२४।१३; १।७६।२; ४।४।३; ५।१६।४; ३।५४।१६ आदि
—निरु०११।४३।३

यह मत प्रकट किया कि 'भारत में आर्य लोग गोमांस-भक्षण करते थे।'

मैक्डानल और कीथ अपनी पुस्तक 'वैदिक इण्डेक्स' में लिखते हैं कि "वैदिक काल के भारतीयों का मांस के सम्बन्ध में भोजन का पता उन जानवरों की सूची से चलता है, जो यज्ञ में मारे जाते थे। जो मनुष्य खाते हैं वही देवताओं को बलि देते हैं, भैंस, भेड़, बकरी और बैल।' पुस्तक में दूसरे स्थान पर लिखा है कि वैदिक काल में मांस सर्वसाधारण का भोजन था।"[1]

वेद पर लगाये गये, इस प्रकार के अनेकों आरोपों के मुख्य कारण हैं—वेदों को प्रकरणशः समझने की योग्यता का अभाव; स्वयं वेदों को न पढ़कर अन्यों के भाष्यों पर विश्वास करना तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद की निन्दा कर भारतीयों को वैदिक धर्म के प्रति ग्लानि उत्पन्न करने की व्यापक योजना। अहिंसा के विरुद्ध लिखनेवाले इन विद्वानों का कई वैदिक विद्वानों ने युक्ति एवं प्रमाणपूर्वक निराकरण किया है।[2] अधिक जानकारी उन ग्रन्थों से की जा सकती है; यहाँ विषयान्तर-भय से संकेत मात्र अभीष्ट है।

इस प्रसंग में इतना अवश्य विचारणीय है कि—'जब वेदों में सर्व-साधारण के लिए सामान्य रूप से अहिंसा लिखी है, पुनः हिंसा के लिए वेदों को समर्थक मानना नितान्त अज्ञता एवं धृष्टता है। इस प्रकार जब जनसाधारण[3] के लिए वेद अहिंसाव्रत के पालन का विधान करता है तो सात्त्विक गुणाभिलाषी साधक के लिए हिंसा का प्रश्न ही नहीं होता। वेद सर्वथा अहिंसा का पक्षधर है। ऋग्वेद के मन्त्रानुसार[3] डॉ० केंघे ने अहिंसा को मित्र देवता का गुण माना है।

अहिंसा के भेद

वैदिक संहिताओं में अहिंसा अथवा हिंसा के अनेक स्वरूप हैं, उनको

---

१. 'The usual food of Vedic Indians, as far as flesh was concerned, can be gathered from the list of sacrificial victims, what man ate, he offered to gods i.e. sheep, goat and ox.'

Vedic Index (P.147, Vo 1 2) by—Macdonell & Kieth.

२. वेदश्रमी रामशरण 'वेद में पशुहिंसा विषयक पाश्चात्य वि०'—समालो०

—वेदवाणी, पृ० ४६।

३. यजु० १।१; १२।३२; ४२।४४, ४८; १३।५०; १६।३; अथ० ११।२।१

प्रमुख रूप से बाह्य तथा आभ्यन्तर दो भेदों में विभक्त कर सकते हैं कि—शारीरिक अङ्गों से हिंसा न करना बाह्य अहिंसा एवं आन्तरिक साधन वाणी तथा मानसिक विचारों से कटुभाषण या विद्वेष न करना आभ्यन्तर अहिंसा है। वेदों में मन, वाणी एवं शरीर तीनों से ही अहिंसा-पालन के निर्देश मिलते हैं। संक्षेप से यहाँ अनुशीलन किया गया है।

मानसिक अहिंसाः—मननात्मक शक्ति,[1] बुद्धि के विकृत होने पर तामसिक गुण की अधिकता से मनुष्य हिंसा में प्रवृत्त होता है और शस्त्राघात या अन्य साधनों से मनुष्यों तथा पशुओं को नष्ट करना चाहता है। ऐसे अनिष्ट चिन्तक को श्रुति में 'दुर्मतिः'[2] 'दुर्हार्दः'[3] अर्थात् 'दुष्टमतिवाला', 'दुष्ट हृदयवाला', दुरात्मा कहा गया है। इसी प्रकार ज्ञान के द्वेषी को 'ब्रह्मद्विषः[4]' एवं द्रोही के लिए 'द्रुहः[5]' पद का प्रयोग है। इन शब्दों का सम्बन्ध मानसिक हिंसा से है। मानसिक हिंसा में संलग्न मनुष्य निश्चिन्त, शान्त नहीं रह सकता इसीलिए उपासक वेद के शब्दों में प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभु ! सुमनस्कता और दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हम सदैव विद्वानों की संगति करते रहें।'[6] विद्वानों का कर्तव्य है कि वे अहिंसा से पूर्ण कार्यों की रक्षा करें एवं परस्पर प्रीति बढ़ाकर अहिंसा-धर्म की वृद्धि करें।'[7] विद्वानों के लिए वेद का आदेश है कि 'विद्वान् ऐसी बुद्धि को उत्पन्न करें जिससे समाज में बल की वृद्धि तथा योग-कर्मों में प्रगति हो सके।'[8] अहिंसा-व्रत के पालन से साधक मोक्षमार्ग का पथिक तभी बन सकता है जब वह योगाभ्यास के द्वारा प्राणिमात्र में परमात्मा की अनुभूति करता है एवं परमात्मा में ही सब जड़-चेतनादि को समझता है। ऐसे सम्यक् दर्शन से उसे किसी

१. **यत्र विजायते यमिन्युपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥**

—अथ० ३।२८।१

२. **रिष्टं न यामन्नप भूतु दुर्मतिर्विश्वाप भूतु दुर्मतिः ।**—ऋग्० १।१३१।७

३. **दुर्हार्दः=दुष्टात्मा**—अथ० १४।२।२९; [सं० विधि गृहा० प्र० पृ २१९]

४. ऋग्० २।२३।४

५. ऋग्० १।१२१।४; १।१३३।१

६. **यजामहे सौमनसाय देवान् ।**—ऋग्० १।७६।२

७. **सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वंकृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम् ।**—ऋग्० ३।८।८

८. **राया हिरण्यया मतिरियमवृकाय शवसे । इयं विप्रा मेधसातये ॥**

—ऋग्० ७।६६।८

प्रकार का सन्देह नहीं रहता। वह सुख-दुःख, हानि-लाभ में अपने आत्मा के समान सब प्राणियों को देखता हुआ धार्मिक वृत्ति से मोक्ष को प्राप्त होता है।[१] मानसिक अहिंसा का पालन सर्वोपरि कठिन है, अतः वैदिक साधनासेवी अहिंसा के अनुकूल व्यवहार करे, इसका पालन बड़ी गम्भीरता से करे।[२]

वाचिक अहिंसा—जो व्यक्ति कठोर भाषण के द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं या वाणी द्वारा द्रोह प्रकट करते हैं, वेद में उन्हें 'द्रोघवाचः'[3] कहा गया है। इसे हम वाचिक हिंसा कह सकते हैं। 'जो असत्य वचनों से दूसरों को धमकाता, झिड़कता है[४] और अहिंसक को हिंसक कहता है, अपने को सत्यवादी एवं धर्मात्मा सिद्ध करता है, सर्वज्ञ परमात्मा उसकी आत्मा को निर्बल करता है, असत्य बोलकर या गाली देनेवालों के लिए प्रजारक्षक राजा दण्ड-विधान करे। वाचिक-अहिंसा के साधक को आवश्यक है कि—स्तुति करनेवाली, उपदेश द्वारा ज्ञान प्रदान करनेवाली तथा इडा, सरस्वती और मही तीन अहिंसनीय वाणियों को सदा प्राप्त करे।[५]

अहिंसाव्रत के पालक ऐसा संयम करें जिससे दिव्यगुणयुक्त महात्माओं के सम्मुख प्रतिज्ञापूर्वक घोषणा कर सकें कि—'भगवन्! न तो हम हिंसा करते, न घात-पात करते हैं, न ही वाग्व्यवहार से परस्पर विरोध करते हैं, मन्त्र के अनुसार आचरण करते हुए, तिनकों के समान तुच्छ निर्बल साथियों के साथ भी एकमत होकर, मिलकर वेगपूर्वक कार्य करते हैं।'[६] उपासना-काल में किसी की हिंसा करनेवाली प्रार्थना

१. **यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।**
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥—यजु० ४०।६

२. **अरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम।**—ऋग्० ४।५७।३

३. **द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम्।**—अथ० ८।४।१४; सातवलेकर—अथ० स्वा० ८।४।८

४. **यो मायातुं यातुधानेत्याह।**—अथ० ८।४।१६; **यो मा पाकेन मनसा चरन्तम्** अथ० ८।४।८

५. **इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥**
—ऋग्० १।१३।९

६. **नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि।**
पक्षेभिरपि कक्षेभिरत्राभि सं रभामहे॥—ऋग्० १०।१३४।७
—साम० १७६

भी न करे। परमेश्वर के समीप उपस्थित होकर उन्हीं अहिंसाजनक स्तुति-प्रार्थना तथा क्रियाओं द्वारा व्रत-पालन का संकल्प ले जो सत्य सिद्ध हों।[1]

उपासक परिवार में रहकर किस प्रकार वाचिक-अहिंसा का आचरण करें, इसका सुन्दर परिशीलन अथर्ववेद में किया गया है।

सर्वप्रथम पति-पत्नी पारस्परिक सम्भाषण में मधुसदृश मधुर और शान्तिदायक वाणी बोलें।[2] पुत्र माता-पिता के साथ अनुकूल मनवाले होकर वर्तनेवाले हों। भाई-भाई आपस में द्वेष न करें, बहिन-बहिन आपस में द्वेष न करें।[3] इसी प्रकार बहिन-भाई भी अहिंसाव्रत के पालक होकर सदैव मीठी एवं कल्याणकारिणी वाणी बोलें। जिस प्रकार विद्वान् योगी पुरुष आपस में विद्वेष नहीं करते, उसी प्रकार घर के सभी सदस्यों का प्रेम-पूर्ण व्यवहार हो।[4] सभी अपने से बड़ों का आदर करें, एकमन होकर रहें, कभी पृथक् न हों, मिलकर संसिद्धि का यत्न करें, एक आधार बनाकर आचरण करें, एक-दूसरे के प्रति सरल, मीठा, प्रेमपूर्वक बोलें। इस तरह साथ-साथ उद्योग करनेवालों को परमात्मा एकमनवाले तथा समनस्कता से युक्त करता है।[5]

शारीरिक अहिंसा—जो मन और वाणी से हिंसा के भाव निकाल देगा वह शारीरिक हिंसा नहीं कर सकता। वेदों में मन-वाणी से अहिंसाव्रत के साथ ही शारीरिक अहिंसा-पालन के विशेष निर्देश उपलब्ध होते हैं। ईर्ष्या-द्वेष, लोभ आदि के वशीभूत हो किसी को शारीरिक कष्ट देना, अङ्ग-भङ्ग करना या प्राणहरण कर लेना शारीरिक हिंसा का क्षेत्र है, इसके त्याग को शारीरिक अहिंसा कहा गया है।

---

१. अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याहिंसन्तीरुपस्पृशः।—ऋग्० १०।२२।१३

२. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥—अथ० ३।३०।२

३. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥—अथ० ३।३०।३

४. येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।—अथ० ३।३०।४

५. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो...वः संमनसस्कृणोमि।—अथ० ३।३०।५

शारीरिक हिंसकों के लिए वेदमन्त्रों में 'अत्रिणः,[1] 'रिपुः,[2] रिषः,[3] एवं हस्तघ्नः[4] आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। ऐसे शारीरिक हिंसकों को दण्ड देने तथा शरीर से दुर्बल कर देने का विधान वेदों में किया गया है। शारीरिक अहिंसा-व्रत की पालना के लिए शारीरिक हिंसा का निषेध किया है कि प्रजाओं को शरीर के द्वारा कोई न मारे।[5] साधक स्वयं शारीरिक कष्ट नहीं देता, वरन् कष्ट देनेवालों के प्रति प्रभु से प्रार्थना करता है कि—हे परमेश्वर! ये सभी हिंसक मनुष्य हमारे शत्रु बनकर वैर-भाव न रखें तथा हमारे शरीरों का नाश न करें।[6] अपितु हम परस्पर मैत्री का व्यवहार करते रहें। अहिंसा दोनों पक्षों से स्थिर होती है। वेद का स्पष्ट आदेश है कि साधक न कभी दूसरों से हिंसित हो, न स्वयं दूसरों की हिंसा करे, किसी स्थानविशेष पर भी हिंसा न करे। अहिंसा के कार्यों में ही विद्वानों का सहयोग माँगे।[7]

उक्त परिशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साधना में शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक तीनों प्रकार की अहिंसायुक्त क्रियाओं की आवश्यकता है।

अहिंसापूर्वक धन-संचय

साधक जीविकोपार्जन के लिए जो भी कार्य करता है उनमें हिंसा का आश्रय लेकर, दूसरों को कष्ट पहुँचाकर, झूठी प्रशंसा से या छल-कपट से धोखा देकर धनसंचय करता है, तो वह धन मोक्षधन की प्राप्ति

---

१. हतं नुदेथां नि शिशीतमत्त्रिणः।—अथ० ८।४।१; —ऋग्० १।२१।५; १।३६।१४

रक्षांसि वै पाप्मात्रिणः।—ऐत० ब्रा० २।२

२. ऋग्० १।३६।१६; अथ० ८।४।१०

३. रिषः=हिंसकाः ऋग्०—६।६३।२—यजु० १८।७३;
रिषे रेषणाय—निरु० १०।४५

४. हस्तघ्नः—यो हस्ताभ्यां हन्ति सः—यजु० २९।५१;
हस्ते हन्यते—निरु० ६।१४

५. मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः।—यजु० १२।३२

६. मा नो मर्त्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः। ईशानो यवया वधम्॥
—ऋग्० १।५।१०

७. माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं सं शारि केवटे। —ऋग्० ६।५४।७

नहीं कराता। हिंसा से प्राप्त सांसारिक धन, राज्य-श्री और उत्तम सामर्थ्य प्राप्त नहीं करा सकता,[1] अतः साधक परमेश्वर से याचना करता है कि मुझे तो वह धन प्राप्त कराइए जिससे मैं भवसागर से पार जा सकूँ और आपके दिव्य स्वरूप में विद्यमान अनासक्ति, परोपकार तथा मोक्षधन को प्राप्त कर सकूँ। उसे पता है कि अहिंसक ही उत्तम धन और पुत्रों को प्राप्त करता है।[2]

नचिकेता तथा मैत्रेयी ने इन सांसारिक धनों को नश्वर समझकर अविनश्वर मोक्षधन की कामना की थी। नारद को समझाते हुए सनत्कुमार ने इस परमधन को 'भूमा' कहा है।[3] वहाँ स्पष्ट किया है कि "गाय, अश्व, हस्ति, सुवर्ण, दास, भार्या, भूमि और घर भूमा नहीं हैं, आत्मप्रतिष्ठ ब्रह्म ही 'भूमा' है। वही सुख का आधार है" अतः सुख चाहनेवाला उपासक अहिंसा से उपार्जित वित्त पर सन्तोष करे।

सार्वभौम अहिंसा

वैदिक संहिताओं में अहिंसा की शिक्षा ग्रहण करने का क्षेत्र विशाल है। चेतनमात्र से अहिंसा-जन्य सुख-शान्ति की कामना के साथ-साथ प्रकृतिस्थ अग्नि, जल, वायु, पृथिवी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत्, पर्वत, समुद्र, मेघ, दिशा, दिन, रात, ऋतु, क्षेत्र, अन्नादि ओषधि, वनस्पति, मन, बुद्धि, प्राण आदि से सुख तथा शान्ति की कामना की गई है।[4] यह तभी सम्भव है जब साधक परमाणु से लेकर परमात्मा तक के सूक्ष्म तथा महान् तत्त्वों का ज्ञान वेदशास्त्रादि के अध्ययन से

---

१. **न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।**

—साम० ८६८; ऋग्० ७।३२।२१

२. **स रत्नं मर्त्यो वसु विश्वं तोकमुत त्मना। अच्छा गच्छत्यस्तृतः॥**

—ऋग्० १।४१।६

३. **यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्।**
यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमा।
गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यां क्षेत्र...।

—छान्दो० ७।२३-२५

४. द्रष्टव्य—**शान्तिकरणम्**—सं० विधिः

—ऋग्० ७।३५।१-१३; अथ० ३।२२; ऋग्० १।१४१।५ इत्यादिः

प्राप्त करे। साधक प्रकृति के पदार्थों, मनुष्यों, गौ आदि पशुओं सभी से सुख एवं अहिंसा की कामना करता है। विज्ञ साधक इस ज्ञान से सम्पन्न हो विचारता है कि प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व अहिंसक होकर परोपकार में तल्लीन है, पुनः मैं भी क्यों न इनसे शिक्षा ग्रहण कर अहिंसाव्रत का परिपालन करूँ—मैं किसी प्राणिविशेष को, किसी स्थानविशेष में तथा कालविशेष में क्यों मारूँ? ये तो मेरे लिए हितकारी हैं। प्रजापति की प्रजा हैं, जब मैं इन्हें जीवनदान नहीं दे सकता तो इन्हें विनष्ट करने का भी तो मुझे अधिकार नहीं, अतः सर्वथैव अहिंसा पालनीय है।

योगदर्शन में सार्वभौम अहिंसा-पालन के लिए कहा है कि "जाति अर्थात् मछली ही मारूँगा, ब्राह्मणों को नहीं मारूँगा, इसी प्रकार तीर्थविशेष पर चतुर्दशी के दिन हत्या नहीं करूँगा अथवा देवताओं के निमित्त ही हत्या करूँगा।' इस पक्षपात को छोड़कर ऐसी प्रतिज्ञा करना कि मैं कभी, किसी प्रयोजन के लिए किसी की हिंसा नहीं करूँगा, ऐसे ही सत्य बोलने तथा चोरी न करने के प्रण को "सार्वभौम महाव्रत' कहते हैं।"[1]

अहिंसा का फल

सामवेदीय ऋचा में कहा है कि 'अहिंसनीय योगयज्ञ के द्वारा भक्तिरस का पान करता हुआ साधक, विश्वबन्धुत्व की भावना को प्राप्त कर लेता है।'[2] उसे ब्रह्माण्ड में किसी से भय नहीं रहता। साधक वेद के शब्दों में प्रार्थना करता है कि अन्तरिक्ष से, द्युलोक से, पृथिवी-लोक से, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे से हमें अभय प्राप्त हो। उसकी कामना होती है कि हमें मित्र से, शत्रु से, परिचित से, अपरिचित से, रात में और दिन में अभय प्राप्त हो, सारी दिशाएँ मेरी मित्र बन जाएँ।[3] साधक अभय-प्राप्ति की कामना करता हुआ जब अहिंसा-व्रत को सिद्ध कर लेता है तो शचीपति परमात्मा उसे आगे-पीछे से शत्रुओं

१. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

—यो० २।३१ व्या० भा०

२. अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति। हिन्वान आप्यं बृहत्।

—साम० ५०८

३. अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयम्।—अथ० १९।१५।५-६

से अभय कर देता है।[1]

अहिंसासिद्ध साधक के लोक-परलोक दोनों कल्याणकारी हो जाते हैं। अहिंसाव्रती ही धर्मपूर्वक राज्य करते हैं। उत्तम सद्गृहस्थ भी जीवन को क्रोधरहित होकर, अहिंसासेवी होकर भोग सकता है।[2] अहिंसा-व्रत के आधार पर ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों को प्राप्त किया जा सकता है।[3] परमात्मा का यह व्रत है कि—वह हिंसा-रहित को ही प्रथम अङ्गीकार करता है।[4] अन्य पुरुषों द्वारा भी वही सत्कार के योग्य है। योगदर्शन में कहा है कि अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उपासक के पास रहनेवाले सब प्राणियों का पारस्परिक वैरभाव समाप्त हो जाता है।

अवशिष्ट योगाङ्गों की आधारशिला अहिंसा है, इसका परिपालन अपरिहार्य एवं सर्वप्राथमिक है। इसी हेतु महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है। वस्तुतः सत्यादि[5] यम तथा नियमों का अनुष्ठान अहिंसा की सिद्धि के लिए होता है। यदि कोई असत्यभाषण, चौर-कर्म, व्यभिचार आदि करता है तो मानो वह हिंसा करता है और यदि सत्यादि का दृढ़ता से अनुष्ठान करता है तो समझो वह अहिंसा व्रत का ही पालन कर रहा है। इस प्रकार अहिंसा का अन्य यम-नियमों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिनका परिशीलन अग्रिम पृष्ठों में करेंगे।

सत्य

निखिल ब्रह्माण्ड की स्थिति ऋत=सत्यरूप नियमों पर अवलम्बित है। नियति के ये नियम अपरिवर्तनीय व अटल हैं; जो इनका उल्लंघन करने का प्रयास करता है वह हिंसा, कष्ट एवं विनाश का द्वार उद्घाटित करता है। हिंसा के इस विकराल रूप से बचने के लिए

---

१. **असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयं कृतम्।**—अथ० १९।१६।१

२. **उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये।**

—साम० १३५३, द्रष्टव्य टिप्पणी

३. द्रष्टव्य—ऋग्० ७।६०।११ भावार्थः

४. **ता वृधन्तावनु द्यून्मर्त्ताय देवावदभा।**—ऋग्० ५।८६।५

५. **उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते।**—यो० २।३०, व्या० भा०

साधना-क्षेत्र में द्वितीय साधन है 'सत्य'। वैदिक वाङ्मय में सत्य का क्षेत्र अतिगहन एवं व्यापक है। अहिंसा के सदृश सत्याचरण भी मन, वचन तथा कर्म तीनों प्रकार से पालनीय है।

सत्य का लक्षण

जैसा ज्ञान आत्मा में वर्तमान है, वैसा मन में तथा जैसा मन में है वैसा वाणी से कहना सत्य है—यथार्थ है।[1] जब कभी सत्यासत्य के निर्णय में विवाद हो जाए, दोनों पक्ष अपने को सत्य कहते हुए स्पर्धा करते हों, तब वेद इसमें सत्य की पहचान बताता है कि सत्य वह है जिसे विद्वान् सहज में ही समझ लें। सत्य सीधे-सरल स्वभाव से कहा जाता है। यदि तत्काल सत्यासत्य का निर्णय न हो सके तो परिणाम से निर्णय हो जाता है—अर्थात् सत्य की सोम=परमात्मा रक्षा करता है और असत्य का विनाश कर देता है।[2]

सत्य का लक्षण व्यासमुनि ने वेदानुसार ही प्रतिपादित किया है कि—"अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होना सत्य है, अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो, जैसा सुना हो, वैसा वाणी से कथन करना और मन में धारण करना। दूसरे पुरुष को अपने ज्ञान के अनुसार ज्ञान कराने में कही हुई वाणी, वह यदि धोखा देनेवाली, भ्रान्ति करनेवाली या उलटा बन्धन करनेवाली न हो तो सत्य है; ऐसी सत्य वाणी जो सब भूतों के उपकार के लिए प्रवृत्त हुई हो, नाश के लिए नहीं। यदि इस प्रकार कही गई वाणी प्राणियों का नाश करनेवाली हो, तो वह सत्य नहीं, वह तो पाप ही है।"[3]

सत्य का लौकिक परिणाम यही है कि "जिससे लोकों अथवा प्राणियों का अत्यधिक हित होता है, वही सत्य का परिणाम है।"[4] वैदिक संहिताओं में 'सत्य' का विस्तार इससे भी कहीं अधिक है। यथा—"जो

---

१. यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा।

—ऋग्० ५।४४।६

२. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

—ऋग्० ७।१०४।१२

३. सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे···पापमेव भवेत्।—यो० व्या० भा० २।३०

४. यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यम्।—महाभा० शां० प०

सत्पुरुषों के लिए हितकारी, साधु अथवा जीवरूप से अनादि सत्य है जिसका व्यभिचार न किया जा सके, सत्स्वरूप वेदों तथा पुरुषों का पालक, तीनों कालों में जिसका बाध न किया जा सके, नाश-रहित सत्य-व्यवहारों में जो साधु हो और वेदविद्या से, प्रत्यक्षादि प्रमाणों तथा सृष्टिक्रम से, विद्वानों के संग से, सुविचार अथवा आत्मशुद्धि से निर्भ्रम, सर्वहितकारी, तत्त्वनिहित, सत्प्रभव तथा जो भलीभाँति परीक्षा करके निश्चित किया जाए, वह सत्य है।" इसके अतिरिक्त व्रत, सिद्ध, जल, नित्यकारण, सत्य बोलने और बुलवाने आदि अर्थों में भी महर्षि दयानन्द ने सत्य का अर्थ किया है।[1]

आरण्यक तथा ब्राह्मणग्रन्थों में आदित्य, आपः, शुक्र, हिरण्य, प्राण, चक्षु, पृथिवी, धर्म, नाम-रूप इत्यादि को सत्य का वाचक माना गया है।[2] सत्य ही सुकृत् का लोक है।[3] देव सत्य हैं, मनुष्य अनृत हैं।[4] सब देवों का देव ब्रह्म भी सत्य है।[5] वाणी के लिए सत्य ही ब्रह्म है।

ऋत तथा सत्य का भेद

सत्य के लिए वेद में 'ऋत' शब्द का भी प्रयोग बहुत बार आया है। यह ऋत शब्द सत्य का ही वाची[6] है तथापि 'ऋत' का सम्बन्ध सत्यज्ञान तथा ईश्वरीय—प्राकृतिक अटल[7] नियमों से है जबकि सत्य का

१. द्रष्टव्य—**वेदार्ष कोश**—तृतीयो भागः [सत्यः], पृ० सं० २२५

२. (अ) **असावादित्यः सत्यम्।**—तै० आ० २।१।११।१; (ब) **तदापो हि वै सत्यम्।**—श० ७।४।१।१; (स) **सत्यं वै शुक्रम्।**—शत० ३।६।३।२५; (द) **सत्यं वै हिरण्यम्।**—गो० उ० ३।१७; (य) **प्राणाः वै सत्यम्।**—शत० १४।५।१।२३; (र) **चक्षुर्वै सत्यम्।**—तै० आ० ३।३।५।२; (ल) **इयं पृथिवी एव सत्यम्।**—श० ७।४।१।८; (व) **यो वै स धर्मः सत्यं वैतत् तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति।**—श० १४।४।२।२६; (श) **नामरूपे सत्यम्।**—शत० १४।४।३

३. **सत्यं वै सुकृतस्य लोकः।**—तै० आ० ३।३।६।११; [द्रष्टव्य—**वै० को०**, पृ० २२६]

४. **सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः।**—श० १।१।१।४; ३।३।२।२

५. **सत्यं ब्रह्म।**—श० १४।८।५।१; **तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म।**—श० २।१।४।१०

६. **ऋतम् सत्यनाम।**—निघ० ३।१०; **सत्यं वा ऋतम्।**—श० ७।३।१०।२३; १४।३।१।१८; तै० आ० ३।८।३।४; यजु० १२।१४

७. अथ० १२।१।१; १४।१।१ **क्षे० भाष्यम्**; ऋग्० १०।१९०।१ **वैद्यनाथकृतं भाष्यम्।**

अभिप्राय सत्याचरण अथवा व्यवहार-जगत् से अधिक सम्बद्ध है, इस प्रकार इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। ऋत अपरिवर्तनीय है, यथा—उपादान कारण से सृष्टि का बनना, पूर्व दिशा से सूर्योदय, अग्नि का धर्म ताप एवं प्रकाश तथा मानव-शरीर की ज्ञानेन्द्रियों के कार्य—यथा आँखों से देखना, कानों से सुनना इत्यादि। ऋत के निश्चित नियमों को बदला नहीं जा सकता। इन सृष्टिगत नियमों का यदि कोई उल्लंघन करता है तो वह पाप करता है। ऋत का चिन्तन पापों को मारता है, अतः ऋत की महिमा महान् है।[1]

ऋत और सत्य दोनों ही सृष्टि के प्राथमिक तत्त्व हैं।[2] बृहत् सत्य तथा उग्र ऋत दोनों ही पृथिवी को धारण किये हुए हैं।[3] अपनी स्थिति में पृथिवी,[4] सूर्य, द्यौः, चन्द्रमा सब ऋत=सत्य के आधार पर स्थित हैं। ऋत, सत्य की महिमा को देखकर ही प्रजापति ने सत्य और अनृत को व्यवहृत किया है।[5]

ऋत और सत्य की अभिव्याप्त महिमा को अनुभव कर योगाङ्गों का अनुष्ठान करने के लिए तत्पर साधक प्रतिज्ञा करता है कि—"हे व्रतों के पालक परमात्मन्! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि के लिए मैं सत्यभाषण आदि व्रतों का पालन करूँगा। मिथ्याभाषण, मिथ्याचरण तथा मिथ्या बात मानने से पृथक् होकर जो वेदविद्या, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों, सृष्टिक्रम, विद्वानों का संग, श्रेष्ठ विचार और आत्मशुद्धि के द्वारा भ्रान्ति से रहित, सबका हितकारक, सत्प्रभव और परीक्षा से निश्चित किया हुआ है, उसका पालन करूँगा।"[6] इस सत्यव्रतपालन के लिए अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा इन्द्र परमेश्वर को साक्षी मानता हूँ।[7]

मानसिक सत्य—अहिंसा की तरह सत्य भी तीन प्रकार से पालनीय

---

१. ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति।
—ऋग्० ४।२३।८; स्वा० सं०

२. ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।—ऋग्० १०।१९०।१

३. सत्यं बृहदृतमुग्रं···पृथिवीं धारयन्ति।—अथ० १२।१।१

४. सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।—अथ० १४।१।१

५. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।—यजु० १९।७७

६. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥—यजु० १।५

७. अग्ने व्रतपते···सत्यमुपैमि।—मं० ब्राह्म० १।६।६।१३

है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि से रहित विशुद्ध मन से निश्चय करके वाणी से व्यवहार में लाना मानसिक सत्य है। मानसिक सत्य का महत्त्व सर्वाधिक है। जो साधक मन के अनुसार वाणी का व्यवहार करता है वही अमृतत्व की भूमिका तैयार करता है। वही यज्ञ के महत्त्व को जानता है[1] जो सत्य ज्ञान एवं कर्म की प्रशंसा करता हुआ, सरल-मार्ग से ध्यानादि करता है, वही मेधावी के पद को धारण करता है।[2]

सत्यवक्ता को अपने वचन पर मन में दृढ़ विश्वास होना चाहिए। वह कह सके कि—मैं पवित्र मन से सत्याचरण करता हूँ, पुनरपि कोई अनृत वचनों से दूषित करता है तो उसका असत्य भाषण अञ्जलि में लिये जल के समान क्षणभंगुर है।[3] वेद इससे भी आगे कहता है कि सत्य वही है, जिसकी रक्षा के लिए सत्यवक्ता प्राणोत्सर्ग के लिए भी कटिबद्ध हो सके,[4] अतः सत्यभाव से योगयज्ञ में प्रवृत्त होनेवाले साधक की परमात्मा रक्षा करता है एवं धर्मयुक्त गुण-कर्म-स्वभाव में प्रेरणा, शारीरिक एवं आत्मिक बल तथा मोक्ष को प्राप्त कराता है।[5]

वाचिक सत्य—क्रोध तथा अहंकार के वशीभूत होकर बोले गये असत्य तथा कटु वचन को त्यागकर सत्य एवं मधुर बोलना वाचिक सत्य का विषय है। श्रुति भगवती का कल्याणकारी आदेश है कि 'साधारण मनुष्य विद्वान् पुरुषों का अनुसरण करते हुए सत्य ही बोले।[6]' 'सौभाग्य-उदय के लिए सत्य बोले।'[7] अर्थात् सर्वविध सफलता का आधार सत्य ही है। जिस सत्यवक्ता साधक की आन्तरिक वृत्तियाँ पूर्व से ही सत्याचार को स्थिर करनेवाली हैं एवं जिसकी बुद्धि सत्य को धारण करनेवाली है, वह वाणी के नियमन से अपार शक्ति पाकर शत्रुओं के बल को नष्ट कर देता है। जो सत्य बात को बहरे के समान

---

१. **नि गव्यता मनसा**।—ऋग्० ३।३१।९

२. **ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना**···।—ऋग्० १०।६७।२; अथ० २०।९१।२

३. **यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः**।—ऋग्० ७।१०४।८

४. **यदि वाहमनृतदेव आस**···।
अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि।—ऋग्० ७।१०४।१४-१५

५. **तमग्ने पास्युत**।—ऋग्० ६।१५।११ भावार्थः

६. **सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्**।—ऋग्० ४।३३।६

७. **अवोचाम महते सौभगाय सत्यम्**।—ऋग्० ८।५९।५

सुना-अनसुना कर देता है, सत्यवक्ता अपने प्रभाव से उसके इस बधिर-पन को दूर कर देता है। जो स्वयं सत्य-पवित्र वाणी के आश्रय सत्य का ही प्रचार करता है, वही गुरु के सदृश सत्कार्य है।[1] अथर्ववेद के ब्रह्मगवी सूक्तों में वेदनिष्ठ सत्यवाणी का महत्त्व विस्तार से प्रदर्शित किया गया है—"जो राजा सत्यनिष्ठ वाणी को साधारण-कोमल समझ-कर दबाना चाहता है वह वाणी सर्प के समान भयंकर रूप धारण कर उसके सम्पूर्ण राज्य को विनष्ट कर देती है, अतः अज्ञानी राजा को उपदेश दिया गया है कि सत्यवाणी नष्ट करने योग्य नहीं है, क्योंकि यह राष्ट्र को शुद्ध कर चिरस्थायी करने में सहायक है।"[2]

वाणी की ये अमोघ शक्तियाँ सत्याचरणशील परमात्म-साधक को ही प्राप्त होती हैं, ये ही अन्त में ब्रह्मप्राप्ति में सहायक बनती हैं।[3]

सत्य के साथ प्रिय, मधुर वाणी का प्रयोग भी वेद में अभिप्रेत है।

उपासक वाणी से मधुर व्यवहार के लिए कामना करता है कि—'मेरी वाणी के अग्रभाग पर, जिह्वामूल में तथा मन-बुद्धि में मधुरता विराजमान हो। मैं बाहर जाने, आपने की क्रिया के साथ-साथ वाणी से सदैव मधुर, प्रिय ही बोलूँ, मेरे जीवन में मधुरता का साम्राज्य हो।'[4]

सत्य एवं प्रिय-हितकारी मधुर भाषण में ही मानवता सन्निहित है, अतः मानव सदैव सत्य, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले, क्योंकि सत्य बोलने से भी प्रिय सत्य बोलना अधिक श्रेयस्कर है।[5] वेद से परवर्ती साहित्य सत्य एवं मधुर भाषण की प्रबल प्रशंसा करता है। सत्यभाषण से पूर्व उसपर विचार भी आवश्यक है। ऐतरेय ऋषि प्रतिज्ञा करते हैं कि—"मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, मैं सदा विचार-

---

१. **ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।**
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥

—ऋग्० ४।२३।८

ऋतस्य दृळहा धरुणानि सन्ति···।—ऋग्० ४।२३।९

२. अथ० ५।१८।१९; १२-५ (ब्रह्मगवी देवता)

३. **ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः**।—ऋग्० ४।२३।१०

४. **जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्**।—अथ० १।३४।२
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥—अथ० १।३४।३

५. **सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्**।—मनु० ४।१३८

कर बोलूँ। मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित है अर्थात् मैं जब बोलूँ, तो मन से बोलूँ, मेरा मन-वचन एक हो। हे परमेश्वर! मुझे प्रकाशित कर दे। मैं वेदज्ञान को प्राप्त करने व धारण करने में समर्थ होकर यथार्थ सत्य बोलूँगा, मेरी सदैव रक्षा करो।"[1] इस प्रकार साधक का स्वाध्याय एवं प्रवचन भी सत्य-भाषण से ओत-प्रोत हो।[2] प्रवचन के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा करे कि "ऋत-सत्य से युक्त ही बोलूँगा, परमात्मन्! मुझ सत्यवक्ता की रक्षा करना।" प्रवचन-समाप्ति पर कहे कि "मैं सत्य ही बोला, मैंने ऋत ही कहा, परब्रह्म ने मेरी रक्षा की।"[3]

कायिक सत्य—मन एवं वाणी के अनुरूप आचरण करना 'कायिक सत्य' है, अर्थात् शरीर से सत्य-धर्मयुक्त कार्यों में ही प्रवृत्त होना सदाचरण कहाता है। सत्याचरण के लिए वेदों में पर्याप्त निर्देश निहित हैं। शरीर से सत्याचरण का स्वभाव बनाने के लिए वेद में कहा है कि "बाल्यावस्था से माता-पिता सन्तानों को सदाचार की शिक्षा दें तथा सन्तान उनको सदाचरण के लिए द्यावापृथिवी के समान सत्करणीय मानें।"[4]

सत्याचरण का महत्त्व

मन-वचन-कर्म से पालन किया गया सत्य व्यक्ति को साधना के मार्ग में अग्रसर करता है, उसका जीवन उत्कर्ष की ओर बढ़ता है, सत्य साधक को प्रतापी एवं तेजस्वी बनाकर वेदज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनाता है।'[5] सत्याचरणपूर्वक उपभोग किया हुआ अन्न दीर्घायु प्रदान करता है।'[6] सर्वदेव सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं; सत्याचरण

---

१. **वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि···। ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि।**—ऐत० ३।१।४

२. **ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।**
—तैत्ति० शि० अनु० ९।१

३. **ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि; ऋतमवादिषम्, सत्यमवादिषम्।**
—तैत्ति० शि० अनु० १।६

४. **इदं द्यावापृथिवी सत्यमस्तु पितर्मातर्यदिहोपब्रुवे वाम्।**
ऋग्० १।१८५।११ भावार्थः

५. **सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति।**—अथ० १०।८।१९

६. **ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः।**—ऋग्० ४।२३।९

के कारण ही देवयान मार्ग खुलता है, विस्तृत होता है। धर्म का विस्तार सत्य से हुआ है। जिस मार्ग से पूर्णकाम ऋषिजन चलते हैं, वह सत्य है। जहाँ वे पहुँचते हैं वह सत्य का परम निधि 'ब्रह्मधाम' है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में भी ब्रह्म का नाम सत्य बताया है।[2] सत्यकाम जाबाल को सत्य-भाषण के कारण ही 'हारिद्रुमत गौतम' ऋषि ने उपनयन कर ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक ब्रह्मविद्या का अधिकारी समझा था।[3]

सत्यानुष्ठान से परमात्म-प्राप्ति

जो साधक सत्यानुष्ठान द्वारा अपना परिमार्जन कर लेता है, वह ब्रह्मवेत्ता के समान शान्ति प्राप्त करता है, उसके काम-क्रोध आदि दोष नष्ट हो जाते हैं,[4] वह सत्त्वगुण-रजोगुण तथा तमोगुण की साम्यावस्था से चमकता हुआ सबको रुचिकर होकर, उत्कृष्ट जीवन धारण कर लेता है। दिव्य भक्तिरस का उत्पादन भी सत्याचरण से ही होता है, अतः सामवेद में इस भाव के लिए 'ऋतजातः'[5] पद का प्रयोग आया है। "सत्यानुष्ठान से ही 'बृहद्‌ऋत' मोक्ष-प्राप्ति कही है।"[6] इस प्रकार "सत्य ज्ञान और कर्म ही उपासकों के शरीररूपी रथों में बैठकर तीव्र संवेगी होकर परमेश्वर का आह्वान किया करते हैं,"[7] परमात्मा वास्तव में सत्य से, यथार्थ ज्ञान से, तप से तथा ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया जाता है।[8]

असत्य-भाषण का निषेध

मन-वचन से असत्य-भाषण तथा असत्याचरण अथवा मिथ्याचार-दुराचार की वैदिक संहिताओं में निन्दा की गयी है और मिथ्या-भाषण

---

१. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।—मुण्ड० ३।१।६
२. तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति।— छान्दो० ८।१।४
३. द्रष्टव्य—छान्दो० प्र० ४, खं० ४
४. त्वं ह त्यत्पणीनां विदो वसु सं मातृभिर्मर्जयसि स्व आ दम···।
—साम० १५९२
५. दीदेथ कण्व ऋतजातः···।—साम० ५४
६. ऋतेम य ऋतजातो···।—साम० १३९५
७. यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा।—साम० ३५६
८. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
—मुण्डको० ३।१।५

का खण्डन करने की प्रेरणा दी गयी है ।[1] सर्वप्रकार से सत्यव्यवहार-वान् के आगे असत्यवादी ठहर नहीं सकता ।[2] वेद में असत्यवादी का तिरस्कार किया गया है ।[3] मिथ्यावादी को वरुण के पाश निगृहीत कर नष्ट कर देते हैं एवं सत्यवादी उन पाशों से मुक्त रहता है ।[4] मिथ्या-भाषी के लिए याचना की गयी है कि—"हे वरुण ! इस मिथ्या-भाषी को सैकड़ों पाशों से बाँध ले, यह असत्प्रलापी तेरी दृष्टि से बचने न पाए ।"[5]

मिथ्यावादी को शान्ति कहाँ ? न वह योगविधि से सत्यासत्य का विवेक करनेवाले भक्तिरस का पान कर पाता है न परमानन्द का लाभ ।[6] परमात्मा असत्य बोलने वाले को राक्षस की भाँति विनष्ट करता है ।[7] विनाश से बचने के लिए वेद बड़ी उदात्त भावना से शिक्षा देता है—

"मनुष्य ! तू सत्य के मार्ग को अच्छी प्रकार कुशलता से देख । जिस मार्ग से तपस्वी-विद्वान्-सत्कर्मी चलते हैं, जिन मार्गों से अखण्ड व्रत-धारी ज्ञानरस का पान करते हैं और तृतीयधाम = मोक्ष में परमसुख का अनुभव करते हैं, तू भी उनका अनुसरण करके अधिकारपूर्वक परमात्मा के स्वरूप का आनन्द प्राप्त कर ।"[8] जो असत्य से होनेवाली हानियों से परिचित है वह तो यही कहेगा कि "पहले कभी हमने ऐसा नहीं किया, अब सत्य बोलते हुए, कैसे असत्य बोलें ?"[9]

उक्त परिशीलन से स्पष्ट है कि साधक असत्य का व्यवहार किसी अवस्था में न करे । सत्याचरण में शक्ति प्राप्त करने के लिए परमात्मा का आश्रय ले, वही सत्य प्रिय एवं सत्य का विस्तारक है ।

---

१. **ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धयृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः ।**
—ऋग्० ५।१२।२

२. द्रष्टव्य—ऋग्० ७।१०४।८ भावार्थः

३. द्रष्टव्य —ऋग्० ५।८७।६ भावार्थः

४. **छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ।**—अथ० ४।१६।६

५. **शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः ।**—अथ० ४।१६।७

६. **मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो ।**—ऋग्० ९।८५।१

७. **हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तम् ।**—अथ० ८।४।१३

८. **ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति । तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि विश्रयस्व ।।**—अथ० १८।४।३

९. **न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम ।।**—अथ० १८।१।४

सत्य-प्रतिष्ठा से सिद्धियाँ

सत्यभाषण तथा सत्याचरण से होनेवाले आंशिक लाभों का उल्लेख पीछे किया गया, इनके अतिरिक्त सत्य से साधक में जो विलक्षणताएँ आ जाती हैं, संहिताओं में उनके भी यथास्थान संकेत मिलते हैं। यथा—"सत्यभाषण एवं आचरण का अनुष्ठान करनेवाले योगी अन्यों को अभयदान देने में समर्थ होते हैं।"[1] "जिस स्थान पर सत्यवादी, शुद्धाचरणवाले योगी-महात्मा उपदेश करते हैं वहाँ चौरादि दुष्ट नहीं पनप पाते। सत्य-भाषण के प्रभाव से योगी बड़ी-बड़ी सभाओं में निर्भयता से वीरतापूर्वक बोलता है, वही शास्त्रार्थों में गर्ज सकता है।"[2] "सत्यरक्षक कर्मयोगी को संसार में कोई नहीं दबा सकता, वह दूसरे के हृदय की बात अपने पवित्र अन्तःकरण से जान लेता है।"[3] "वह लोकों को ज्ञान से देखने में समर्थ होता है तथा कर्तव्य से च्युत-जनों को कर्तव्य-पथ पर लाता है।"[4]

जो राजा और राज्याधिकारी, सत्यवादी विद्वानों की रक्षा करते हैं वहाँ यथासमय वृष्टि होती है और मृत्यु भी उचित काल में होती है।[5] "सत्यवादी अपने सत्याचरण से पृथिवी का साम्राज्य पाने की क्षमता रखता है।"[6] "सत्याचरण अपनाने से सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण होती हैं।"[7] महर्षि पतञ्जलि ने वेदमन्त्र की पुष्टि में कहा है कि 'सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर योगी जो कहता है या कामना करता है, वह पूर्ण होता है।"[8] इस प्रकार "सत्यरूपी नौका पर आरूढ़ साधक समस्त ऐश्वर्यों

---

१. त्वं न इन्द्र ऋतयुस्त्वानिदो नि तृम्पसि।—ऋग्० ८।७०।१०
ऋतस्य तन्तुः।—ऋग्० ९।७३।९

२. ईजे यज्ञेभिः शशमे शमीभिर्ऋधद्वारायाग्नये ददाश।—ऋग्० ६।३।२ भावार्थः

३. अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते।
मा नः स्तेन ईशत माघशंसो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥—ऋग्० २।४२।३

४. ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्री ष पवित्रा हृद्यन्तरा दधे।
विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवाजुष्टान्विध्यति कर्त्ते अव्रतान्॥
—ऋग्० ९।७३।८

५. ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं...तस्मै वृष्टिर्मधुमत्पिन्वते दिवः॥
—ऋग्० ५।६३।१

६. कया नो अग्न ऋतयन्नृतेन भुवो नवेदा उचथस्य नव्यः।—ऋग्० ५।१२।३

७. नहि ते पूर्तमक्षिपद्भुवन्नेमानां वसो।—ऋग्० ६।१६।१८; भावार्थश्च।

८. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।—यो० २।३६

को प्राप्त कर लेता है ।[1]"

अस्तेय

यमों में तृतीय स्थान पर है अस्तेय । स्तेय का अर्थ है स्वामी की आज्ञा विना, अनधिकृत पदार्थ को ग्रहण कर लेना और मन, वचन, कर्म से इस प्रवृत्ति का त्याग करना है अस्तेय । वैदिक संहिताओं में स्तेय कर्म की निन्दा एवं अस्तेय-परिग्रहण का विवेचन बहुत मिलता है ।

विना आज्ञा किसी के पदार्थ को लेने से उसे जो कष्ट होता है, वह कष्ट भी हिंसा है और पर-पदार्थ का अपहरण न करना ही अहिंसा है । इस प्रकार अहिंसा का ही पालन अस्तेय में सन्निहित है ।

स्तेन आदि शब्दों का प्रयोग

चौरकर्मवाची—स्तेन, दस्यु, वञ्चक, तस्कर, मुष्णत, विक्रन्त, परिवञ्चक, अघायु इत्यादि शब्दों का प्रयोग वेदमन्त्रों में मिलता है, जिनमें—ऋग्वेद में स्तेनः, स्तेनःऽइव, स्तेनम्, स्तेनाः, स्तेनेभ्यः आदि पदों का प्रयोग बारह बार हुआ है ।[2] 'स्तेयकृत्' केवल एक मन्त्र में प्रयुक्त है ।[3] यजुर्वेद में स्तेन आदि पदों का प्रयोग आठ बार हुआ है ।[4] सामवेद-पूर्वार्चिक की एक ऋचा[5] में तथा अथर्ववेद में[6] 'स्तेनः' पद प्रथमा, द्वितीया तथा तृतीया एकवचनान्त का प्रयोग १२ बार आया है । 'स्तेयऽकृत्' एक बार और 'स्तेयम्' पद दो बार प्रयुक्त है ।[7]

चोरों के भेद

यजुर्वेदीय ऋचा में चोरों के भेदों का उल्लेख है । 'वञ्चते' छल से पर-पदार्थों का हरण करनेवाला, 'परिवञ्चते' सब ओर से झूठ-छल-

---

१. **सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् ।**—ऋग्० ९।७३।१
२. **स्तेनः**—ऋग्० पदानु० पृ० ४६७२
३. **स्तेयकृद्**—ऋग्० ७।१०४।१०
४. **स्तेन**—यजु० पदानु० पृ० ११०
५. **स्तेनमग्ने दुराध्यम्**—साम० १०५
६. **स्तेनः**—अथ० पदानु० पृ० २५९
७. **स्तेयकृत्**—अथ० ८।४।१०; **स्तेयम्**—अथ० ११।८।२०; १४।१।५७

कपट का व्यवहार करनेवाला, 'स्तायुनाम' चोरी से जीविका चलाने-वाले, 'तस्करणाम्' चोरबाजारी करके धन कमानेवाले, 'मुष्णताम्' रात को चुरानेवाले, 'विकृन्तानाम्' विविध प्रकार से गाँठ (जेब) काटकर धन हरनेवाले—इन सभी को यथायोग्य वज्र-प्रहार तथा दण्ड देने का आदेश दिया गया है।[1] इनसे भी अधिक घातक 'दस्युः' होते हैं जो धन-धान्य तथा जानमाल का क्षय करते हैं, जो खुलेआम शस्त्रों की सहायता से दिन-दहाड़े डाका डालते हैं और हिंसा करके भी लूट लेते हैं। ऐसे लोगों के लिए वेद में 'अघायुः' पद का प्रयोग किया है।

चौरकर्म की निन्दा तथा दण्डविधान

चोरी करके अन्यों को कष्ट देनेवालों की वेदों में निन्दा की गई है। इस कर्म को नीचकर्म बताते हुए अपराधी को कारागार में डालने तथा शारीरिक दण्ड देने का आदेश किया गया है।[2] प्रबुद्ध विद्वानों को निर्देश दिया गया है कि वे स्वयं विद्या का अर्जन करके, जो विद्या और धन की चोरी करनेवाले हैं, उनको सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर लाएँ अथवा अपने व्यवहारों में उनका परित्याग कर दें। ऐसे चौरवृत्ति-वाले, सत्कर्मियों से अतीव दूर रखे जाएँ।[3] इस प्रकार वेद चोर के दुष्कर्म से द्वेष करने का उपदेश करता है; मनुष्य से द्वेष करने का नहीं। वेद चाहता है कि मानव का सुधार हो। चोरी की वृत्ति छूट जाने पर ही व्यक्ति का विकास सम्भव है, अतः विद्वान् लोग चोर से भिन्न जनों को ज्ञान-धन देकर सुखी करते हैं।[4]

अस्तेय-पालन के उपदेश

वेदों में चौर-कर्म को निन्दित बताकर उससे बचने के लिए साधारण जन को भी उपदेश दिये हैं, फिर साधक के लिए अस्तेय का पालन परमावश्यक हो जाता है। साक्षाद्धर्मा, क्रान्तदर्शी ऋषियों ने

---

१. नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥—यजु० १६।२१

२. ब्रह्मणे ब्राह्मणं ... तमसे तस्करं नारकाय ... मागधम्।—यजु० ३०।५

३. अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ... कृधी सुगम्।—ऋग्० ६।५१।१३

४. नू नो अग्नेऽवृकेभिः स्वस्ति वेषि रायः पथिभिः पर्ष्यंहः।—ऋग्० ६।४।८

मनुष्य के लिए पालनीय आवश्यक सात मर्यादाओं (सीमाओं) का विस्तार किया है; जो इन मर्यादाओं का पालन नहीं करता वह जीवन में सब प्रकार से पतित हो जाता है।[1] उन मर्यादाओं का परिगणन यास्क ऋषि ने निरुक्तशास्त्र में किया है जिनमें स्तेयकर्म (चोरी) को प्रथम स्थान पर रखा है; शेष हैं[2]—परस्त्रीगमन, वेद्विद् विद्वान् की हत्या, गर्भ-हत्या, सुरापान, दुष्कर्म का पुनः-पुनः सेवन, पापकर्म करके झूठ बोलना। इन सात में से किसी एक को भी जो अपनाता है वह पापी हो जाता है। सात मर्यादाओं में स्तेय—चोरी को प्रथम स्थान पर इसलिए रखा है कि अन्य पापों का समूह 'चोरी' पर ही आश्रित है, जैसा कि 'स्तेन' पद की निरुक्ति की है कि 'जिसमें पापों का समूह हो' उसे चोर कहते हैं।[3] सब पापों से बचने के लिए साधक को योग्य है कि चोरी के विचार भी मन में उत्पन्न नहीं होने दे।

ईश्वरोपासना के लिए तत्पर योगाभिलाषी के लिए आवश्यक गुण यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में बताये गये हैं कि ईश्वरोपासना में सर्वप्रथम ईश्वर की सत्ता स्वीकार करे; द्वितीय ईश्वर को सर्वत्र कण-कण में विद्यमान समझे; तृतीय जो-कुछ ईश्वर ने भोग-सामग्री प्रदान की है उसका त्यागपूर्वक भोग करे, अर्थात् अन्यों को देकर स्वयं ग्रहण करे; चतुर्थ कभी किसी के धन में लालच, या लोभ न करे।[4] इस श्रुतिवाक्य के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि हाथों से चोरी करने की बात तो दूर रही, वेद तो मन से भी पराये धन की लालचीवृत्ति का निषेध करता है। वाणी से वञ्चना करके ठगनेवाले वञ्चकों का निषेध तथा निन्दा पीछे की गयी है। इस प्रकार ईश्वर-उपासना के लिए तो वेद मन (बुद्धि), वाणी तथा शरीर से चोरी करने का नितान्त निषेध करता है।

अस्तेय के पालन हेतु व्यासभाष्य में वैदिक मान्यता को सूत्ररूप में कहा गया है कि "शास्त्रवर्जित रीति से दूसरे के द्रव्यों का लेना स्तेय

---

१. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।—ऋग्० १०।५।६

२. स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवनं पातकेऽनृतोद्यमिति।—निरु० ६।२७

३. स्तेनः कस्मात्, संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः।—निरु० ३।१९

४. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥—यजु० ४०।१

चोरी है। उसका प्रतिषेध अर्थात् चोरी की इच्छा भी न करना अस्तेय है।[1]

ब्रह्मचर्य

उपयोगिता की दृष्टि से योगसाधनों में ब्रह्मचर्य का प्रथम स्थान है। यमों में इसकी गणना चतुर्थ स्थान पर है। वैदिक संहिताओं में ब्रह्मचर्य-विषयक समस्त पहलुओं पर प्रकाश डालनेवाले मन्त्र मिलते हैं।

'ब्रह्मचर्य' शब्द का व्यापक अर्थ

भ्वादिगण की 'बृहि वृद्धौ' धातु से निष्पन्न[2] 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है—जो बढ़ा हुआ है वह ब्रह्म, ईश्वर, वेद, तत्त्व या तप। इनके अतिरिक्त—'ओ३म्',[3] ब्राह्मण, मोक्ष, ब्रह्मचर्य, अध्यात्म विद्या, ब्राह्मणग्रन्थ, सम्पत्ति, भोजन, सत्य इत्यादि अर्थों में भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है। 'चर' धातु जिससे 'चर्य' शब्द बना है गति एवं भक्षण अर्थवाली है[4], अतः 'ब्रह्मचर्य' शब्द का अर्थ हुआ ब्रह्म—परमात्मा तथा वेद में विचरण करना, और वीर्य का भक्षण अर्थात् उसे अपने अन्दर धारण करना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य की पूर्ण परिभाषा हुई—ब्रह्म-प्राप्ति हेतु, वेदाध्ययन करते हुए अष्टविध मैथुन त्यागपूर्वक व्रत धारण करना—उपस्थेन्द्रिय का संयम, स्त्री-संयोग-राहित्य।

ब्रह्म में विचरण का शील है जिसका, वह 'ब्रह्मचारी।'[5] संस्कृत-साहित्य में अध्ययन करनेवाले के लिए, अध्येता, छात्र, विद्यार्थी, शिक्षार्थी, वर्णी, बटु, बटुक, पठक, शिष्य आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। अन्य भाषाओं में शागिर्द, चेला, स्टुडेण्ट, स्कॉलर इत्यादि शब्द मिलते हैं परन्तु वैदिक संहिताओं में केवल 'ब्रह्मचारी' शब्द का प्रयोग है। वैदिक भाषा से अन्य भाषाओं में प्रयुक्त छात्रवाची

---

१. **स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।**—यो० व्या० भा० २।३०
२. **बृंहेर्नोऽच्च**—उणादि० ४।१४६
बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म ईश्वरोवेदस्तत्त्वं तपो वा।
३. द्रष्टव्य—**ब्रह्म शब्दस्य अर्थाः** (संस्कृत, हिन्दी कोष, पृ० सं० ४७८)
४. **अभ्र वभ्र मभ्र चर गत्यर्थाः। चर भक्षणे च**—(भ्वादि० प०)
५. **ब्रह्मणि चरितुं शीलमस्येति, ब्रह्मचारी। अत इनिठनौ**—अष्टा० ५।२।११५

किसी शब्द में वह गौरव नहीं जो कि वैदिक भाषा के 'ब्रह्मचारी' शब्द में सन्निहित है। इसका गूढ़ रहस्य यह है कि 'वेदविद्या-अध्ययन तभी सम्भव है जब वीर्य-रक्षा की जाए तथा वीर्य-रक्षा तभी सम्भव है जब ब्रह्म में विचरण अर्थात् परमात्मा का ध्यान-चिन्तन किया जाए। ऋग्वेद में 'ब्रह्मचारी' पद[1] का प्रयोग एक बार तथा अथर्ववेद में 'ब्रह्मचर्य' तथा 'ब्रह्मचारी' दोनों पदों का प्रयोग ३३ बार हुआ है।[2]

ब्रह्मचर्य की कोटियाँ

वैदिक संहिताओं में ब्रह्मचर्य-पालन की तीन कोटियाँ स्पष्ट रूप से वर्णित हैं—जो विद्याध्ययन के साथ २४ वर्ष पर्यन्त[3] ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं, उनको 'वसु' संज्ञा दी गयी है। ४४ वर्ष पर्यन्त विद्याध्ययन के साथ ब्रह्मचर्य-व्रतपालक को 'रुद्र' ब्रह्मचारी[4] तथा ४८ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत के पालक तेजस्वी तथा प्रकाण्ड पण्डित को 'आदित्य' ब्रह्मचारी कहा गया है।[5] शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि 'विष्णुयज्ञ को तीन भागों में विभक्त किया गया—वसु ब्रह्मचारी उसके प्रातःसवन हैं, रुद्र माध्यन्दिन सवन तथा आदित्य तृतीय सवन हैं।[6] तैत्तिरीय आरण्यक में भी वीर्य-संस्राव के वसु, रुद्र तथा आदित्य तीन ही भाग किये हैं तथा छान्दोग्योपनिषद् में पुरुष यज्ञ को तीन भागों में बाँटा गया है।'[7]

ब्रह्मचर्य के साधन

आयु के प्रथम २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने के लिए एक ऋग्वेदीय मन्त्र में साधनों का निर्देश किया है। वह नित्यप्रति अग्निविद्या

---

१. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्
—ऋग्० १०।१०९।५

२. द्रष्टव्य—अथ० पदानु० ब्रह्मचर्यम्...पृ० १६५

३. द्रष्टव्य—म० दयानन्दभाष्ये—ऋग्० १।१६३।२; त्वमग्ने वसूँरिहरुद्राँ आदित्याँ उत।—साम० ९९; वसवस्त्रयोदशाक्षरेण।—यजु० ९।३४

४. सोमँरुद्रस्त्वावर्त्तयतु।—यजु० ४।२०; इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत। —यजु० ६।३२; रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्।—कौषी० १६।१

५. आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण।—यजु० ९।३४; आदित्यासि।—यजु० ४।२१

६. अथेमं विष्णुयज्ञं त्रेधा विभजन्त। वसवःप्रातःसवनं रुद्रामाध्यन्दिनं सवनमादित्यास्तृतीय सवनम्।—शत० १४।१।१।१५

७. वसवो वै रुद्रा आदित्याः संस्राव भागाः।
—तै० आ० ३।३।९।७; छान्दो० ३।१६।१-५

(अग्निहोत्र) को प्रदीप्त करे।[1] पारस्परिक व्यवहार सुकृतयुक्त हो अर्थात् इन्द्रियों द्वारा सत्कर्म की कामना से व्यवहार करे। प्राणायाम, व्यायाम आदि तपस्याओं से अंगों को तपस्वी बनाए। इस व्यवहार से अपनी इन्द्रियों को वश में करके जितेन्द्रिय हो। 'जो विद्वान् नित्यप्रति निष्पक्षता से आत्मनिरीक्षण करके, दोषों का परिहार कर सद्गुण-कर्मों को धारण करते हैं वही वीर्य की पूर्ण रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं।'[2]

'वीर्यादि धातुओं की वृद्धि के लिए आवश्यक है कि साधक दुर्बुद्धि, दुर्गुण तथा दुष्टों का संग छोड़कर यथायोग्य जल तथा दूध का सेवन करे।'[3] 'त्रिदोषनाशक तथा वीर्यवर्धक सोमलता आदि ओषधियों का सेवन करे। अल्पायु में वीर्य का क्षय न करे। शरीर, आत्मा तथा बल की वृद्धि के लिए सोमलता आदि ओषधियों का सेवन आवश्यक है।'[4]

ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए मेखला-बन्धन

अथर्ववेद में आगत मेखला-सूक्त[5] में ब्रह्मचारी को मेखला-बन्धन का महत्त्व बताया गया है। यज्ञोपवीत संस्कार के साथ आचार्य ब्रह्मचारी की कमर में मेखला-बन्धन करता है। यह मेखला प्रत्येक प्रकार की तपस्या की तैयारी के लिए बाँधी जाती है। इसके बन्धन से कटिप्रदेश में होनेवाले हॉर्निया आदि रोग नहीं होते। यह ब्रह्मचर्य पालन में सहायक है। कमर कस जाने के कारण यह वीरता के भाव उत्पन्न करती है। मेखला तथा कौपीन का बाँधना ब्रह्मचारी के लिए उपयोगी बताकर आगे वीर्य-रक्षा में सहायक वैराग्य-भावना के मनो-

---

१. आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
—ऋग्० १।८३।४

२. संपश्यमाना अमदन्नभि स्वं पयः प्रत्नस्य रेतसो दुघानाः।
—ऋग्० ३।३१।१०

३. पयसा शुक्रममृतं जनित्रँ सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः।
अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना ऊवध्यं वातँ सब्वं तदारात्॥—यजु० १६।८४

४. मनुष्वदिन्द्र सवनं जुषाणः पिबा सोमं शश्वते वीर्याय।—ऋग्० ३।३२।५

५. य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात्॥
—अथ० ६।१३३।१

पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले।—अथ० ६।१३३।२

भावों को उद्‌बुद्ध करने के लिए कहा गया है—'ब्रह्मचारी यह भाव सदैव बनाये रखे कि मैं मृत्यु का ब्रह्मचारी हूँ, क्योंकि मैं भूतमात्र से संयम के लिए पुरुषार्थ को माँग रहा हूँ। मैं ज्ञान से, तप से तथा परिश्रम से लाकर इसको मेखला से बाँधता हूँ।'[1] मौत को गुरु बनाना अति दुष्कर है। मौत का ब्रह्मचारी तो कोई विरला ही, नचिकेता जैसा सन्देह-शून्य ही बन सकता है जिसने समस्त संसार का सार देखकर इसे असार मान लिया हो, जिसे मृत्यु अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगे, जिसे नूतन भोग्य देनेवाला मुक्ति का साधन दीख गया हो, वह मृत्यु के पास जाता है और उससे अभय प्राप्त करता है, क्योंकि 'आचार्य' मृत्यु, वरुण (श्रेष्ठ गुण, धारण), सोम (शान्ति), औषध, जल या दूध एवं बादलरूप है।[2] मन्त्र के अनुसार ब्रह्मचर्यधारण में परमात्मोपासना, वेदज्ञान, तपस्या तथा शारीरिक श्रम आवश्यक है।

सामवेदीय ऋचा में ब्रह्मचर्य-रक्षा के लिए प्रमुख संदेश दिया गया है—'उपासको ! तुम अपने सिरों को खूब माँज लो, अर्थात् अपने विचारों को खूब शुद्ध-पवित्र कर लो, क्योंकि परमेश्वर प्राणों, रस-रक्तों के बीच में सदा स्थित है। वह तुम्हें शृङ्गारमय दस विकारों के दुष्परिणामों द्वारा जीवन का यथार्थ मार्ग दर्शा रहा है।'[3] ब्रह्मचर्य के लिए उक्त मन्त्रानुसार विचारों की पवित्रता आवश्यक है। विचारों की पवित्रता पर कर्मों की पवित्रता निर्भर है। शृङ्गारमय विकारयुक्त विचार जीवन को अपवित्र कर, व्यक्ति को योग-साधना से विमुख कर देते हैं। कामुकता से प्रेरित होकर स्त्री-पुरुष का परस्पर संस्मरण, दर्शन, क्रीड़ा, एक-दूसरे के रंग-रूप का कीर्तन, परस्पर भाषण, काम-चेष्टा, कामभूषा, परस्पर प्रसंग अर्थात् मैथुन, कामुक साहित्य का पढ़ना, ये सब शृङ्गाररस के परिणाम हैं। मन्त्र निर्देश करता है कि ये कामविकार, परिणामरूप में दुःखदायी और योग-विरोधी हैं। इन्हीं

---

१. मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥
—अथ० ६।१३३।३ (स्वा०सं०)

२. आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥—अथ० ११।५।१४

३. नीव शीर्षाणि मृढ्वं मध्य आपस्य तिष्ठति। शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन्॥
—साम० १६५६

कामविकार की क्रियाओं को 'दक्षसंहिता'[1] में 'अष्ट मैथुन' संज्ञा दी है तथा निर्देश दिया गया है कि ब्रह्मचर्य-सेवी अष्ट मैथुनों से अपने को सदैव पृथक् रखे।

वीर्य-रक्षण के लिए एक मन्त्र में उत्तम विचार दिये गये हैं कि 'द्रप्स' अर्थात् बूँद-बूँद कर शरीर में खपनेवाले शुक्र=वीर्य का एक रूप श्वेत=बढ़ानेवाला और हर्षदायक है, दूसरा 'कृष्ण'=गर्वित करनेवाला है।[2] साधक संयम की प्रबलता से अपने वीर्य को कृष्ण नहीं होने देता, इस प्रकार मित्रभावनाओं की रक्षा करता है।

ब्रह्मचर्य-साधन के लिए सब प्रकार के संयम की महती आवश्यकता है। ऋषि 'आपस्तम्ब' ब्रह्मचर्य के साधनों में मृदुता, शान्त स्वभाव, इन्द्रिय-दमन, लज्जा, दृढ़ धैर्य, अक्रोध, अनिन्दनीय स्वभाव का परिगणन करते हैं।[3]

ब्रह्मचर्य-पालन का महत्त्व

यजुर्वेद में ब्रह्मचर्यपालन के लाभ प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि 'जो आयु के प्रथम चरण में ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे ही बल-पराक्रम को प्राप्त करते हैं तथा विद्या-प्राप्ति में समर्थ होते हैं। ब्रह्मचर्य-पालन से साधारण मनुष्य हों या विद्वान्, सभी दीर्घायु को प्राप्त कर लेते हैं। राक्षस और पिशाच लोग उसकी शक्ति का उल्लंघन नहीं कर सकते।'[4] दीर्घकालीन ब्रह्मचर्य का सेवन ही दीर्घायु का कारण है। 'ब्रह्मचर्य-सेवन-सहित परमात्म-उपासना में तत्पर साधक के चेहरे पर ओज, कान्ति=ब्राह्म-तेज प्राप्त होता है।'[5] वीर्यरक्षा के द्वारा

---

१. ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा लक्षणं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
—(दक्ष संहितायाम्)—उद्धृत—योगवार्तिकम् २।३०

२. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
—ऋग्० ८।९६।१३

३. मृदुः-शान्तः-दान्तः-ह्रीमान्-दृढ़धृति-अक्रोधनः-अनसूयः। [आप० १७।१२४]

४. यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः—यजु० ३४।५१
'यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय।—३४।५२

५. तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे।—साम० ३९५

आध्यात्मिक सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है। ब्रह्मवर्चस्-प्राप्ति का आधार ब्रह्मचर्यपालन ही है। ब्रह्मचारी ही धैर्य एवं सहनशीलता प्राप्त कर सकता है।[1]

सामवेदीय तीन मन्त्रों में यह निरूपित किया गया है कि परमात्मा के दो रूप साधकों के लिए सदैव हितकारी हैं—मित्र अर्थात् सहकारी-रूप; अवरुण अर्थात् पापनिवारक रूप। इन दोनों रूपों में मित्ररूप की अभिव्यक्ति साधक में तब होती है जब ब्रह्मचर्य-संयम उसका स्वभाव बन जाता है।[2]

'ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या-प्राप्ति के बाद कवित्व-शक्ति का उदय तथा विकास होता है।'[3]

अथर्ववेद के 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' में ब्रह्मचर्य की महिमा विशद रूप से वर्णित है। 'ब्रह्मचारी ने पृथिवी-सूर्य को प्रजापति से सर्वप्रथम भिक्षा में ग्रहण किया, अतः वह पृथिवी तथा सूर्य को योगयज्ञ की दो समिधा बनाकर परमेश्वर की उपासना करता है।'[4] 'ब्रह्मचारी योगी निकट तथा दूरवर्ती सर्वत्र विद्यमान ब्रह्म का साक्षात्कार तप की महिमा से करता है और परमात्मशरण में अनेक शक्तियों को बढ़ाता है।'[5]

'पृथिवी और सूर्य दोनों की अग्नियाँ मिलकर पदार्थों में बल प्रदान करती हैं। ब्रह्मचारी योगी अणिमा-लघिमा आदि सिद्धियों द्वारा सूर्य-किरणों पर स्थित होता है। जिस प्रकार मेघ चारों ओर गर्जते हुए सुखद वृष्टि करके भूमि को उपजाऊ बनाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचारी मेघों से शिक्षा लेकर सभी प्रजाओं का विविध प्रकार से उपकार करता है, जिससे सभी दिशाएँ जीवित हो उठती हैं।'[6] 'वह सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा,

---

१. **उभे सुशिप्र पप्राः**—साम० ५८६; **विदा राये सुवीर्यं भुवो।**—साम० ६४४, **आ नः सोम सहो जुवो रूपं न वर्चसे भर।**—साम० ८३४

२. साम० ६११-१३

३. **स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बळधत्त विश्वा।**
—ऋग्० १।९६।१

४. **इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।**
—अथ० ११।५।९

५. **अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।**
—अथ० ११।५।१०

६. **अर्वागन्य इतो अन्य'''; अभिक्रन्दन्स्तनयन्नरुणः'''।**
—अथ० ११।५।११-१२

वायु तथा जलों में विद्युत्-रूप दीप्ति को जानकर उन्हें अपने में धारण करने की शक्ति प्राप्त करता है अर्थात् भौतिक देवों से भी ब्रह्मचर्य के धारण करने की शिक्षा लेता है। ब्रह्मचारी ही विद्योपार्जन करके उसे आत्मीय जनों में विकसित करता है।'[1]

वेद कहता है कि ब्रह्मचारी ही सच्चा आचार्य हो सकता है, वही प्रजा का परिपालक होकर सबको वश में रखता है। ब्रह्मचर्य के प्रबल प्रताप से ही राजा राष्ट्र की विशेषरूप से रक्षा करता है। आचार्य भी सच्चरित्र ब्रह्मचारी को चाहता है, वही सबको प्रिय होता है।[2] 'कन्या को सुयोग्य पति मिलना तथा रथवाहक अश्व का घास को खाकर पचाना एवं वीर्यसेचन में समर्थ होना ब्रह्मचर्य के कारण ही सम्भव है।'[3]

योगी ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और इन्द्रिय-दमन रूप तप से मृत्यु के कारणों को दूर कर देते हैं। इन्द्र=परमात्मा ब्रह्मचर्यव्रती विद्वानों को ही मुक्तिरूपी परमसुख प्रदान करता है।[4]

'ब्रह्मचारी सर्वप्रेरक-सर्वशक्तिमान् परमात्मा के गुण प्रकट करके संसार में ज्ञान और वृद्धिकारक गुणों को बढ़ाकर सबको मोक्ष-सुख का अधिकारी बनाता है।'[5]

वीर्य-रक्षण एवं वेदाध्ययन से ब्रह्मचारी वेद-ज्ञान को धारण करने में समर्थ होता है तथा समस्त दिव्य शक्तियों से ओतप्रोत हो जाता है। ब्रह्मचारी प्राण, अपान और व्यान आदि दस प्राणों को संयम में रखता हुआ वाणी, मन तथा हृदय को संयत करता है और ब्राह्मी=

---

१. अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति।
—अथ० ११।५।१३

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा···मित्रो अध्यात्मनः॥
—अथ० ११।५।१५

२. आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।—अथ० ११।५।१६
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।—१७

३. ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति॥—अथ० ११।५।१८

४. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वाराभरत्॥—अथ० ११।५।१९

५. देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं···देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥
—अथ० ११।५।२३

मेधाबुद्धि को प्राप्त करता है।' 'ब्रह्मचारी विभिन्न तपों को तपता हुआ, समुद्र के समान गम्भीर स्वभाववाला तथा सर्वविद्या-निष्णात होकर पृथिवी-तल पर सभी को प्रिय लगता है।'[1]

वेदों में प्रतिपादित ब्रह्मचर्य की अनन्त महिमा को सूक्ष्मता से योग-दर्शन में सन्निहित किया गया है—'ब्रह्मचारी साधक में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर अतुल वीर्य-शक्ति प्राप्त होती है।'[2] यह शक्ति शारीरिक-वाचिक-मानसिक सब प्रकार से सशक्त बनाती है। ब्रह्मचर्य-सिद्ध ही ज्ञान देने में समर्थ होता है।

कठोपनिषद् में ठीक ही कहा है कि 'मुमुक्षु जन ओ३म्-पद की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं।'[3]

छान्दोग्योपनिषद् में 'दहरविद्या' के प्रसंग में कहा गया है कि 'जो उपासक ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य, यज्ञकर्म, तप, संयम और जितेन्द्रियता से प्राप्त करते हैं उनका ही यह ब्रह्मधाम है। उन मुक्त आत्माओं का सभी लोकों में स्वच्छन्द सञ्चार होता है।'[4]

जो यज्ञ है वह ब्रह्मचर्य-पालन ही है। ज्ञानी ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्म को पाता है। दान-पुण्य आदि इष्ट कर्म भी ब्रह्मचर्य हैं। 'सत्त्रायण' नामक यज्ञ तथा 'मौन' ब्रह्मचर्य ही है जिससे उपासक आत्मा का रक्षण तथा परमात्मस्वरूप का मनन करता है।[5]

'अनाशकायन-उपवास भी ब्रह्मचर्य है जिससे साधक मनन किये परमात्मस्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखता है। जिसे अरण्यायन-वनवास कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मलोक में 'अर' और 'ण्य' ये दो

---

१. **ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति···मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्।**
—अथ० ११।५।२४

तानिकल्पद् ब्रह्मचारी···स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते।
—अथ० ११।५।२६

२. **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।**—यो० २।३८ व्या० भा०

३. **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति···यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।**···कठो० २।१५

४. **तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकः। तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥**—छान्दो० ८।४।३

५. **अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते। अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते।**
—छान्दो० ८।५।१

समुद्र हैं, यहाँ से तीसरे प्रकाशमय मोक्षधाम में वह 'ऐरम्' सुख और 'मदीयम्' आनन्द का सरोवर है, वहाँ अमृत-निस्सरण करता हुआ 'अश्वत्थ' वृक्ष है, अमृतमय पद है। वहाँ सर्वसमर्थ परमेश्वर का बनाया हुआ आदित्य, अविनाशीपुर है, ब्रह्मधाम है। इन धामों को जो ब्रह्मचर्य से प्राप्त करता है, वह सभी लोकों में स्वतन्त्र सञ्चार करता है।[1]

इस प्रकार बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य का पालन स्त्री-पुरुष सभी के लिए उपयोगी है। धन्य हैं वे सन्तानें जिनके माता-पिता छोटी अवस्था में अपने पुत्र-पुत्रियों को ब्रह्मचर्य-पालन के लाभ तथा ब्रह्मचर्य विनष्ट करने के दोषों को भली-भाँति समझा देते हैं। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास तीनों ही आश्रमों में ब्रह्मचर्य का पालन योग-साधना के लिए परमोपयोगी है। गृहस्थ में ऋतुगामी हो सद्गृहस्थ बनना एवं यथा-समय ईश्वरोपासना करना तथा बाल-विवाह से पुत्रों को बचाना, यह समाज एवं राष्ट्र की उन्नतियों की उन्नति तथा सबसे बड़ा सुधार है।

अपरिग्रह

यमों में पञ्चम स्थान पर महर्षि पतञ्जलि ने अपरिग्रह का परिगणन किया है। महर्षि व्यास ने 'अपरिग्रह' का लक्षण इस प्रकार किया है—

'विषयों के संग्रह करने में, उनके रक्षण और नाश से सर्वत्र हिंसा-रूप दोष को देखकर स्वीकार न करना 'अपरिग्रहण' कहलाता है।'[2] भोजवृत्तिकार ने इसको संक्षेप में यों निबद्ध किया है—'भोग-साधनों का स्वीकार न करना 'अपरिग्रह' है।'[3] अपरिग्रह की दार्शनिक परिभाषा शब्दार्थ से सामञ्जस्य रखती है, क्योंकि 'ग्रह उपादाने'[4] धातु से 'परि' उपसर्गपूर्वक 'परिग्रह' शब्द का अर्थ हुआ परितः, सर्वतः ग्रहण करना, इसका विपरीत 'अपरिग्रह' अर्थात् किसी भी प्रकार से ग्रहण न करना।

वेद में उपासक द्वारा इन्द्रियों के विषयों में न जाने की जो प्रार्थना की गई है वह अपरिग्रह का प्रमुख पहलू है। उपासक कहता है—'हे

१. द्रष्टव्य—छान्दो० ८।५।२, ३, ४

२. **विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।**

—यो० व्या० भा० २।३०

३. **अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः।**—भो० वृ० २।३०

४. **ग्रह उपादाने** (उदात्तस्वरितेत्—क्र्यादि०)

'प्रभो ! विषयों का आहरण करनेवाली मेरी इन्द्रियाँ विषयरूप शत्रुओं की विनाशक हों।[1] इन्द्रियों का सदुपयोग करनेवाले कर्मशील व्यक्तियों में मेरी इन्द्रियाँ वश्य होकर सुख देनेवाली हों।' इस प्रकार वेदों में अभिहित अपरिग्रह को बौद्धिक, वाचिक तथा शारीरिक तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

बौद्धिक अपरिग्रह

करने योग्य कार्य या ग्रहण करने योग्य विषय को बुद्धि विवेकपूर्ण शक्ति से निर्णय करके संग्रह कर लेती है। दृढ़ निश्चय करने के बाद ही मन के द्वारा इन्द्रियों को कार्य करने की प्रेरणा मिलती है, अतः प्रत्येक कर्म के सुख-दुःखरूप फलों का अनुभव कराना बुद्धि का ही कार्य है। यदि बुद्धि किसी भी इन्द्रिय द्वारा संगृहीत विषय को स्वीकार न करे, तो न तो उसे वाणी कह सकती है और न शरीर ही कार्यरूप में परिणत कर सकता है। इसी प्रकार बुद्धि की समाहित अवस्था में नेत्र-श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण नहीं करतीं, परन्तु विवेचनाविहीन इन्द्रियों को बुद्धि जब किसी विषय के ग्रहण करने के लिए प्रेरित करती है, तब इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करने लगती हैं। इस प्रकार गुण-दोष-दर्शिका बुद्धि जब इन विषयों के ग्रहण-रक्षण आदि में अकल्याण एवं हिंसा आदि पाप का निश्चय करके इन्हें सर्वथा ग्रहण नहीं करती-कराती, तब यह 'बौद्धिक अपरिग्रह' होता है।

बौद्धिक अपरिग्रहसिद्ध उपासक स्वीकार करता है कि 'मैं नवीन बुद्धियों से युक्त उभय इन्द्रियगण को प्राप्त किये हुए हूँ। वे इन्द्रियरूपी अश्व शोभन-ज्ञानरूपी रज्जु से बँधे हुए, विवेकरूप चाबुक से प्रचालित और शीघ्रगामी हैं।'[2]

साधक कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से पृथक् करने की भी कामना करता है—'दश इन्द्रियाँ तथा मन मेरे विस्तीर्ण पवित्र

---

१. ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना। उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा॥

—ऋग्० ८।२५।२३

२. स्मदभीशू कशावन्ता विप्रा नविष्ठया मती।
महो वाजिनावर्वन्ता सचासनम्॥—ऋग्० ८।२५।२४

हृदयासन पर बैठें। ये चपलता न करते हुए, स्थिरता से परमात्मा को प्राप्त करें और अपने-अपने समीप से दुर्व्यसनों को दूर फेंक दें, दूर कर दें।'[1] इस प्रकार साधक विषयों के या भोग-साधनों के संग्रह एवं रक्षण में कदापि अपनी बुद्धि को न लगावे, तभी बौद्धिक अपरिग्रह का पालन सम्भव है।

वाचिक अपरिग्रह

विषय-भोग-साधनों के संग्रह-हेतु वाणी का प्रयोग न करना वाचिक अपरिग्रह है। सर्वप्रकार से वाणी का संयम करना इसके अन्तर्गत आ जाता है जैसे—सत्य, छलकपट-राहित्य, मधुर सम्भाषण एवं निन्दा न करना, अधिक न बोलना, लोभ, मोह, क्रोध, कामवश होकर किसी भी देश-काल-जाति में वाणी का दुरुपयोग न करना 'वाचिक अपरिग्रह' है।

वेद में कहा है कि ऐसी वाणी, 'जो भौतिक वायु के संयोग से शब्दोच्चारण श्रवण कराने तथा अनेक पदार्थों को जनानेवाली है, वह सांसारिक पदार्थों के पान करने योग्य रस को पीने वा शब्दोच्चारण श्रवण करनेवाले पुरुषार्थी विद्वान् को प्राप्त होती है।'[2]

वेद मनुष्यमात्र को सन्देश देता है कि 'जिस उत्तम बुद्धि और सत्याचरण से विद्या-सम्पन्नजनों का देखने योग्य स्वरूप धारण किया जाता है एवं कार्य सिद्ध किया जाता है, उस वाणी तथा सत्य आचार को तुम नित्यप्रति स्वीकार करो।'[3]

वाचिक अपरिग्रहसिद्ध साधक की शक्ति का परिचय वेद में दिया गया है—'जिन विद्वानों के अन्तर्विराजमान आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण से पवित्र करती हुई विद्यायुक्त वाणियाँ नदियों के सदृश[4]

---

१. ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्।
विदन्नह द्वितासनन्॥—ऋग्० ८।२८।१

२. वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये॥—ऋग्० १।२।३

३. बळित्था तद्वपुषे धायि दर्शतं देवस्य भर्गः सहसो यतो जनि।
यदीमुप ह्वरते साधते मतिर्ऋतस्य धेना अनयन्त सस्रुतः॥
—ऋग्० १।१४१।१

४. सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः॥
—ऋग्० ४।५८।६

उत्तम प्रकार से चलती हैं, ऐसे विद्वान् जल की लहरों और प्रेरकों से हिरण के सदृश गति करते हुए, सब प्रकार की कीर्ति को प्राप्त करते हैं।' इस प्रकार वाचिक अपरिग्रह का निर्देशन वैदिक संहिताओं में विशद रूप से अन्यत्र भी मिलता है। यहाँ संक्षेप से संकेतमात्र किया गया है।

शारीरिक अपरिग्रह

जीवनदायक आवश्यकताओं से अधिक धन-धान्य, वस्त्र-भूमि तथा खाद्य सामग्री संग्रह न करना 'शारीरिक अपरिग्रह' है।

वैदिक संहिताओं में पारिवारिक पालन-पोषण तथा सामाजिक व्यवहार के लिए पुष्कल धन-ऐश्वर्य की याचना की गयी है[1] एवं प्रजापति परमात्मा से धनों का स्वामी बनने के लिए प्रार्थना की गयी है[2], परन्तु संगृहीत धन-भोगैश्वर्य को केवल अपने स्वार्थ-साधन में लगाने का वेद प्रबल विरोधी है तथा त्यागपूर्वक उपभोग करने का पक्षधर है।[3]

धनप्राप्ति की प्रार्थना के अतिरिक्त वेद आदेश करता है—'मानव ! तू सैकड़ों धार्मिक साधनों से अन्न-धन का संग्रह कर, निकम्मा, आलसी, पुरुषार्थ-हीन होकर मत बैठ।'[4] सायं-प्रातः प्रतिदिन अपने इष्टदेव से प्रार्थना करो कि—'प्रभो ! हम सौ वर्षपर्यन्त और इससे भी अधिक अदीन होकर जीवित रहें, कभी धनहीन न हों।'[5] इसके साथ ही धन का प्रथम सदुपयोग वेद के अनुसार दान देना है अर्थात् 'सहस्रों प्रकार[6]

---

१. **धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः। स नः पूर्णेन यच्छतु॥**
—अथ० ७।१७।१

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः॥
—अथ० ७।१७।२ एवं ३-४ आदयः

२. **प्रजापते···यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥**
ऋग्० १०।१२१।१०; यजु० १०।२०; २३।६५; अथ० ७।७९।४; ७।८०।३; तै० सं० १।८।१४।२; ३।२।५।६; तै० ब्रा० २।८।१।२; ३।५।७।१; निरु० १०।४३

३. **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा।**—यजु० ४०।१

४. **शतहस्त समाहर।**—अथ० ३।२४।५

५. **अदीनाः स्याम शरदः शतम्।**—यजु० ३६।२४

६. **सहस्रहस्त संकिर:।**—अथ० ३।२४।५

से दान देने का निर्देश है।' जिसके पास विद्या है वह विद्या का दान करे और कहे कि 'हे सोमस्वरूप अखण्डनीय परमेश्वर! हम उत्तम बल-पराक्रम से युक्त अखण्डनीय विद्या-धन के देनेवाले होवें।'[1] जिसके पास अन्न-धन आदि है वह सदैव देता रहे। दान देने की प्रेरणा देने हेतु वेद में 'धनान्न-दान-प्रशंसा' विषयक सम्पूर्ण सूक्त कहा गया है। इस सूक्त में धनान्न के स्वामी को प्रेरित किया गया है कि—'देनेवाले का धन नष्ट नहीं होता और न देनेवाले को सुखदाता परमेश्वर की प्राप्ति नहीं होती। जो अन्न-धन का स्वामी घर पर आये हुए याचक को न देने का निश्चय कर लेता है, वह सुखदाता को प्राप्त नहीं करता। जो दाता घर पर आये हुए याचक को अन्न-धन देता है वह विद्वानों में सम्मान पाता है।'[2]

वेद कहता है कि 'वह सखा, सखा नहीं है जो समय पर काम में आनेवाले सखा के लिए अन्न आदि आवश्यक वस्तुएँ नहीं देता। वह घर, घर नहीं है जो मित्र को अपने यहाँ से नहीं देता। याचक तो अन्यत्र भी याचना कर सकता है।'[3] अतः धनी का कर्तव्य है याचक को धन दे, व्यवहार तथा सुकृत के दीर्घतम मार्ग को देखे, ये धन तो रथ-चक्र के समान अस्थिर हैं।'[4]

परमेश्वर का स्पष्ट आदेश है कि 'मूर्ख (अदाता) अन्न-धन को व्यर्थ ही संकलित करता है। यह सत्य है कि जो अपने अन्न-धन से विद्वानों का पोषण तथा मित्र की सहायता नहीं करता, उसकी तो यह मौत ही समझो, क्योंकि अकेला खानेवाला पाप खाता है।'[5] 'दाता-बन्धु अदाता

---

१. अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
—यजु० ७।१४

२. धनान्नदानप्रशंसा—देवता।—ऋग्० १०।११७
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते।
—ऋग्० १०।११७।१
य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।—ऋ० २
स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्न कामाय चरते कृशाय।···सखायम्—ऋग ३

३. न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥—ऋग्० ४

४. पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पंथाम्।—ऋग्० ५

५. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य···केवलादी।
—ऋग्० ६

को अपने दान-यश से अतिक्रान्त कर बड़ा होता है।[1] दान के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए आचार्य दीक्षान्त के अवसर पर समझाते हैं कि 'तुझे श्रद्धा से दान देना चाहिए। यदि किसी समय भावना ऊँची न हो तो अश्रद्धा से, शोभा से, लोकलाज से तथा परलोक के भय से दान देना चाहिए। दान से कल्याण होता है, यह मनुष्य का कर्तव्य है तथा इससे लोकोपकार होता है, इस ज्ञान से भी दान देना ही चाहिए।'[2]

इस प्रकार वेदशास्त्र तथा उपनिषद्-साहित्य में दान की महिमा विशेष रूप से प्रदर्शित है। गृहस्थजन जब संकलित अन्न-धन में से इस प्रकार दान करते रहेंगे तो उनके पास आवश्यकता से अधिक भोग-सामग्री संगृहीत न होगी। इस क्रम से स्वाभाविक रूप से अपरिग्रह का पालन हो सकेगा। गृहस्थाश्रम के बाद पचास वर्ष की आयु होने पर वानप्रस्थाश्रम में धन-संग्रह का कहीं भी निर्देश नहीं। इस प्रकार वैदिक साहित्य में अपरिग्रह के सम्पालन के लिए कैसा सुन्दर विधान है। इसके अभाव में आज समाज में चोर, डाकू तथा सरकार के नियम सभी धनिकों को भयभीत रखते हैं।

दान की महिमा को समझकर ही साधक कहता है कि—'हे इन्द्र! मेरे अन्दर कभी अदानशीलता का भाव न ठहरे, न हमारे बीच में कोई अदानी कृपण निवास करे। अदानियों को मैं समाप्त कर दूँ।'[3]

इस प्रकार किसी देश-विशेष में जाकर, किसी जाति-विशेष से, किसी काल-विशेष में लोभ-मोह ग्रस्त होकर अधिक संग्रह न करना 'शारीरिक अपरिग्रह' है।

जब साधक अपने व्यवहार में मन-वचन एवं कर्म से अपरिग्रह का पालन करता है तो उसे बोध होने लगता है कि मैं पूर्वजन्म में कौन था, किस अवस्था में था, कौन हूँ, अगले जन्म में मेरी क्या गति होगी, क्या अवस्था होगी?[4] इस प्रकार भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों

---

१. **पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्।**—ऋग्० १०।११७।७
२. **श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।**—तै० शि० ११।३
३. **मान्तः स्थुर्नो अरातयः।**—ऋग्० १०।५७।१;
प्रत्युष्टा अरातयः॥—यजु० १।७
४. **कोऽहमासं कथमहमासं किं स्विदिदं, कथं स्विदिदं, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा रूपेणोपावर्तते।**
—व्या० भा० [**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्म कथंतासंबोधः**]—यो० २।३९

की आत्मस्वरूप-जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती है।

अपरिग्रह की सिद्धि के लिए आवश्यक है कि साधक उसी धन की कामना एवं प्रार्थना करे कि 'जिसके साथ बल, बुद्धि, वीर्य-शक्ति एवं सन्तान मिले, जिसे चोर आदि छीन न सकें। सब प्रकार के धनों का दाता परमात्मा ही है, अतः उसी से याचना करे। उस इन्द्र के सभी दान कल्याणकारी हैं; हानिकारक कोई नहीं। वही दान की प्रेरणा करता है, अतः ऐसे श्रेष्ठ धनदाता की सदैव प्रशंसा करो।'[1]

साधक को सर्वप्रथम पाँच यमों का पालन आवश्यक है। मन्त्र में 'यमो नो गातुं प्रथमो विवेद' पदों से स्पष्ट है कि शुभाशुभ-निमित्तों का ज्ञान यमों से ही सम्भव है।[2] यमों के परिपालन से ही मनुष्य मृत्यु-दुःख से छूट सकते हैं, अतः यमों का पालन सर्वप्रथम करणीय है।

नियम

यमों के परिपालन के साथ ही नियमों का सेवन भी आवश्यक है, क्योंकि नियमों के द्वारा साधक के जीवन का विशेष नियमन होता है। साधक के लिए यम-नियम क्रमशः सामाजिक तथा वैयक्तिक उपलब्धियाँ हैं। व्यक्तित्व और समाज परस्परापेक्षी हैं। दोनों का सहचारी भाव अपेक्षित है। वेद में यम-नियमों की उपमा पक्षी के दो पंखों से दी है।[3] जिस प्रकार पक्षी दोनों पंखों के फड़फड़ाने पर आकाश-गमन करते हैं तद्वत् योगी यम-नियम दोनों का समान भाव से संचालन करता हुआ योगमार्ग पर अग्रसर होता है। ये यम-नियमरूपी पंख अजर हैं, अर्थात् इनका प्रयोग कभी त्याज्य नहीं।

यजुर्वेदीय मन्त्र के द्वारा महर्षि दयानन्द सरस्वती ने योगी को शौच-सन्तोष आदि योग-नियमों से युक्त होना बताया है।[4] सामवेदीय

---

१. दा नो अग्ने धिया रयिं सुवीरं स्वपत्यं सहस्य प्रशस्तम्।—ऋग्० ७।१।५
त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः।—ऋग्० ७।३२।१७
अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः।
—ऋग्० ८।९९।४ (वेदामृत)

२. यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।—ऋग्० १०।१४।२

३. इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याᳬं रक्षाᳬंस्यपहᳬंस्यग्ने।—यजु० १८।५२
—डॉ० मुन्शीराम शर्मा, गु० प० ३२२

४. उपयाम गृहीतोऽसि शण्डाय।—यजु० ७।१२

ऋचा में 'दश' पद का तात्पर्य भाष्यकार ने पाँच यम तथा पाँच नियमों से लिया है।[1] ये यम-नियम नवीन साधक को योगमार्ग पर आगे-आगे बढ़ाते हैं।

उपासक सर्वव्यापक परमात्मा के कर्मों को देखकर उन कर्मों में क्रमबद्धता (नियमन) देखकर नियमित रहने का व्रत ले,[2] क्योंकि जो जागरूक होकर कर्तव्य-पालन में तत्पर रहता है, वही परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त कर सकता है।[3]

यमों के समान नियमों के विभाजन में भी आचार्यों का मतैक्य नहीं है। याज्ञवल्क्यसंहिता में तप, सन्तोष, ईश और वेद पर विश्वास, दान, ईश्वर-पूजा, सिद्धान्त-वाक्यों का सुनना, लज्जा, मति, जप तथा अग्नि-होत्र, इन दस को नियम कहा है,[4] परन्तु भागवत में स्वल्प भेद के साथ एकादश नियमों को माना है।[5] यह परिवर्धन परवर्ती काल में किया गया। वैदिक मतानुसार पाँच प्रकार के नियमों के लक्षण संहिताओं में मिलते हैं जिनका उल्लेख महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र में किया है—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान।[6] क्रमशः इनका वैदिक निरूपण यहाँ प्रस्तुत है।

शौच

'शुचिर् पूतीभावे' धातु से निष्पन्न 'शुचि' शब्द से भाव-अर्थ में अण् प्रत्यय[7] करके 'शौच' शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है 'पवित्रता'। वैदिक संहिताओं में पवित्रतावाची पूताः, पावन, पवित्र, पवमान,

---

१. एतमु त्यं दश क्षिपो हरिं हिन्वन्ति यातवे।—साम० १२७३
—भाष्यकार पं० विश्वनाथ वि० भा०

२. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।—ऋग्० १।२२।१९; यजु० ६।४; १३।३३; साम० १६७१; अथ० ७।२६।६; तै० सं० १।३।६।२

३. यो जागार तमृचः कामयन्ते। —ऋग्० ५।४४।१४; साम० १८२६

४. तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमति जपो हुतम्। नियमा दशप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।—याज्ञ० सं०

५. शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं तथार्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्।—भाग० स्कं० ११, अ० २०, श्लो० ३४

६. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥—यो० २।३२

७. इगन्ताच्च लघुपूर्वात्।—अष्टा० ५।१।१३१

शुद्धिः, शुद्धाः, शुन्धामि, शक्रः, शुचिः इत्यादि शब्दों के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं ।

पवित्रता की आवश्यकता—साधना-क्षेत्र में पवित्रता की महती आवश्यकता है । सामवेदीय ऋचा द्वारा उपासकों को शुद्धि-हेतु प्रेरित किया गया है—'हे उपासको ! तुम अपने-आपको पवित्र करो, जिससे तुम बल की प्राप्ति तथा प्रगति के लिए, प्रगति एवं बलों के दाता परमेश्वर की सर्वभूत-मैत्री के लिए और अपने पापों का स्वयं निवारण करने के लिए शान्तिदायक परमेश्वर को प्राप्त कर सको ।'[1]

ऋग्वेदीय मन्त्र भी प्रेरित करता है—'हे योगयज्ञ के लिए तत्पर साधको ! आप लोग मृत्यु के साधारण पद को हटाते हुए, लम्बी आयु को धारण करते हुए, सन्तान और धन से शुद्ध तथा पवित्र होओ ।'[2]

साधना के आवश्यक साधन पवित्रता के लिए साधक विद्वानों, प्राकृतिक पदार्थों तथा परमात्मा से भी प्रार्थना करता है । पवित्रता के लिए की गई प्रार्थनाएँ चारों वेदों में मिलती हैं—यथा ऋग्वेद में 'विद्वान् जन, वसु ब्रह्मचारी तथा देवकोटि के योगिजन मुझे अपनी उत्तम बुद्धियों से सदुपदेश देकर पवित्र करें एवं जातवेदः ईश्वर मुझे पवित्र करें ।'[3] सामवेदीय 'पवमानकाण्ड' इसी प्रकार की प्रार्थनाओं का द्योतक है । यजुर्वेद में भी ब्रह्म की पवित्र रश्मियों तथा शक्तियों से पवित्र करने की प्रार्थनाएँ विद्यमान हैं । इसी प्रकार अथर्ववेद में भी ऐसी अनेक प्रार्थनाएँ हैं ।

शुद्धि को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) बाह्य,

---

१. पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्धाय वीतये ।
यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम् ।।—साम० ११५६

२. मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ।।—ऋग्० १०।१८।२

३. पुनन्तु मां देवजनाः पुनन्तु वसवो धिया ।
विश्वे देवाः पुनीत मा जातवेदः पुनीहि मा ।।—ऋग्० ९।६७।२७; यजु० १९।३९; तै० ब्रा० १।४।८।१; २।६।३।४; अथ० ६।१९।१;
अन्येऽपिमन्त्राः—ऋग्० ९।७०।८, ९, १०६; १०७; ९।६६;
सम्पूर्णनवमण्डलम्; साम० पवमान कां० ४६७-५८५; उत्तराचिके यत्रतत्र द्रष्टव्याः; अथ० ६।१९।६२; २०।१३७; ४-६ इत्यादयः ।

एवं (२) आन्तरिक। बाह्य—शारीरिक शुद्धि, एवं आन्तरिक—वाचिक तथा मानसिक शुद्धि है।

शारीरिक शुद्धि

शारीरिक शोधन पवित्र जल से होता है। यजुर्वेद में कहा गया है: 'जल के समान पवित्रकारक विद्वान् पुरुषो ! वृक्ष से पककर जैसे फल अलग हो जाता है तथा स्वेदयुक्त पुरुष स्नान करके जैसे मलिनता से पृथक् हो जाता है उसी प्रकार शुद्धिकारक-पदार्थ से पवित्र घृत के समान मुझे पवित्राचरण से आप पवित्र करें।'[1]

शारीरिक शुद्धि के लिए जल उपयोगी, पुष्टिकारक, रोगनाशक, ब्रह्मचर्य-पालन तथा तप में सहायक प्राणों को धारण करनेवाले तथा माता के समान पालक हैं।[2]

आयुर्वेद के उद्‌गम अथर्ववेद में जलों के भेदों वर्षा के जल, शुष्क-प्रदेश के जल, अधिक जलीय प्रदेश के जल, कुए के जल तथा घड़े में रखे गये जल को विभिन्न अवस्थाओं में अनुपान-भेद से उपयोगी ओषधि-रूप बताया गया है।[3] इस प्रकार शरीर, वस्त्र, स्थान आदि की शुद्धि का प्रमुख साधन जल ओषधिरूप है, अतः बाह्य शुद्धि का कार्य जलों से लेना योग्य है।

बाह्य शुद्धि के अन्तर्गत 'अर्थशुचि' का महत्त्वपूर्ण स्थान है अर्थात् अन्न-धन-संग्रह करने के लिए छल-कपट, असत्य एवं भय आदि दुष्ट साधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[4] वेद में धन से व्यापार करके धन को बढ़ाने के लिए लाभ आदि लेने का संकेत मिलता है।[5] साथ ही दुष्ट व्यवहारों का प्रयोग न स्वयं करना चाहिए और न दुष्ट व्यवहार करनेवालों के चक्कर में ही फँसना चाहिए—ऐसा भी विधान किया

---

१. द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिवः।
पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः॥—यजु० २०।२०

२. आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु...।—यजु० ४।२

३. द्रष्टव्य—अथ० १।४-५-६; ६।२३-२४; १।३३; ३।१३; ७।७।८९

४. सर्वेषामेव शौचानामर्थ-शौचं परम स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिः शुचिर्हि स न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥—मनु० ५।१०६

५. येन धनेन प्रपणं चरामि।—अथ० ३।१५।५-८
द्रष्टव्य—ऋग्० १।३१।८-१६;
शुद्धो रयिं निधारय।—ऋग्० ८।९५।८-९

गया है। इसी प्रकार उपासक का पारस्परिक लेन-देन का व्यवहार भी निश्छल होना चाहिए। वेद में सुखकारी शुद्ध धनों की कामनाएँ की गई हैं। धन वही सुखकारी होता है जो परिश्रम से, पवित्रता से अर्जित किया जाता है। दुष्ट साधनों से प्राप्त धन पहले धन को भी दूषित कर देता है, अतः 'अर्थशुचिता' अत्यन्त आवश्यक है।

वाचिक शुद्धि

रसन एवं भाषण की साधिका वाणी उभय-इन्द्रियगण की प्रतीक है। कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों की शुद्धि का तात्पर्य इन्द्रिय-संयम से है। अथर्ववेद में वाग्-आदि इन्द्रियों की शुद्धि के लिए, उनके सशक्त तथा निर्दोष होने की प्रार्थना की गयी है।[1] यजुर्वेद की ऋचा में साधक अपनी इन्द्रियों की कमियों को स्वीकार करता हुआ निवेदन करता है—'हे बृहस्पते! मेरी आँख आदि इन्द्रियों में जो न्यूनतारूपी छिद्र हैं उनको आप प्रपूरित कीजिए।'[2] विद्वान् ही इन्द्रियों का सदुपयोग करने की सीख देते हैं, वही भद्र अर्थात् मुक्ति-विषयक विचार सुनने को समर्थ बनाते हैं एवं दृष्टि के दोष को दूर करते हैं। विद्वानों की संगति से दृढ़ तथा स्थिर अंगों से परमात्मस्तुति का सामर्थ्य आता है।[3] अतः विद्वानों से इस सामर्थ्य के प्रदान करने का निवेदन किया गया है। 'आचार्य एवं आचार्य-पत्नी भी सद्व्यवहार के प्रशिक्षण द्वारा वाणी आदि इन्द्रियों के दोष निकाल सकते हैं।'[4] 'साधक सत्य, निश्छल, स्पष्टता का व्यवहार करके वाणी को पवित्र करे एवं शुद्ध सामगान तथा शुद्ध वचनों से स्तुति करे, मधुरभाषी हो तभी वाणी की शुद्धि सम्भव है।'[5] इसका अधिक विवरण 'सत्य' के निरूपण-प्रसंग में देखें।

---

१. वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्षणोः श्रोत्रं कर्णयोः।—अथ० १९।६०।१
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः।—अथ० १९।६०।२

२. यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥—यजु० ३६।२

३. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥—यजु० २५।२१

४. वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि···
चरित्राँस्ते शुन्धामि।—यजु० ६।१४-१५

५. एतो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।—ऋग्० ८।९५।७

मानसिक शुद्धि

आन्तरिक शुद्धि से तात्पर्य अन्तःकरण में उठनेवाले भावों की शुद्धि से है। कल्याणमयी पवित्र मानसिक भावनाओं को जन्म देना तथा दूषित भावों को साधना, सत्संग, प्राणायाम, आत्मचिन्तन द्वारा समाप्त करना ही मानसिक शुद्धि है। इसका विशद विवेचन 'मनोमय कोश' के प्रसंग में द्रष्टव्य है। धर्म से संचित धन, शुद्ध कर्मों से प्राप्त सात्त्विक खान-पान द्वारा मानसिक भावों का परिष्कार होता है। ईश्वरोपासना, सांसारिक अभ्युदय तथा सर्वविध उन्नति आन्तरिक भावों की शुद्धि के कारण होती है। वेदों में आन्तरिक भावशुद्धि की प्रबल कामनाएँ एवं प्रार्थनाएँ की गई हैं।[1]

वेदशास्त्रोक्त निषिद्ध कर्मों के त्याग से; काम, क्रोध, लोभ, मोह, भ्रान्ति से; ईर्ष्या-द्वेष, तृष्णा, राग, अहंकार, कुविचार, मृत्यु के भयरूप पंचक्लेशों की निवृत्ति से एवं दया, ऋजुता, सत्य नम्रता, प्रणव आदि के पवित्र जप, शुभसंकल्प, अहिंसा तथा धारणा, ध्यान एवं वृत्तिनिरोध-सहित स्वाध्याय से बौद्धिक तथा मानसिक शुद्धि होती है।

शरीर की आन्तरिक शुद्धि के लिए हठयोग में नेति, धौति, बस्ति, वमन-विरेचन-गजकरणी आदि शोधक क्रियाओं का विधान किया है। वैदिक संहिताओं में इनका कोई संकेत नहीं मिलता, साथ ही उपनिषद्, गीता तथा मनुस्मृति, योगदर्शन आदि यौगिक साहित्य में भी इनका प्रयोग नहीं बताया गया।

आयुर्वेद में शारीरिक शुद्धि के लिए वमन, विरेचन, स्वेदन, स्नेहन और बस्ति आदि पञ्चकर्म का विधान किया है। यह पञ्चकर्म अस्वस्थ को स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए हितकर है, परन्तु योगसाधना में तो उक्त साधनों से ही शोधन सम्भव है।

शुद्धि का फल

कठोपनिषद् में निरूपित किया है कि 'जो मनुष्य बुद्धिमान् नहीं होता, जिसका मन वश में नहीं और जो सदा अपवित्र रहता है, वह

---

१. पवस्व वाजसातयेऽभि विश्वानि काव्या।
त्वं समुद्रं प्रथमो वि धारयो देवेभ्यः सोम मत्सरः॥—ऋग्० ९।१०७।२३
स तू पवस्व परिपार्थिवं रजो दिव्या च सोम धर्मभिः।—२४
पवमाना असृक्षत पवित्रमति धारया।—२५

उस परमधाम को नहीं पाता किन्तु संसार में ही रहता है—जन्म-मरण के चक्कर में ही घूमता फिरता है।'[1] परन्तु 'जो मनुष्य विज्ञानवान् है, अच्छे मनवाला है और सदा से पवित्र है, वह ही उस परमपद को प्राप्त करता है जहाँ से परान्तकाल तक पुनः जन्म नहीं लेता।'[2]

बाह्याभ्यन्तर शुद्धि की सिद्धि होने पर योगी को अपने अङ्गों से घृणा=ग्लानि होने लगती है। शरीर से किसी प्रकार की ममता नहीं रहती। मिट्टी तथा जलादि से बार-बार धोने या पवित्र करने पर भी शरीर की अपवित्रता को स्वाभाविक रूप में देखकर अन्यों से संसर्ग=स्पर्श या आलिङ्गन नहीं करता।[3] इसके अतिरिक्त बुद्धि की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, जितेन्द्रियता और आत्मदर्शन की योग्यता होती है,[4] अतः बाह्य एवं आभ्यन्तर शौच का प्रयत्न साधक के लिए नितान्त उपादेय है।

सन्तोष

सम् उपसर्गपूर्वक[5] 'तूष तुष्टौ' एवं 'तुष प्रीतौ' धातु से निर्मित सन्तोष पद का अर्थ है सम्यक् प्रकार से तुष्टि एवं प्रीति अर्थात् शरीर से पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त धन से अधिक की लालसा न करना, न्यूनाधिक की प्राप्ति पर शोक और हर्ष न करना।

वैदिक संहिताओं में 'सन्तोष' पद का प्रयोग नहीं हुआ है परन्तु सन्तोषवाची[6] 'तोशमानाः', 'तुषयन्ती', 'तोशतमाः' इत्यादि पदों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। सन्तोष का पालन तीन प्रकार से करणीय है—

---

१. यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥—कठो० ३।७

२. यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥—कठो० ३।८

३. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।—यो० २।४०

४. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।—यो० २।४१

५. तुष तुष्टौ [भ्वा० प०] तुष प्रीतौ [दिवादि० प०]

६. तोशमानाः।—यजु० १२।६९; अथ० ३।१७।५;
तुषयन्ती।—ऋग्० १०।२७।१६;
तोशतमाः।—ऋग्० १।१६९।५

मानसिक सन्तोष

धन-ऐश्वर्यादि भोगसामग्री की न्यूनता में ईश्वर, प्रारब्ध या समाज पर किसी प्रकार का क्रोध, रोष या अधैर्य उत्पन्न न होना, मानसिक या बौद्धिक सन्तोष है। इसके साथ ही धन-ऐश्वर्यादि की अधिकता में हर्ष तथा विलासिता में न फँसकर, आवश्यकता से अधिक को दानादि के द्वारा त्याग देना भी आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब बुद्धि से भोगविलास या तृष्णा का क्षय हो जाता है। 'सन्तोष बुद्धि उत्पन्न करने के लिए त्यागपूर्वक भोग करो, किसी के धन की लालसा मत करो',[1] वेद का यह आदेश पालनीय है।

आजीविका के लिए किये गये प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्तव्य भोग्य-सामग्री में घाटा पड़ने या अतिवृष्टि-अनावृष्टि के कारण विनष्ट हो जाने से चिन्तित न होकर परमात्मा के न्याय पर सन्तोष करना, बुद्धि को विकृत न करना ही श्रेयस्कर है। नित्य पुरुषार्थ का ही अवलम्बन करना चाहिए।

जो व्यक्ति विना परिश्रम के जुआ आदि खेलकर बहुत-सा धन इकट्ठा करना चाहते हैं, वेद उनके इस कार्य की निन्दा करता है और मित्र-भावना से समझाता है कि 'हे मनुष्य ! तू जुआ मत खेल, कृषि आदि परिश्रमसाध्य कर्मों को कर। इस प्रकार जो धन-अन्न मिलता है उसको बहुत मानता हुआ, इसीमें सन्तोष कर और प्रसन्न रह।'[2]

सन्तोषपूर्वक सुखप्राप्ति की पुष्टि भी की गई है—'जो कृषक परिश्रमपूर्वक बैलों से हल चलाकर भूमि जोतते, बोते हैं, वे सन्तुष्ट रहते हुए अन्न पैदा कर सुखों को प्राप्त होते हैं।'[3] महर्षि पतञ्जलि ने वैदिक सिद्धान्त के अनुसार सन्तोष का फल 'उत्तम सुख की प्राप्ति' ही बताया है।'[4]

यहाँ यह स्मरणीय है कि सन्तोष का अर्थ जहाँ यदृच्छा से परितोष

---

१. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।—यजु० ४०।१

२. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।

—ऋग्० १०।३४।१३

३. शुनं सु फाला वि कृषन्तु भू ँ म शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्त्तनास्मे॥

—यजु० १२।६९

४. सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः।—यो० २।४२

करना है वहाँ उसका अर्थ आलसी, भाग्यवादी बनकर बैठे रहना नहीं है। झूठे सन्तोष का आश्रय लेकर लोग न केवल त्यागने-योग्य दुःखों को चुपचाप स्वयं सह लेते हैं, वरन् सामर्थ्य होते हुए भी दूसरों की सहायता के लिए हाथ नहीं बँटाते। वेद ऐसे आलसी-प्रमादी तथा भीरु बनकर परिश्रम न करनेवालों का प्रबल विरोधी है। वैदिक संहिताओं में धन, ऐश्वर्यों एवं शक्तियों की बहुशः कामनाएँ हैं, झूठे सन्तोष को नहीं माना गया है।

वाचिक सन्तोष

वाचालता को त्यागकर परिमित बोलना ही 'वाचिक सन्तोष' है। कटु वचन सुनकर, अपमानजनित व्यवहार होने पर या किसी के क्रोध करने पर भी आवेश में आकर कठोर वचन या गाली आदि न देना, निवृत्ति का उपदेश, विवाद का त्याग, गुरुजनों से प्रताड़ित होने पर प्रत्युत्तर न देना तथा यथाशक्ति मौन रहना वाचिक सन्तोष में आता है। वेद में वाचिक सन्तोष के लिए भद्र-मधुर वाणी, शान्तिमय वचन बोलने का निर्देश किया है।[1]

शारीरिक सन्तोष

शरीर के काम-क्रोधादि दोषों से प्रभावित होकर चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि दुष्कर्म न करना एवं दीन-दुःखियों की सेवा, सत्कर्मों का अनुष्ठान तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना शारीरिक सन्तोष है। अपराधी को क्षमा कर देना और स्वस्थ-सुडौल शरीर होने पर भी अधिक स्थूल होने की अभिलाषा न करना शारीरिक सन्तोष में सम्मिलित है। सन्तोष-विरोधी दुष्कर्मों का निषेध वेदों में विशद रूप से किया गया है जिनका विवरण यमों में किया गया है।

प्रभुभक्त गृहस्थ जन सन्तोषपूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए अपनी उदारता प्रकट करते हैं कि—'हे भगवन्! आपकी कृपा से हम गृहमेधी भक्तजन आपके दिये हुए धन को प्रजाओं में परस्पर विभाग करते हुए अपने-अपने घर में सुखपूर्वक निवास करते हैं। घर

---

१. **वाचं वदतु शन्तिवाम्।**—अथ० ३।३०।२
वाचं वदत भद्रया।—अथ० ३।३०।३
द्रष्टव्य—ऋग्० १।१६७।३; १०।७१।२-३ इत्यादयः।

में आये हुए अतिथि के लिए उत्पद्यमान भरण-पोषण-आधार को परस्पर विभक्त कर देते हैं। इस प्रकार अपने घरों में सुखपूर्वक निवास करते हैं।'[1] समाज में रहकर भी सन्तोष का पालन वे ही कर सकते हैं जो यथासम्भव 'शक्ति के अनुसार पंचमहायज्ञों का पालन करते हुए जितना धनोपार्जन करना आवश्यक है उतना ही करते हैं। तृष्णा, लोभ और लालच का त्यागकर सन्तोष से प्रसन्नतापूर्वक जीवन-निर्वाह करना सुख का मूल है, इससे विपरीत आचरण दुःख का कारण है।'[2] जिस प्रकार नचिकेता ने धन को तथा भोग-विलास को अनित्य, जीर्ण करनेवाले बताकर ब्रह्मविद्या की अभिलाषा की थी, तद्वत् प्रत्येक साधक सब सांसारिक सुखों को गौण मानकर मुख्य लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति का अभिलाषी बना रहे। जैसा कि महर्षि व्यास ने कहा है कि 'संसार में जो भी कामसुख=विषयसुख हैं और जो भी दिव्य सुख हैं, ये सब तृष्णा-क्षय=वासनाक्षयरूप सुख की सोलहवीं कला [सोलहवें भाग] के भी समान नहीं हैं।'[3] यह सत्य है कि 'सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त शान्तचेता योगियों को जो सुख मिलता है, वह धन-ऐश्वर्य के लोभ से इधर-उधर दौड़नेवालों को नहीं मिलता।'[4]

तप

'तप' शब्द को अभिव्यक्त करनेवाली तीन धातुओं का प्रयोग वेदों में मिलता है जिनका संकलन महर्षि पाणिनि ने धातुपाठ में सन्ताप, ऐश्वर्य तथा दाह अर्थों में किया है।[5]

वैदिक संहिताओं में 'तप' का निरूपण विस्तृत रूप से व्याख्यात है।

---

१. प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्तमायते।
—ऋग्० २।१३।४

२. सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥—मनु० ४।१२

३. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥—यो० व्या० भा० २।४२

४. सन्तोषामृत तृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥—सुभा० सं० २।१

५. तप सन्तापे [भ्वादि० प०], तप ऐश्वर्ये [दिवादि० आ०], तप दाहे [चुरादि० सकर्म०]

सम्पूर्ण व्याख्यात विषय को तीन भागों—मानसिक तप, वाचिक तप, शारीरिक तप—में विभक्त किया जा सकता है।

मानसिक तप

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आन्तरिक शत्रुओं से प्रभावित होकर मन में उत्पन्न होनेवाले दुर्भावों को उत्पन्न न होने देना तथा दैवी भावों के द्वारा आसुरी वृत्तियों को नष्ट करते रहना ही मानसिक तप है। विषयासक्ति से हटकर इन्द्रिय-दमन करते रहना इसके अन्तर्गत आता है।

यजुर्वेदीय मन्त्रांश में संकेत है कि 'उत्कृष्ट गुणवाले साधक साधारण जनों को तप का महत्त्व बताकर प्राणों के संयम, धर्माचरण एवं विद्यानुष्ठानरूप तप से जैसे हो सके वैसे तप करे।'[1] ऋग्वेद में कहा है कि—'हे तपस्वी! तू अपने आन्तरिक शत्रुओं को अग्नि के समान दग्ध कर दे।'[2] अन्तःकरण तथा आत्मा को तप से तपाने की शिक्षा देते हुए वेद कहता है कि 'हे विद्वान् तपस्वी! देह का जो भाग अज अर्थात् नित्य आत्मा है, उसको ज्ञान और विवेकरूप तप से तपा। तेरा तेज उसे तपावे, तेरा कल्याणमय रूप उसे तपाकर, सुकृतवाले लोकों को प्राप्त कराए।'[3]

मानसिक तपस्वी की आन्तरिक वृत्तियों का शोधन होने पर जब संस्कारों का भी परिष्कार हो जाता है, तब जीव जन्मान्तर में ऐसे तपोनिष्ठ माता-पिता को प्राप्त करता है जो ज्ञानपूर्ण सत्य को माननेवाले, यज्ञ करनेवाले और सत्य का प्रचार-प्रसार करके बढ़ानेवाले होते हैं। साथ ही वह सहस्रों सूक्ष्म दृष्टियोंवाले, क्रान्तदर्शी, ज्ञानकर्म से परमात्मा के रक्षक मन्त्रद्रष्टा ऋषिरूप गुरुओं को प्राप्त करता है।[4]

---

१. चित स्थोर्ध्वचितो भृ ूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्।—यजु० १।१८

२. तपोष्वग्ने अन्तराँ अमित्रान् तपा शंसमररुषः परस्य।—ऋग्० ३।१८।२

३. अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥
—ऋग्० १०।१६।४

४. ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितॄन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥—ऋग्० १०।१५४।४
सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ गच्छतात्॥—ऋग्० १०।१५४।५

अथर्ववेद में भी कहा है—'हे विद्वन् योगी ! तुझे पूजायोग्य विवेक-ज्ञान ने ऊँचा चढ़ाया है। शुद्धाचरण तथा अतिशय तपरूप ब्रह्मचर्यादि-पालन से इस ज्ञान को सर्वत्र फैला। उत्तम ऋषिजन भी इसी प्रकार मिलकर इस योगयज्ञ को ऋतुओं के साथ उपकार में लाएँ।'[1] इस प्रकार मानसिक तथा बौद्धिक तप के लिए संहिताओं में विशेष प्रेरणाएँ उपलब्ध हैं।

गीता में मानसिक तप का परिगणन इस प्रकार किया है—मन और बुद्धि को शान्त-स्वच्छ-पवित्र रखना, प्रसन्न रहना, मौन रहना, अन्तः-करण को वश में रखना तथा भाव संशुद्धि करने को मानस तप कहते हैं।[2]

वाचिक तप

सत्यभाषण, मितभाषण, प्रिय बोलना तथा शास्त्रोक्त शुद्ध विचारों में वाणी का अधिक प्रयोग करना और व्याकरण-निष्ठ शुद्ध भाषा का प्रयोग करना, निर्भयतापूर्वक विना रुके अपने भावों को व्यक्त करने की क्षमता, धर्म की हानि करनेवाली मूर्खों की सभा में सत्य को अवश्य प्रकट करना, हँसी-मजाक में भी असत्य या छलयुक्त वचन का प्रयोग न करना इत्यादि वाणी के तप हैं।

यजुर्वेद में वाचिक तप के सम्बन्ध में कहा गया है—'जिस प्रकार वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी वेदवाणी, विद्युत् आदि वैज्ञानिक रहस्यों को तथा आध्यात्मिक रहस्यों को जानने के लिए ब्रह्मचर्य-पूर्वक अध्ययन-अध्यापन करते हुए वाणी को तपाते हैं'[3] इसी प्रकार वाक्संयम के लिए प्रत्येक जिज्ञासु यथाशक्ति स्वाध्याय करने का यत्न करे।'

ऋग्वेद में वाणी के बल के सम्बन्ध में कहा है कि 'जो तपस्वी

---

१. अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम्।
आर्षेया दैवा अभिसङ्गत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु ॥
—अथ० ११।१।१६

२. मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपस्ते मानसमुच्यते ॥—गीता० १७।१६

३. इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातुमनोजवास्त्वा ···यज्ञाग्निः सृजामि ॥—यजु० ५।११

अपनी ओजस्वी वाणी के द्वारा विरुद्धवाणियों, दुःख देनेवाली वाणियों तथा बहुत अकल्याणकारिणी वाणियों को दबा देता है या मार देता है, जो पिता के समान जगत् की शक्तियों को बढ़ाता है, उस तपस्वी की वाणी की शक्ति की सभी प्रशंसा करते हैं।'[1]

वाणी से सत्य, प्रिय, मितभाषण करने के विषय को सत्य के प्रसंग में लिखा जा चुका है। वाग्व्यवहार को सर्वथा संयत करना, वाणी के तप का विषय है जिसके विशद विवेचन हेतु 'शोधप्रबन्ध' की परिमितता आज्ञा नहीं देती। गीता में वाचिक तप का वेदसम्मत लक्षण इस प्रकार किया गया है—'उद्वेग या आक्रोश न करनेवाला वाक्य तथा जो सत्य, प्रिय एवं हितकारी हो और स्वाध्याय का अभ्यास, ये वाङ्मय तप के कार्य हैं।'[2] इस तरह वाणी का तप करके योगी अमोघशक्ति संचित करे।

शारीरिक तप

शरीर से शीत, वर्षा तथा उष्णता सहन करने की शक्ति, भूख-प्यास सहन करना तथा ब्रह्मचर्य-पालन के लिए आसन, व्यायाम, प्राणायामादि करना शारीरिक तप के लक्षण हैं। शारीरिक तप से मानसिक पापों का भी नाश हो जाता है, अतः मानस एवं वाङ्मय तप के साथ शारीरिक तप की महती आवश्यकता है।

शारीरिक तप के लिए अथर्ववेद में यह प्रेरणा दी गई है—'हे विद्वन्! तू शान्ति के लिए तप कर, और किसी के शरीर को अत्याचार से मत तपा, सेवनीय बलों में तेरा बल-तेज बढ़े।'[3] यजुर्वेद में तप[4] के लिए विशेष प्रेरणा, साधन एवं तपस्या के फलों का प्रतिपादन विशद रूप में मिलता है। शारीरिक तप-विषयक विशेष विवेचन 'अन्नमय कोश' के शोधन-प्रसंग में किया गया है।

---

१. यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः॥
—ऋग्० १०।२३।५

२. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्यते॥—गीत० १७।१५

३. शं तप माति तपो अग्ने मा तन्वं तपः।
वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः॥—अथ० १८।२।३६

४. द्रष्टव्य—यजु० ५।६; १८।२३; ३७।११; १४।२३; ५।४०; इत्यादयः।

गीता में शारीरिक तप के साधनों को सामान्य भेदसहित प्रदर्शित किया गया है—'देवकोटि के आत्मदर्शियों, द्विजातियों, गुरुजनों तथा प्रज्ञा-विवेकवाले साधकों का सत्कार करना, शुद्धि रखना, सरलता का व्यवहार, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसाव्रत का पालन करना आदि शारीरिक तप कहे जाते हैं।'[1]

सामवेदानुसार 'सब प्रकार के तपों से तृप्त तपस्वी ही परमात्मा को प्राप्त करने का सामर्थ्य रखता है एवं तप से आत्मा प्रसन्न होती है। परमात्मा तपस्वी एवं पुरुषार्थी जनों की रक्षा तथा प्रेरणा करता है।'[2] श्वेताश्वेतरोपनिषद् में भी कहा है—'जो उपासक ब्रह्म को सत्य से, आस्तिक बुद्धि से और सर्वविध तप से देखता है, वह अपनी आत्मा में ही उसे प्राप्त करता है।'[3]

सर्गारम्भ में ऋत-सत्य के अनन्तर तप ही उत्पन्न हुआ।[4] बृहत् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं।[5] इस प्रकार तप का महत्त्व वेदों में विविध स्वरूपों में वर्णित है। अतः उपासकों के लिए तप का अनुष्ठान अपरिहार्य है।

योगसूत्रकार पतञ्जलि ने तप की परिभाषा नहीं दी। व्यास-भाष्य में तप का स्वरूप शारीरिक तप की पुष्टि अधिक करता है।[6] तप के अभ्यास का फल अशुद्धि के नाश होने से शरीर तथा इन्द्रियों में सिद्धियाँ धारण करने का सामर्थ्य आता है।[7] इसका स्पष्टीकरण भोजवृत्ति में किया है कि—'चान्द्रायण व्रत[8] आदि के द्वारा चित्त के क्लेशों का नाश

---

१. **देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।**
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥—गीता० १७।१४

२. **कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः।**
घ्नता वामश्मया क्षयमाणोंशुनेत्थमु आद्वन्यथा॥—साम० ३०५
स मृज्यमानो दशभिः।—ऋग्० ९।७०।४; **तं वः सखायो।**—साम० ५६९

३. **एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येननं तपसा योऽनुपश्यति।**—श्वेता० १।१५

४. **ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।**—ऋग्० १०।१९०।१

५. **सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।**—अथ० १२।१।१

६. **तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च।**—व्या० भा० २।३२

७. **कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।**—यो० २।४३; व्या० भा०

८. **चान्द्रायणादिना चित्तक्लेशक्षयस्तत्...महत्त्वादीनि॥**—भो० वृ० २।४३

होता है, उनके क्षय से इन्द्रियों का सूक्ष्म, ग्रावृत ग्रौर दूर-दर्शनादि सामर्थ्यों का ग्राविर्भाव होता है तथा शरीर को इच्छापूर्वक सूक्ष्म-विशालादि कर लेना भी योगी को सिद्ध हो जाता है।

तप के ग्रन्तर ग्रब हम स्वाध्याय के स्वरूप का विवेचन करेंगे।

स्वाध्याय

शौच, सन्तोष ग्रौर तप की वृद्धि स्वाध्याय से होती है। स्वाध्याय से ग्रपना ग्रध्ययन तो होता ही है, जो बाह्य वातावरण को प्रेरित करता है, साथ ही इससे वेद-शास्त्र का ग्रध्ययन भी ग्रभिप्रेत है। स्वाध्याय के क्षेत्र में प्रवचन भी ग्राता है।

व्यास ने 'मोक्षशास्त्रों का ग्रध्ययन तथा प्रणव-जप को भी स्वाध्याय कहा है।'[1] इसके ग्रतिरिक्त 'ग्रधिपूर्वक इङ् ग्रध्ययने' से निष्पन्न 'ग्रध्याय' शब्द का ग्रर्थ, 'स्वस्य ग्रध्ययनं स्वाध्यायः' ग्रन्य चिन्तकों के द्वारा किया गया है, वह भी उपयुक्त ही है। इस निरुक्ति के द्वारा 'ग्रात्म-चिन्तन' भी स्वाध्याय है।

वेद के स्वाध्याय के लिए प्रेरणा

स्वाध्याय का प्रथम साधन दैवी वाणी 'वेद' है—'जिस वाणी के द्वारा वेदवाणी के पति परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम प्रकृतिजन्य पदार्थों के नामों को मानवों के ज्ञान के लिए प्रेरित किया। पवित्रान्तःकरणवाले ऋषियों ने इससे जो प्रथम प्रेरणा प्राप्त की वह समस्त वाणी का ग्रग्रमूल है। यह श्रेष्ठ ग्रौर निर्दोष वाणी जिसको ऋषिजन उच्चारण करते हैं, वह प्रथम हृदय-गुहा में निहित थी, पुनः प्रकट हुई।'[2]

वेदवाणी को पढ़कर 'धीर पुरुष ग्रपनी वाणी को बड़ी कठिनता से चलनी से छाने हुए सत्तुग्रों के समान पवित्र करते हैं ग्रौर मन से पवित्र की गयी शुद्ध वाणी को बोलते हैं। मित्रभाव से शब्दार्थ-सम्बन्ध को

---

१. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा।

—व्या० भा० २।३२; २।१

२. बृहस्पते प्रथमं वाचो ग्रग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रामासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

—ऋग्० १०।७१।१

जाननेवाले योगिजनों की वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है।'[१]

ज्ञान देवतावाले इस सम्पूर्ण सूक्त में वेद-वाणी के स्वाध्याय की महिमा प्रदर्शित की गयी है, अतः स्वाध्याय वेद का ही उत्तम है, क्योंकि अन्य ग्रन्थ तो मनुष्यों की कृतियाँ हैं जिनमें न्यूनता की सम्भावना है। वेद के शब्दों में कामना है कि--'हमें पौरुषेय वाणी से हटकर दिव्य वाणी का ही वरण करना चाहिए, वही दिव्यता की सम्पादिका है। मानवीय वाणी में सत्य-असत्य मिश्रित रहते हैं। दैवी वाणी अपने गर्भ में सत्यरूपी वत्स को धारण कर पुष्ट भी करती है।'[२]

जप-रूप स्वाध्याय

वेदों में 'ओ३म्' पद का पवित्र जाप करने का निर्देश साधकों को दिया गया है—'हे क्रतो=कर्मशील मानव ! तू अन्य कर्म करते हुए भी परमात्मा के प्रमुख नाम 'ओ३म्' का स्मरण किया कर।'[३] विक्षिप्त चित्तवालों को मृत्युञ्जय[४] तथा गायत्री इत्यादि श्रेष्ठ अर्थवाले मन्त्रों का जप करना चाहिए। इसके अतिरिक्त एकाग्र चित्त के लिए 'ओ३म्' पद का जप ही सर्वशास्त्रानुमोदित है। सामवेदीय मन्त्रों का 'सामगान तथा उद्गीथ' उपासना[५] कहलाती है। उपांशु जप तथा बोलकर जप करने का अधिक विवरण मनोमय कोश में सविस्तर दिया गया है।

स्वाध्याय का फल

'जो साधक सबके साक्षी, पिता के सदृश वर्तमान, न्यायेश, दयालु, शुद्ध-सनातन परमात्मा की प्रार्थना-उपासना करता है, परमेश्वर उसे दुष्टाचरण से पृथक् करके पुरुषार्थयुक्त तथा पवित्र करके धर्म, अर्थ,

---

१. **सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।**
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
—ऋग्० १०।७१।२

२. **अपक्रामन् पौरुषेयाद् दैव्यं वचः॥**—अथ० ८।१०५।१

३. **'ओ३म्' क्रतो स्मर।**—यजु० ४०।१५

४. **त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।**—ऋग्० ७।५९।१२; यजु० ३।६०; अथ० १४।१।१७; तै० सं० १।८।६।२

५. द्रष्टव्य—छान्दो० प्रपा० २ सम्पूर्ण

काम तथा मोक्ष को प्राप्त कराता है। साधक स्वाध्याय-सत्संग और योगाभ्यास से परमात्मा की विशेष भक्ति उपासना करके अभीष्ट सुखों से सम्पन्न होते हैं।'[1]

'योगयज्ञ से स्वाध्याय की सफलता एवं समर्थता होती है तथा स्वाध्याय से योग-साधना का मार्ग प्रशस्त होता है।'[2] व्यास-भाष्य में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है—'स्वाध्याय तथा योगाभ्यास के परस्पर सम्बन्ध से परमात्मा का साक्षात्कार होता है।'[3]

वैदिक स्वाध्याय-यज्ञ द्वारा भक्तिरस का सर्जन तथा परमेश्वर-गुणों की वृद्धि करने से वेदवाणियाँ साधक को परमात्मा के अभिमुख कर देती हैं। स्वाध्याय से जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है, जैसे गौएँ रँभाती हुई अपने-अपने मार्ग को पहचान लेती हैं।[4]

बहुश्रुत विद्वान् उपासक ही परमात्म-दर्शन में समर्थ होता है।[5] उपनिषद् में कहा है कि वेदज्ञानरहित उपासक उस महान् ब्रह्म को नहीं जान सकता। अतः वेदाभ्यासी ही 'अनन्त पदोंवाली वेदवाणी का साधना में सफल प्रयोग करता है एवं सहस्रों प्रकार के सामगानों द्वारा स्तुतियों में तथा उपासना प्रसंगों में प्रयोग करता है।

वैदिक स्वाध्याय से ही परमात्मा के उपासकों की जन्म-मरण-व्यवस्था, मुक्ति तथा अन्य गतियों का ज्ञान होता है।[6] उपासना के बाद भी परमात्मकृपा से ही वेद के प्रति श्रद्धा होती है, अतः शतपथ-ब्राह्मण में स्वाध्याय को तप कहा है। इस प्रकार स्वाध्याय के महत्त्व

---

१. 'तां जुषस्व गिरं मम' 'तत्सवितुरेण्यं' 'देवस्य सवितुर्वयं'

—ऋग्० ३।६२।८, १०, ११,

देवं नरः सवितारं विप्रा यज्ञैः सुवृक्तिभिः।
नमस्यन्ति धियेषिताः॥—१२

२. आधीतं च मे… यज्ञेन कल्पन्ताम्।—यजु० १८।२

३. स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥—व्या० भा० १।२८

४. इष्टा होत्रा असृक्षतेन्द्रं वृधन्तो अध्वरे।—साम० १५१

५. उद्धेदभिः श्रुतामघं।—साम० १२५; १४५०; नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्। तै० सं० ३।१२।९।७; गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।

—साम० ३४२

६ त्वं ह्याङ्ग दैव्यम्।—साम० ५८३; यदिन्द्राहं यथा।—साम० १८३४; स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।—तैत्ति० ११।१

एवं फल को जानकर साधक योगाभ्यास के साथ वैदिक स्वाध्याय कभी न त्यागे। उपनिषदों ने भी स्वाध्याय को अत्याज्य कहा है।

स्वाध्याय का फल-निर्देश करते हुए सामवेदीय ऋचा में कहा है कि 'अहिंसामय उपासना-यज्ञ में वैदिक सूक्तों के उच्चारण करने पर प्रकाशस्वरूप जगन्नेता प्रत्यक्षवत् सम्मुख उपस्थित हो जाता है।' स्वाध्याय से युक्त योगज ज्ञान से दूर-दूर के सूक्ष्म तथा व्यवहित पदार्थों का भी प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। अतः उपासक प्रार्थना करता है कि 'हे मितभाषी, वाक्-संयमी दिव्यजनो एवं वेदाचार्यो! मैं ऋचाओं के स्वाध्याय द्वारा आप सबसे सर्वश्रेष्ठ रक्षा की कामना करता हूँ।'[1] इसी मन्त्र को लक्ष्य बनाकर पतञ्जलि ने एक सूत्र में ही स्वाध्याय-सिद्धि का परिणाम प्रदर्शित किया है—'इष्टदेव परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं तथा स्वाध्यायशील को देखने के लिए देवता, ऋषि और सिद्धजन जाते हैं।'[2] सूत्र के 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं कि 'परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है और फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से मुक्ति को प्राप्त होता है।'[3] स्वाध्याय से इष्टदेव अर्थात् अभिलक्षित कार्य की सिद्धि होती है, उसमें स्वाध्याय कैसे सहयोगी बनता है, इसका विशद विवेचन 'गुरुकुल पत्रिका'[4] में इसी सूत्र पर लिखे मेरे निबन्ध को संस्कृत में पढ़ें। स्वाध्याय का परिशीलन करके अन्तिम नियम 'ईश्वर-प्रणिधान' का निरूपण करेंगे।

ईश्वर-प्रणिधान

पातञ्जल योग में निर्दिष्ट योगाङ्गों के नियमों में अन्तिम अंग है—ईश्वर-प्रणिधान। अन्त में ग्रहण करने का तात्पर्य यह नहीं कि ईश्वर पर विश्वास न होना, परन्तु इसका अन्तर्निहित भाव यही लक्षित

---

१. **अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे।**
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम्॥—साम० ४८

२. **स्वाध्यायादिष्ट देवतासम्प्रयोगः।**—यो० २।४४; व्या० भा०

३. द्रष्टव्य—ऋ० भा० भू० उपासनाविषय

४. 'गुरुकुलपत्रिका' अंक : संस्कृते—**[स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः]**
—दिस० १९७१

होता है कि जबतक सामान्यावस्था वाला साधक अहिंसा-सत्य आदि यम तथा शौच-सन्तोष आदि नियमों का पूर्ण पालन नहीं कर लेता तबतक उसे ईश्वर की कृपा का भान नहीं होता। ईश्वर-प्रणिधान की परिभाषा है—'उस परमगुरु परमेश्वर में सब कर्मों को अर्पण करना।'[1] यह पूर्व-प्रतिपादित है कि कर्म, मन-वचन-शरीर से किये जाते हैं। तदनुसार तीनों प्रकार के कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पित करना ही यहाँ अभिप्रेत है।

मानसिक ईश्वर-प्रणिधान

मानसिक कर्मों का प्रभाव गम्भीर एवं स्थायी होता है, अतः मन से या बुद्धि से किया गया ईश्वर के प्रति समर्पण ही वास्तविक है। भास्वती टीकाकार ने 'ईश्वर-प्रणिधान' पद का अर्थ किया है—'कर्मफल का विचार न करना वा निष्काम भावना।'[2]

संहिताओं में ईश्वर-प्रणिधान के जिन विविध स्वरूपों को निरूपित किया गया है उनमें मानसिक, वाचिक एवं कायिकस्वरूप का अधिक विस्तार है।

ऋग्वेदीय मन्त्रों में प्रतिपादित है कि—'तेजस्वी परमेश्वर प्रत्येक कार्य में शान्तिसुख देनेवाला तथा सत्य नियमों का पालन करता है इसलिए प्रत्येक का पूज्य है। साधक के अन्दर जिस समय वह दैवीभाव जाग्रत् करता है, उस समय उपासक प्रभु को जान पाता है और मन से उसका संगतिकरण करता है।'[3]

'परमात्मा सर्वज्ञ है इसलिए ज्ञानी उसी के साथ अपने मन और बुद्धि का योग करते हैं, क्योंकि उसके बल का महत्त्व अतर्क्य है। वह सब ज्ञान और कर्म को यथावत् जाननेवाला है तथा सब क्रियाओं का

---

१. **ईश्वरप्रणिधानं=तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।**—व्या० भा० २।३२

२. **ईश्वरप्रणिधानम्=ईश्वरे सर्वकर्मार्पणम्=कर्मफलाभिसन्धिशून्यता।**

—[पूर्ववत्]

३. **यो अध्वरेषु शंतम ऋतावा होता तमू नमोभिरा कृणुध्वम्।**
अग्निर्यद् वेर्मर्ताय देवान्त्स चा बोधाति मनसा यजाति॥

—ऋग्० १।७७।२ भावार्थः

संचालक है इसलिए उसके साथ अपने मन को युक्त करना चाहिए।'[1] संक्षेप से यही ज्ञातव्य है कि 'मानसिक वा बौद्धिक ईश्वर-प्रणिधान में परमेश्वर के अनन्त गुणों एवं कर्मों का स्मरण कर स्वविचारित कार्यों का समर्पण करते रहना मुख्यरूप से अभीष्ट है जो अन्यन्त्र भी द्रष्टव्य है।'[2]

'कः' देवता वाले ऋग्वेद के एक सूक्त में परमेश्वर को सृष्टि की पूर्वावस्था में विद्यमान, सृष्टि करनेवाला तथा प्राणिमात्र का पालन करनेवाला बताते हुए उसकी विविध प्रकार से प्रशस्तियाँ की गयी हैं। पुनः आत्मसमर्पण की भावना सुदृढ़ करने के लिए योगाभ्यास तथा भक्तिविशेष के द्वारा समर्पण किया गया है। इसी कारण प्रायः सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** पद का आवर्तन किया गया है।[3] इस प्रकार वेद में ईश्वर-प्रणिधान का विशद विवेचन उपलब्ध है।

मानसिक समर्पण की भावना से अभिप्रेरित साधक वेद के शब्दों में 'अनन्त बलयुक्त सबके प्राण अन्तर्यामी परमेश्वर का अपने हृदय में आह्वान कर तपश्चर्या से शुद्ध किये हुए अन्तःकरण तथा सोम स्वभाव-वाले आत्मा को समर्पित करता है और उनकी सर्वप्रकार से रक्षा की प्रार्थना करता है।'[4]

याज्ञवल्क्य के अनुसार मानस-ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा योगी कर्म करता हुआ कर्त्तापन के भाव को त्याग दे और इस संन्यास-भावना का सदैव चिन्तन करता रहे। ऋषियों तथा तत्त्वदर्शियों ने इसी को ब्रह्मार्पण माना है।[5]

---

१. **युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।**
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥
—ऋग् ५।८१।१ [भावार्थः—वेदामृत पृ० ६१, ६८]

२. ऋग्० १।७७।३; २।१।३; १।१८।७; १।६२।११; १।६५१; १।६१।१; ५।१३।५; इत्यादयः

३. **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**—ऋग्० १०।१२१।१-१० [वेदामृत पृ० ५६-६०]

४. **वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥**
—ऋग्० १।२।१

५. **नाहं कर्ता सर्वमेतन्मनसा कुरुते तथा।**
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥ उद्धृतम्—यो० वा० २।३२

वाचिक ईश्वर-प्रणिधान

वाणी के द्वारा ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना करना एवं परमात्मा से प्रेरित होकर वाणी के समग्र व्यापार को परोपकार तथा अज्ञानान्धकार-निवारण-हेतु प्रयोग करना वाचिक ईश्वर-प्रणिधान है।

वेद में वाणी के समर्पण-भावों को विपुल रूप में प्रकाशित किया गया है। ऋग्वेद में ईश्वर-प्रणिधानी कहता है कि 'हे वाणी से स्तवन करने योग्य प्रभो! शत्रुओं के मनुष्य हमारे शरीरों को घातित न करें; सर्व-समर्थ स्वामी! तू वध करने वालों को हमसे दूर कर।'[1] वाणी से ईश्वर-प्रणिधानी उपासक प्रार्थना करता है—'हे अग्निस्वरूप भगवन्! सबके धारक तुझे हम उपासक अनेक प्रकार की वाणी से प्रशंसा करते हुए नमस्कारपूर्वक उपासना करते हैं।'[2] हे प्राणों के प्राण! प्रकाशमय देव! मनुष्य के यश से युक्त करके उत्तम तेजों के साथ हमपर प्रीति कर।[3] उपासक 'ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा अन्तःकरण में विद्यमान ईश्वर को तेजस्विता से आत्मबुद्धि से तथा वाणी के योग से बढ़ाते हैं।'[4]

वाचिक ईश्वर-प्रणिधान करनेवाले उपासकों द्वारा उच्चारित ईश्वर के विभिन्न गुणों का वर्णन, मर्मस्पर्शी प्रार्थनाएँ तथा अहंकार-विनाशक याचनाएँ बहुत मिलती हैं। पाठक निम्न ऋचाओं का चिन्तन-मनन करें।[5]

वाचिक ईश्वर-प्रणिधान के लिए सामवेद में भी अनेक प्रेरणादायी

---

१. मा नो मर्ता अभि द्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः। ईशानो यवया वधम्।
—ऋग्० १।५।१०

२. त्वामग्ने धर्णसिं विश्वधा वयं गीर्भिर्गृणन्तो नमसोप सेदिम।—ऋग्० ५।८।४

३. अग्निं घृतेन वावृधुः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणिम्। स्वाधीभिर्वचस्युभिः॥
—ऋग्० ५।१४।६

४. इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।—ऋग्० १।११।१; १।५६।७
यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति॥
—ऋग्० १।१८।७

५. स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः।—ऋग्० १।६२।११;
सजोषा धीरा पदैरनु···।—ऋग्० १।६५।१ इत्यादि।
द्रष्टव्य—ऋग्० ६।६।७; ६।१०।२; ६।१६।७; ६।२१।१; ६।४५।४, ७; ८।११।६ इत्यादि।

प्रसंग प्रस्तुत किये गये हैं। साधक वाचिक समर्पण के लिए तत्पर हुआ कहता है कि—'उस परमेश्वर का बार-बार श्रद्धापूर्वक मैं आह्वान करता हूँ, जो परमेश्वर ऐश्वर्यों का स्वामी है, नियमों में उग्र है, जो सत्य और बहुत धनों एवं यशों का धारक, विरोधी शक्तियों द्वारा झुकाया नहीं जा सकता, जो एकमात्र पूजनीय-दानी तथा यज्ञस्वरूप है, वह आध्यात्मिक तथा सांसारिक सम्पत्तियों के प्रदान के लिए स्तुति-प्रार्थना की वाणियों द्वारा उपासकों की ओर आकृष्ट हो जाता है। वह हमारे सब श्रेष्ठ धनों तथा यशों को सुपथ द्वारा प्रापणीय करे और कुपथों पर वज्रप्रहार करे।'[1]

आत्मसमर्पण का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए, कहा गया है कि—'आत्मसमर्पणरूपी समिधा द्वारा सम्यक्-प्रदीप्त एवं प्रकट हुए प्रकाश-स्वरूप जगन्नेता की स्तुति मैं वेदवाणियों द्वारा करता हूँ वह जगन्नेता स्वयं पावक है और अन्यों को पवित्र करता है, जो हिंसारहित योगयज्ञ में सदा-सम्मुख रहता है, जो कूटस्थ एवं निश्चल है, वह मेधावी, सर्वत्र परिपूर्ण, सबका दाता, सबका वरणीय, किसी से भी द्रोह न करनेवाला, वेदकाव्यों का कवि, प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान और वेदोपदेष्टा है, उसे सुखोत्पादक श्रेष्ठ स्तुतियों द्वारा हम प्राप्त होते हैं।'[2]

वाचिक-ईश्वरप्रणिधान के विभिन्न पक्षों को व्यक्त करनेवाले शतशः सामवेदीय मन्त्र हैं। निदर्शनमात्र निम्न मन्त्रों[3] का विचार कीजिए।

यजुर्वेद के १६वें अध्याय में प्रकृति के विविध पदार्थों का सदुपयोग-

---

१. तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं श्रवांसि भूरि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्त राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री॥
साम० ४६०; ऋग्० ८।९७।१३

२. समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम्।
विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम्॥
—ऋग्० ६।१५।७

३. एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरागिरः।—साम० ७; अग्ने त्वां कामये गिरा। ८; यजिष्ठमृञ्जसे गिरा—साम० १२; स्तोमं रुद्राय दृशीकम्—साम० १५; तं त्वागोपवनो गिरा—साम० २६; कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। —साम० ३२; ३४; यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।—साम० ३५ इत्यादि।

यथायोग्य सत्कार तथा विनम्रता से नमस्कार करना और परमात्मा की अनेक शक्तियों का स्मरण कर उनका धारण तथा स्तुति आदि का स्फुट परिशीलन किया गया है।[1]

इसी प्रकार अथर्ववेद में परमात्मा की परमगुहा को जानता हुआ उपासक सर्वप्रकार के सुख के लिए, वाग्युद्ध में बोलता हुआ, दैवीरूप परमात्मशक्ति को बारम्बार नमस्कार करता हुआ अपने का समर्पित करता है।[2] इस विधि से वाणी द्वारा परमात्मनाम 'ओ३म्' का जप, सामगान तथा परमेश्वरविषयक आध्यात्मिक भाषण-सम्भाषण करना वाचिक ईश्वर-प्रणिधान का स्वरूप है।

शारीरिक ईश्वर-प्रणिधान

बौद्धिक तथा मानसिक कर्म भी शरीर के आश्रय से सम्पन्न होते हैं। पुनरपि शारीरिक चेष्टाओं को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना अर्थात् शरीर से ईश्वरप्राप्ति के विरुद्ध किसी क्रिया को न करना ही शारीरिक ईश्वर-प्रणिधान है। समग्र पुण्यकर्मों को ईश्वरार्पण करते जाना ही इसका तात्पर्य है।

शारीरिक ईश्वर-प्रणिधान का निरूपण ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से किया गया है—'सबका स्वामी परमात्मा, निन्दक एवं परुषवचन बोलनेवाले, दान न देनेवाले, उपकारशून्य, कृतघ्नों के अधीन हम उपासकों को न करे।' पुनः निवेदन है कि—'प्रभो ! मेरे निखिल यागादि तथा उपासनाविषयक सभी कर्म केवल आपके निमित्त हुआ करें, सकल कर्मों से हम आपकी आज्ञाओं का पालन करें।'[3]

उपासक नितान्त समर्पित भावना से प्रार्थना करता है—'जैसे दास अपने स्वामी की सेवा निष्कपटभाव से करता है, तद्वत् सकल कामनाओं को वर्षानेवाले, जगत् के पोषकदेव की सेवा, मैं सदैव अपराधरहित होकर करता रहूँ। सर्वस्वामी परमेश्वर समय-समय पर हम अज्ञानियों को प्रेरणा किया करे। वह सर्वज्ञदेव भक्तजनों को शुभ धन=उपासना-

---

१. द्रष्टव्य—**शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।**

—यजु० १६।४, १५-६६

२. **नमस्ते अस्तु विद्युते।**—अथ० १।१३।१-४; यजु० ३६।२; इत्यादयः।

३. **मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे। त्वे अपि क्रतुर्मम॥**

—ऋग्० ७।३१।५ (वेदामृत)

कर्म की ओर ले जाए।'[1]

सर्वात्मना समर्पण-भावना का महत्त्व हृदयङ्गम करके ही साधक परमेश्वर के प्रति समर्पित होता हुआ स्वीकार करता है—'मैं उस महान् पुरुष परमात्मा की महनीय महिमा को जानता हूँ जो अज्ञानान्धकार से परे आदित्य-वर्ण-सर्वज्ञ है। अन्यों को मार्गदर्शन की भावना से साधक पुनः सतर्क करता है कि—ऐसे दिव्यगुणयुक्त परमात्मा को जानकर ही उपासक मृत्यु से पार जा सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं।'[2]

गीता में ईश्वर-प्रणिधानपूर्वक कर्म करने का फल निर्देश किया है कि 'जो कर्मयोगी परमात्मा में अर्पण करके आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है वह पुरुष जल में कमल के पत्ते के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता।'[3]

ईश्वर-प्रणिधान के स्वरूप का निरूपण व्यासमुनि ने इस प्रकार किया है—'शैया पर हो या आसन पर स्थित हो अथवा मार्ग में चलता हुआ हो, स्वस्थ—अपने में स्थित हो, जिसके संशय आदि के वितर्क-जाल क्षीण हो गये हों, ऐसा साधक संसार के बीज का क्षय करने की इच्छा से नित्यमुक्त हुआ अमृतभोग का भागी होता है।'[4]

उपनिषदों में ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप 'ओंकार' जप, नामस्मरण तथा अकार-उकार-मकार मात्राओं के रहस्यमय चिन्तन के रूप में प्रकट हुआ है। उपनिषदों में ब्रह्मलोकप्राप्ति का श्रेष्ठतम उपाय ओंकार का ही आलम्बन बताया है।[5] गीता में ईश्वर-प्रणिधान भक्ति तथा शरणागति के रूप में प्रयुक्त हुआ। पुराणों में इसका स्वरूप देवी-

---

१. अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति॥—ऋग्० ७।८६।७

२. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥—यजु० ३१।१८

३. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥—गी० ५।१०

४. शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी॥
—व्या० भा० २।३२

५. एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥—कठो० २।१७

देवताओं के पूजन तथा भक्ति में परिवर्तित हुआ। नारद-भक्तिसूत्र के अनुसार भक्ति के एकादश भेद किये गये हैं।[1] वेदान्तदर्शन में शरणागति के दो भेद किये हैं—(१) बिल्ली के बच्चे के समान, (२) बन्दरी के बच्चे के समान। बाद की भक्ति-विषयक पद्धतियों में देवी-देवताओं की प्रसन्नता के लिए नरबलि, पशुबलि आदि हिंसात्मक-स्वरूप प्रचलित हुआ, इस प्रकार वैदिक मर्यादा का ईश्वर-प्रणिधान विकृत होकर समाज में अनेकों रूपों में दृष्टिगोचर होता है।

ईश्वर-प्रणिधान का प्रकार तथा फल-निरूपण आदि विवेचन मनोमयकोश के प्रसंग में किया गया है। इस प्रकार नियमों का वैदिक-स्वरूप संक्षेप से प्रतिपादित किया गया है। वेदों में यम-नियमों के प्रत्येक उपाङ्ग की प्राप्त विषयवस्तु स्वतन्त्र ग्रन्थ की सामर्थ्य रखती है।

आसन

आसन का योगाङ्गों में तृतीय स्थान है। आस् उपवेशने[2] धातु से ल्युडन्त में 'आसन' शब्द स्थिरता से बैठने का वाची है। संहिताओं में विभिन्न अवसरों पर बैठने का प्रकार वर्णित है, जैसे—अध्यापन[3] के लिए 'निषीदत',[3] 'संसीदस्व'[4] आदि पदों का प्रयोग हुआ है जो अच्छी प्रकार-सुखपूर्वक बैठने का वाचक है तथा **'तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः'**[5] मन्त्रांश मौनावलम्बन करके बैठे हुए, योगाभ्यास करने का परिचायक है। इन पदों के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि योगाभ्यासी को

---

१. भक्ति के प्रकार—(१) गुणमहात्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) परमविरहासक्ति, (११) तन्मयासक्ति। उद्धृत—अनासक्तियोग—मोक्ष की पगडण्डी [ब्र० जगन्नाथ]।

२. **आस उपवेशने [अदादि० आत्मने०] अधिकरणेऽर्थे ल्युट् प्रत्ययः।**

३. **विश्वे देवास आ गत शृणुता म इमं हवम्।**
एदं बर्हिर्नि षीदत॥—ऋग्० २।४१।१३

४. **सँसीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।**—यजु० ११।३७

५. **आवदंस्त्वं शकुने भद्रमा वद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः।**
—ऋग्० २।४३।३

स्थिरता से किसी एक स्थिति में बैठना चाहिए, जिस अवस्था में एक प्रहर या तीन घण्टे तक निश्चल, बिना कष्ट के बैठा जा सके।

इन्हीं पदों का आश्रय लेकर योगदर्शन में 'स्थिरता से सुखपूर्वक बैठना' आसन कहा है।'[1] योगाभ्यास के लिए स्थिरतापूर्वक बैठना ही अभीष्ट है। इनके अतिरिक्त हठयोग की पद्धति से शरीर को विभिन्न आकारों में मोड़ना तथा शरीर को अस्थिर रखकर आसनाभ्यास करना, ध्यानासन नहीं है। वर्तमान में प्रचलित पद्धतियों में पद्मासन लगाकर ध्यानावस्था में ऊँचा-ऊँचा उछलना[2] तथा नग्न होकर 'हू-हू' ध्वनि के साथ घण्टों तक कूदना[3] वैदिक आसन-परिभाषा के विरुद्ध है।

आसनसिद्धि का प्रकार एवं फल

ऋग्वेद के अनुसार साधक आसन सिद्ध होने पर अपनी मनःस्थिति को अभिव्यक्त करता है कि--'आसन पर बैठे हुए मुझपर [मेरे मन पर] ऋत=सत्य साक्षात्कार की कामनाएँ आरोहण करने लगी हैं, तब हृदय के प्रति उन कामनाओं को ऐसे कहता हूँ जैसे बालक को उसके अन्तरङ्ग मित्र बुलाते हैं।'[4]

मन्त्र के भाव को क्रियान्वित रूप देने के साधनों का संकेत पतञ्जलि ने अगले सूत्र में कर दिया कि 'शारीरिक बाह्य प्रयत्न के शैथिल्य अर्थात् अभाव से अनन्त आकाश वा ब्रह्म में समापत्ति अर्थात् चित्त लगाने से आसन सिद्ध होता है।[5] आसन-सिद्धि से शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों से कष्ट नहीं होता।[6] आसन के अन्य पक्षों का विचार शोध-प्रबन्ध के अन्नमय-कोश में चर्चित है।

प्राणायाम

योगाङ्गों में 'प्राणायाम' विशेष स्थान रखता है। इसकी उपयोगिता वैदिक संहिताओं तथा अन्य आध्यात्मिक शास्त्रों में प्रदर्शित की

१. **स्थिरसुखमासनम्।**—यो० २।४६
२. महेश योगी द्वारा प्रचालित पद्धति।
३. आचार्य रजनीश द्वारा प्रचालित पद्धति।
४. **आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचदचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः॥**
—ऋग्० ८।१००।५
५. **प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।**—यो० २।४७
६. **ततो द्वन्द्वानभिघातः।**—यो० २।४८

गई है। प्राणों का सृष्टिगत निर्माणक्रम कार्य-विभाजन तथा प्राणों को संयत करने के साधन प्राणमयकोश के प्रसंग में विस्तृत रूप से व्याख्यात हैं। प्राण तथा मन का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण, प्राण किस प्रकार से मनोनिग्रह में सक्षम होते हैं। प्राणायाम की विधि तथा अन्य विवेचन मनोमयकोश के अन्तर्गत किया गया है। बौद्धिक विकास में प्राणायाम किस विधि से सहायक हैं, उसके प्रकारों का वर्णन विज्ञानमयकोश में प्रतिपादित है।

सम्पूर्ण परिशीलन से ज्ञात होता है कि संहिताओं में प्राणायाम की उपयोगिता दो प्रकार से वर्णित है—(१) शारीरिक विकास के लिए, (२) आध्यात्मिक विकास के लिए। इनका सामान्य वर्णन उक्त प्रकरणों में कर चुके हैं, शेष यहाँ प्रस्तुत है।

प्राणायाम से रोगनाश

शारीरिक विकास के अन्तर्गत शारीरिक पुष्टि के लिए प्राणायाम की उपयोगिता पूर्वप्रतिपादित की गई, इसके अतिरिक्त शारीरिक रोग-विनाश-हेतु प्राणायाम की उपयोगिता अथर्ववेद के प्राण-सूक्त में निरूपित है। यहाँ मन्त्रों में प्राण को 'ओषधयः'[1] 'भेषजं'[2] आदि शब्दों से कहा है। अथर्ववेदीय प्राणविद्या से ही सम्भवतः 'हठयोग' के अन्तर्गत विभिन्न प्रयोजनों को लक्ष्य बनाकर प्राणायाम-प्रकारों का आविष्कार किया गया। कैवल्यधाम-निवासी स्वामी कुवलयानन्द अनेकों रोगियों पर सफल प्रयोग करने के बाद लिखते हैं कि 'शारीरिक[3] दृष्टि से प्राणायाम के द्वारा मांसपेशियों और फेफड़ों का संस्कार होता है। छाती और फेफड़ों को दिन में कई बार अधिक-से-अधिक फैलाने से इनको अपना कार्य करने में बल मिलता है। कार्बनडाइऑक्साइड नामक दूषित गैस का भली-भाँति निराकरण हो जाता है। कोष्ठबद्धता, रक्तसंचय को हटाने, उदरविकार, पाचनसंस्थान आदि के लिए प्राणायाम हितकारी है। स्वस्थ रहने के लिए नाड़ियों में प्रवाहित होनेवाले रक्त को जितना आक्सीजन प्राणायाम से मिल जाता है उतना अन्य किसी व्यायाम या पद्धति से नहीं मिलता। श्वास-कास के रोगों में

---

१. **अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।**—अथ० ११।४।६

२. **अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे।**—अथ० ११।४।९

३. **कल्याण योगांक**—'प्राणायाम का शरीर पर प्रभाव' पृ० ५६६

प्राणायाम अत्यन्त उपादेय है। इस प्रकार शरीर को शुद्ध करने के लिए तथा उपासना के योग्य बनाने के लिए प्राणायाम की अपरिहार्य आवश्यकता है। अतः प्राणायामविषयक परीक्षण चलते रहने चाहिए।

प्राणायाम से प्रभु-प्राप्ति

प्राणायाम के आन्तरिक लाभों में अन्तिम लाभ प्रभु-प्राप्ति है। प्राणायाम के माध्यम से प्रभु-प्राप्ति के अविकसित मार्ग प्रशस्त होते हैं। आध्यात्मिक-विकास हेतु प्राणायाम की विधि ऋग्वेदीय ऋचा में विहित है कि 'जो परमात्मा-परायण पुरुष, गुणों में श्रेष्ठ एवं सर्वप्रिय है, वह अपनी बुद्धि से आध्यात्मिक यज्ञ में ज्ञान की आहुति प्रदान करे। जैसे कर्मरूपी यज्ञ में वक्ता-पुरुष वाणीरूपी कर्म को करता है, वैसे ही साधक सर्वरक्षक परमात्मयज्ञकुण्ड में दशप्राणों को डालते हैं। जिस प्रकार सुन्दर वेदियों के प्रति वह्नि को लक्ष्य बनाकर हवन किया जाता है।'[1] इस प्रकार आध्यात्मिक यक्ष में परमात्मा को वह्निस्थानीय बनाकर प्राणों का हवन किया जाता है।

गीता में प्राणायाम को प्राणयज्ञ का स्वरूप बताते हुए आध्यात्मिक विकास के प्राणायाम का प्रकार बताया है—'कुछ योगिजन अपान वायु में प्राण का हवन करते हैं, अन्य प्राणवायु में अपानवायु की आहुति देते हैं, अन्य योगिजन प्राण-अपान की गति रोककर प्राणायाम में तत्पर होते हैं।'[2] 'नियमित आहार करनेवाले, प्राणों की आहुति प्राणों में देते हैं। इस प्रकार के यज्ञों से जिनका पाप नष्ट हो गया है, वही यज्ञों के रहस्य को जानते हैं।'[3]

परमात्मोपासक के आवश्यक गुणों का परिगणन वेद में बड़ी गम्भीरतापूर्वक किया है कि—'दृढ़प्रतिज्ञ, गुणों में श्रेष्ठ[4] महापुरुष,

---

१. असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनोता प्रथमो मनीषी।
दश स्वसारो अधि सानो अव्येऽजन्ति वह्निं सदनान्यच्छ॥—ऋग्० ९।९१।१

२. अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥—गी० ४।२९

३. अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥—३०

४. इन्दुं रिहन्ति महिषा अदब्धाः पदे रेभन्ति कवयो न गृध्राः।
हिन्वन्ति धीरा दशभिः क्षिपाभिः समञ्जते रूपमपां रसेन॥
—ऋग्० ९।९७।५७

निष्कामकर्मी विद्वान्, ज्ञानरूपी यज्ञ वेदी पर बोलनेवाले धीर लोग, दस प्राणों की संयत गति एवं सत्कर्मों के परिपाक से प्रकाशस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं।'

सामवेद में कहा है कि—'वेदों द्वारा श्रवण-मनन करनेवाले तथा प्राणायाम के अभ्यासियों में और द्युलोक के नक्षत्र-समूह में वह परमात्मा विशेषरूप से चमकता है।'[1] प्राण-संयमी योगी शरीर-रथ द्वारा भवसागर तैरने का ज्ञान प्राप्त करता है,'[2] 'प्राणायाम के अनवरत अभ्यास एवं 'ओ३म्' जप से परमात्म-प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है।[3] प्राणायाम-अभ्यासियों के लिए परमात्मा आनन्दरसरूप में अत्यन्त 'स्वादु है। प्रतिफल में ऐसे उपासकों को परमात्मा आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ प्रदान करता है।'[4]

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में प्राणायाम का लाभ आध्यात्मिक विकास के लिए विशेषरूप से वर्णित है। संहिताओं में प्राणविद्या के नाम से प्रतिपादित प्राणायाम के प्रकार एवं महत्त्व का परिज्ञान करना चाहिए। प्राणविद्या ऋग्वेद[5] तथा अथर्ववेद[6] में विशेष रूप से वर्णित है। उपनिषत्साहित्य में भी प्राणविद्या का प्रतिपादन मिलता है।[7]

हठयोग में प्रचलित प्राणायामों के भेदों का विस्तार संहिताओं में नहीं है। प्रमुखरूप से ३-४ प्राणायामों के संकेत ही वेदों में मिलते हैं।

---

१. अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम्।
य स्म श्रुतर्वन्नाक्ष्र्ये बृहदनीक इध्यते॥—साम० ८६

२. धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः॥—साम० ५९९

३. त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दं च्छिश्रियाणं वनेवने।—साम० ६०८

४. त्वं सोम परि स्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः। वरिवोविद्घृतं पयः॥
—साम० ६८१

५. द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्ष ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः॥—ऋग्० १०।१३७।२--५

६. द्रष्टव्य—अथ० ४।१३।२--५; ११।४; ११।३।२; २।२८।४; ११।५।२२, २४; ३।११।५, ६; ७।५५।५; ६।१०४।१; १७।१।३०; १९।४६।५ इत्यादयः।

७. केन० १।८; कठ० ५।३।५; प्रश्नो० १।४--८, १०--१६, ४ प्रश्नपर्यन्तम्, मुण्ड० १।८; मुण्ड० २।१।७, ८; ३।१४; तैत्ति० शि० ५।४; ७ अनु०; ब्रह्मव० २।२; ३ अनु०, भृगु० १-७; ऐतरेयो० १ अ०; छान्दो० ३।१६।१८; ३।१३।१; बृहदा० ३।८।१६; ३।९।२६; ५।११।१ इत्यादयः।

प्रचलित प्राणायामों का ग्राविष्कार शरीर-शोधन तथा ग्रन्य शैक्षिक क्रियाग्रों को लक्षित कर बाद में किया गया।

स्वामी योगेश्वरानन्द ने प्राण की उत्पत्ति का वर्णन 'प्राणविज्ञान' में करते हुए प्राण के ७० भेदोपभेद किये हैं।[1] इन प्राणों द्वारा शरीर, ग्रात्मा, प्रकृति ग्रौर ब्रह्म की स्पर्श द्वारा ग्रनुभूति मानी गई है।' प्राणों का इतना विशद विवेचन वैदिक संहिताग्रों या ग्रन्य यौगिकग्रन्थों में नहीं मिलता। इसकी वास्तविकता चिन्त्य एवं ग्रभ्यासगम्य है।

प्रत्याहार

योगाङ्गों में पञ्चम ग्रङ्ग प्रत्याहार की साधना, ग्रान्तरिक-साधना की प्रथम श्रेणी है। प्रत्याहार की साधना कठिन एवं परमावश्यक है।

परिभाषा

इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर ग्रन्तर्मुख करना ही 'प्रत्याहार' कहाता है।

योगशास्त्र के ग्रनुसार—'ग्रपने-ग्रपने'[2] विषय के साथ सम्बन्ध न होने के कारण इन्द्रियों की चित्तस्थिति के समान स्थिति का नाम 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहार का प्रकार

प्रत्याहार का मुख्य लक्ष्य इन्द्रियों को वश में करना है। इन्द्रियाँ करण हैं जो ग्रान्तरिक तथा बाह्य दो भागों में विभक्त हैं। मन, बुद्धि, चित्त, ग्रहंकार ग्रन्तःकरण हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ बाह्यकरण हैं। बाह्यकरण यदि ग्रश्व हैं तो मन प्रग्रह=लगाम है ग्रौर बुद्धि सारथि है एवं शरीर रथ है। यजुर्वेद के मन्त्र[3] में यह रूपक बाँधा गया है। संहिताग्रों में इन्द्रियपद तथा बाह्य-ग्रान्तरिक दोनों प्रकार की इन्द्रियों का उल्लेख पर्याप्त मिलता है। बाह्यकरण बाहर के विषयों से

---

१. **प्राणविज्ञान,** प्रथम संस्करण।

२. **स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥**

—यो० २।५४

३. **सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।**—यजु० ३४।६

सम्पर्क करके अतःकरणों के द्वारा सबके स्वामी जीवात्मा तक विषय के संस्कार को पहुँचाते हैं। जब बाह्यकरणों को अभ्यास-बल से बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुख कर दिया जाता है अर्थात् इन्द्रियाँ जब बाह्य विषयों से असम्प्रयोग करके चित्त-स्वरूप का अनुकरण करती हैं तब प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पतञ्जलि ने बाह्य स्थूल इन्द्रियों के व्यापार को लेते हुए प्रत्याहार की गणना भी बाह्य अङ्गों में कर दी है, परन्तु याज्ञवल्क्य-संहिता में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों इन्द्रियों के व्यापारों को ग्रहण करके आन्तरिक अङ्गों में ग्रहण किया है।

प्रत्याहार का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है, प्रति=विपरीत, आहार=विषय, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करके लौटा देना। प्रत्याहार की यह स्थिति तभी सम्भव है जब इन्द्रियाँ चित्तानुसारिणी हो जाएँ। इसके लिए मनोनिग्रह परमावश्यक है। व्यासभाष्य में एक उदाहरण देते हुए कहा है कि जैसे—'मधु बनानेवाली रानी मक्खी के साथ अन्य मक्खियाँ भी उड़ जाती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ चित्तनिरोध हो जाने पर निरुद्ध हो जाती हैं। यह प्रत्याहार की सिद्धि का चिह्न है।'[1]

प्रत्याहार की आवश्यकता

प्रत्याहाररूपी भूमिका पर ही अग्रिम अङ्गों की सत्ता निर्भर है। योग का वास्तविक उद्देश्य प्रत्याहार से ही प्रारम्भ होता है। प्रत्याहार की आवश्यकता वेदमन्त्र में एक उपासक की विह्वल अवस्था द्वारा अभिव्यक्त की गई है। यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम की विधिवत् सिद्धि करनेवाला साधक इन्द्रिय-निग्रह के विना व्याकुलता प्रकट कर रहा है कि 'मेरे कान और आँखें साधना के समय, चाहते हुए भी निज विषयों में इधर-उधर भाग जाती हैं। इन्द्रियों को रोकने का प्रयास करता हूँ तो हृदय में जो ज्योतिस्वरूप मनस्तत्त्व है वह दूर-से-दूर चला जाता है। इस स्थिति से मैं दुःखी हूँ, क्या विचारूँ? क्या कहूँ?'[2]

---

१. यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविशमानमनु निविशन्ते, तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानि, इत्येष प्रत्याहारः।—व्या० भा० २।५४

२. वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दुरआधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥
—ऋग्० ६।९।६

साधक की इस विह्वलता में स्पष्ट रूप से प्रत्याहार की आवश्यकता झलकती है।

प्रत्याहार के लिए प्रार्थना के प्रकार

वेद में अन्तः तथा बाह्यकरणों की सबलता, निर्दोषता तथा तृप्ति को प्रत्याहार का प्रमुख प्रकार माना है, क्योंकि जो पवित्र, तृप्त और सशक्त होता है वह अनाचार में आसक्त नहीं होता। इन्द्रियाँ यदि कुपथ से हटी रहीं, तो प्रत्याहार स्वतः सिद्ध हो जाता है। अन्तः तथा बाह्य इन्द्रियों का राजा है अहंकार। अहंकार पर विजय प्राप्त करने के लिए 'अभिमातिषाह्ये'[1] 'अभिमातिषाहः'[2] 'अभिमातिषाहम्'[3] इत्यादि पदों का प्रयोग अनेक बार हुआ है जोकि 'अभिमान' पर विजय-प्राप्ति के लिए सन्देश देते हैं। इसी प्रकार मन के वशीकरण के लिए मन को तृप्त करने की प्रार्थना साधकों द्वारा की गई है कि 'मेरे मन, वाणी, प्राण, श्रोत्र और आत्मा तृप्त हों।'[4] इन्द्रियों की बलवत्ता के लिए प्रार्थना है कि—'मेरे मुख में वाक्यशक्ति, नासिका में प्राण, आँख में दर्शनशक्ति और कानों में श्रवणशक्ति अच्छी प्रकार बनी रहे। मेरे केश पककर श्वेत न हो जाएँ, दाँतों से रक्त न बहे, बाहुओं में खूब बल हो, उरुओं में ओज, जंघाओं में गति और पैरों में स्थिरता हो, पैर लड़खड़ाने न लगें, प्रभो! मेरा सर्वाङ्ग स्वस्थ तथा अच्युत रहे।'[5]

इन्द्रियों की सत्कर्म तथा सदाचार में प्रवृत्ति के लिए प्रार्थना की है 'हे यजनीय देवो! हम कानों से भद्र भावों को सुनें और आँखों से मङ्गल दृश्यों को देखें।'[6] इसी प्रकार 'हम सौ वर्षों तक देखते रहें, सुनते

१. ऋग्० ३।३७।३

२. ऋग्० १०।८३।४

३. ऋग्० १०।४७।३; इत्यादि।

४. **मनो मे तर्प्पयत वाचं मे तर्प्पयत प्राणं मे तर्प्पयत।**
श्रोत्रं मे तर्प्पयतात्मानम्मे तर्प्पयत···
—यजु० ६।३१; गुरु० प० वेदयोगांक पृ० ३२१

५. **वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।**
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥—अथ० १९।६०।१
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः। प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥ २

६. **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।**
—यजु० २५।२१; ऋग्० १।८९।८।

रहें, बोलते रहें जीवित रहें, एवं अदीन होकर रहें। हम सौ वर्ष से ऊपर की आयु प्राप्त कर प्रत्येक इन्द्रिय से सदाचार करनेवाले हों।"[1]

वेद जहाँ इन्द्रियों को बलवती बनाने की आज्ञा देता है, वहाँ उन्हें पवित्रता की ओर ले-जाने के लिए सम्पूर्ण चरित्र को शुद्ध करने का सन्देश देता है। मन्त्र में उपासक प्रार्थना करता है कि 'हम दुश्चरित्रता से हटें और सुचरित का सेवन करें। हमारी आयु अच्छी हो, हम ऊपर उठें और मुक्तदेवों का अनुसरण करें।'[2] अन्त में, इन्द्रियों के प्रेरक मन को कल्याणकारी संकल्पवाला बनाने की प्रार्थना की है,[3] जिससे समस्त इन्द्रिय-व्यापार मन के अनुकूल एवं कल्याणकारी हो। प्रत्याहार के लिए की गई वैदिक प्रार्थनाएँ उपासना-मार्ग के लिए प्रत्याहार की उपयोगिता की द्योतक हैं।

साधना में प्रत्याहार की उपयोगिता

सामवेदीय ऋचाओं में प्रत्याहार की उपयोगिता का परिशीलन स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। 'साधना के मार्ग पर अग्रसर उपासक प्रत्याहार की साधना से सम्पन्न होकर योग की साधनाओं से नवोत्पन्न होता हुआ, वन के पेट में [मध्य में] आसन जमाकर अपने-आपको पवित्र करता हुआ, प्रभु का आह्वान करता है।'[4] 'पञ्चकोशों में अपने-आपको पूर्णतया पवित्र करता हुआ और प्रत्याहार साधना द्वारा इन्द्रियों को विषयों से हटाता हुआ उपासक दीप्तिमान हो जाता है और वेद-वाणियों में वर्णित नवीन वस्त्रों को धारण कर लेता है'[5] अर्थात् प्रत्याहार से अपनी शुभ शक्तियों का आच्छादन कर लेता है।

'परमेश्वर का उपासक प्रत्याहार-साधना से सम्पन्न होकर तथा

---

१. पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥
—यजु० ३६।२४; अथ० १९।६७।१-२

२. परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थामृताऽअनु॥—यजु० ४।२८; गुरु० प० (वेद योगाङ्क) वेद और योग, पृ० ३२

३. तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।—यजु०३४।१-६

४. कनिक्रन्ति हरिरा सृज्यमानः सीदन्वनस्य जठरे पुनानः।—साम० ५३०

५. पुनानः कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः। परि गव्यान्यव्यत॥—साम० ११८३

परमेश्वर को हृदय में धारण कर सदा उसकी स्तुति करनेवाला होकर आनन्द-रस को पीने के लिए मानो क्रन्दन [रोदन] करता हुआ, प्रिय जगन्माता की ओर जाता है।"[1]

प्रत्याहार की साधना में उपयोगिता का निरूपण करते हुए मन्त्रों में कहा है कि—'जैसे हजारों-लाखों सूर्य-किरणें सूर्यरथ को वहन करती हैं इसी प्रकार ब्रह्म के साथ योगविधि से संयुक्त उपासक जोकि प्रत्याहार आदि साधनों से सम्पन्न हैं तथा योगजज्ञान द्वारा सूर्य-चन्द्र तथा अग्नि के समान प्रकाशमान हैं वे ही परमेश्वर का सम्यक् आह्वान कर सकते हैं, उन्हीं के आह्वान को ईश्वर स्वीकार करता है।'[2] द्वितीय मन्त्र में उदाहरण प्रस्तुत किया है कि 'जैसे कोई सम्राट् मोर-पंखों से सुशोभित, सुगमता से ले-चलनेवाले घोड़ों के रथ पर चढ़कर राष्ट्र में आता है उसी प्रकार प्रत्याहार की साधना किये हुए उपासकों के हृदय-राष्ट्रों में परमात्मा सुगमतापूर्वक अनेक शक्तियों के साथ आता है।'[3] मन्त्रों में आगत सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि प्रत्याहार के कारण जितेन्द्रिय उपासक ही आगामी साधना का अधिकारी है।

प्रत्याहार की उपयोगिता को आत्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान के लिए स्वीकार करते हुए ऐतरेयोपनिषद् का ऋषि मन-बुद्धि-आत्मा-परमात्मा का सूक्ष्म विवेचन करने के पश्चात् शान्तिपाठ के समय इन्द्रियों को मनोनुकूल होने के लिए सार्थक प्रार्थना करता है कि—'मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, मैं सोच-विचारकर बोलूँ। मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो अर्थात् जब मैं बोलूँ तब मेरा मन-वचन एक हो, बाहर भीतर एक-सा हो।'[4] इस प्रकार सभी इन्द्रियों का उपलक्षण मानकर प्रत्याहार की कामना की गई है।

---

१. एष स्य पीतये सुतो हरिरर्षति धर्णसिः। क्रन्दन्योनिमभि प्रियम्॥
—साम० १२७८

२. आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये॥—साम० २४५

३. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिन्नि येमुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि॥—साम० २४६

४. वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि॥
—ऐतरेयो० ३।१।५

प्रत्याहार की सिद्धि का फल

प्रत्याहार की सिद्धि धारणा, ध्यान, समाधिरूप योगाङ्गों के लिए पृष्ठभूमि है, यह पहले प्रतिपादित कर दिया गया है। वैदिक संहिताओं में इन्द्रियनिग्रहरूप प्रत्याहार के विधिवत् सिद्ध हो जाने पर जो उपलब्धियाँ साधकों को होती हैं उनका परिगणन इस प्रकार किया है—

'आध्यात्मिकबल से बलशाली, सदुपदेशवर्षी, प्रत्याहार-साधना-सम्पन्न, चन्द्रसमशीतल यह उपासक अन्तरिक्ष में विचरता है और अपने-आपको पवित्र कर परमेश्वर की ओर पूर्णतया प्रवाहित हो जाता है।'[1]

'योगसाधना से सम्पन्न उपासक, मनोहारिणी इस परमेश्वरीय दीप्ति द्वारा अपने को पवित्र करता हुआ, सब प्रकार की द्वेषभावनाओं से तर जाता है। तदनन्तर यह उपासक सूर्य के सदृश अन्यों को भी प्रकाश देने लग जाता है। जब उपासक की पृष्ठवंश की सुषुम्णा में प्रकाशधारा चमकने लगती है तब वह अधिक पवित्र होकर, रोष आदि दुर्गुणों से अलग होकर प्रत्याहार-साधना पर विजय पा लेता है।'[2]

महर्षि पतञ्जलि ने 'इन्द्रियों का अत्यन्त वश में हो जाना'[3] ही प्रत्याहार की सिद्धि का फल बताया है।

प्रत्याहार के फल इन्द्रियजय के विषय में कई मत हैं जिनका उल्लेख व्यासमुनि ने किया[4] है। 'कुछ विद्वानों का मत है कि शब्द आदि विषयों में आसक्त न होना 'इन्द्रियजय' है। दूसरे कहते हैं कि 'वेद से अविरुद्ध विषयों का सेवन करना और वेद-विरुद्ध विषयों में प्रवृत्त न होना 'इन्द्रियजय' है। तृतीयमत है कि 'शब्दादि भोगों को अपने अधीन करना, न कि स्वयं भोगों के अधीन होना, 'इन्द्रियजय' है। अन्त में 'जैगीषव्य मुनि' का मत है कि 'चित्त की एकाग्रता से विषयों में प्रवृत्ति न होना' इन्द्रियजय है। इसी को सूत्र में 'परमावश्यता' कहा गया है।

---

१. एष शुष्म्यसिष्यददन्तरिक्षे वृषा हरिः। पुनान इन्दुरिन्द्रमा॥
—साम० १२६०

२. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः। धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः॥—साम० ४६३

३. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।—यो० २।५५

४ शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्...योगिन इति।
—व्या० भा० २।५५

इन्द्रियजय के लिए किसी अन्य उपाय की अपेक्षा योगी नहीं करते। वैदिक मान्यता में इन सभी के मूल मिलते हैं।

प्रत्याहार-फल प्रदर्शक सूत्र को 'तत्त्ववैशारदी' में विष्णुपुराण के श्लोक का अनुवादक माना है। यह श्लोक योगवार्त्तिक में भी उद्धृत किया गया है, जिसका तात्पर्य है कि 'प्रत्याहार' की सिद्धि में तत्पर योगी शब्दादि विषयों में अनुरक्त इन्द्रियों का निग्रह करके उन्हें चित्तानुर्वर्तिनी बनाए। इसी से इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं[1]। इन्द्रियनिग्रह के विना योगसाधक योगी नहीं हो सकता।

प्रत्याहार विषय का कुछ विवेचन मनोमयकोश के प्रसंग में किया गया है। इस प्रकार प्रत्याहार-विषयक वैदिक परिशीलन कर अब हम धारणा पर विचार करेंगे।

धारणा

प्रत्याहार-पर्यन्त बहिरङ्ग साधना के साधनों का विवेचन किया गया, तदनन्तर अन्तरङ्ग साधना के प्रथम अङ्ग और योगाङ्गों के षष्ठाङ्ग 'धारणा' का परिशीलन यहाँ प्रस्तुत है।

'चित्तका आभ्यन्तर या बाह्य किसी एक स्थान में बाँधना 'धारणा'[2] है। प्राणायाम के द्वारा जब मन के अन्दर धारणा का सामर्थ्य आजाता है तो शरीर के अन्दर किसी स्थान पर अथवा बाह्य प्रदेश में चित्तवृत्ति को स्थित कर देना ही 'धारणा' का तात्पर्य है।

यजुर्वेद में धारणावाची 'धृतिः' पद का प्रयोग चार मन्त्रों में हुआ है।[3] एक मन्त्र में 'चेतो धृतिः' के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि धृतिः=धारणा, चेतः=चित्त का ही धर्म है। पतञ्जलि का सूत्र इस मन्त्रांश से सामंजस्य रखता है।[4]

---

१. शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहार परायणः॥
वश्यता परमातेन जायते निष्कलात्मनाम्।
इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः॥ [विष्णुपुराणे प्रोक्तम्]
—उद्धृत-तत्त्व वै० एवं योग० वा० २।५५

२. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।—यो० ३।१

३. धृतिः—यजु० ८।५१; १८।७; २२।१९; ३४।३

४. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च—यजु० ३४।३

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर धारणा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) आन्तरिक धारणा, (२) बाह्य धारणा।

१. आन्तरिक धारणा

यजुर्वेद में प्रतिपादित है कि—'ध्यान करनेवाले विद्वान् लोग यथा-योग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं, जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हुए, ज्ञान एवं आनन्द को फैलाते हुए विद्वानों के मध्य प्रशंसा को पाकर परमानन्द के भागी होते हैं।"[1]

आन्तरिक धारणा का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि पृथिवी आदि पञ्च स्थूलभूत हैं। इनकी उत्पत्ति सूक्ष्मप्रकृतिरूप गन्ध आदि पञ्चतन्मात्राओं से होती है, इनके मध्य में एक सूक्ष्म वायु है जो सबको धारण किये हुए है। जो योगी प्राणायाम के बाद उस सूक्ष्म वायु की धारणा का लक्ष्य बनाते हैं वे परमात्मसाक्षात्कार भी कर लेते हैं।

यजुर्वेदीय अन्य मन्त्र में संकेत मिलता है कि उत्साह से, हृदय, प्राण, मन तथा बुद्धि से, इन्द्रियों के द्वारा परमेश्वर का सम्यक् धारण किया जाता है अर्थात् परमात्मा की धारणा की जाती है। इस धारणा-शक्ति को बढ़ाकर साधक प्राचीन ऋषियों के समान मोक्षपद को प्राप्त होते हैं।

गायत्री मन्त्र का अर्थ प्रकाशित करते हुए महर्षि दयानन्द ने 'धीमहि' पद का 'दधीमहि' अर्थ किया है जिसके आधार पर मन्त्र में वर्णित—'सब जगत् के उत्पत्तिकर्ता, प्रकाशमय, शुद्धस्वरूप, सब सुख-दाता परमेश्वर का जो अतिश्रेष्ठ दुःखमूलक पापों को भस्म करनेवाला स्वरूप है, उसी का धारण करना अर्थात् आन्तरिक धारणा द्वारा परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावों का चिन्तन अपेक्षित है।"[2]

वैदिक संहिताओं में निरूपित धारणा के आन्तरिक स्वरूपों के अनुरूप ही सूत्र के पद 'देश' का अर्थ व्यासमुनि ने 'नाभिचक्र, हृदय-कमल-मूर्धा, ज्योति, नासिकाग्र तथा जिह्वाग्र आदि शारीरिक स्थानों

---

१. **सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।**
धीरा देवेषु सुम्नया ॥—यजु० १२।६७; ऋग्० भा० उपा० वि०

२. **तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि···।**—यजु० ३।३५

पर चित्त को स्थिर करना 'धारणा का स्वरूप' कहा है।[1] तत्त्व-वैशारदीकार ने इन स्थानों को 'आध्यात्मिक देश' कहा है।

गरुड़पुराण में 'नाभि, हृदय, छाती, कण्ठ, मुख, नासिकाग्र, नेत्र, भ्रूमध्य, शिर तथा इससे थोड़ा ऊपर द्वादशाङ्गुल परिमाणवाले लिङ्ग-शरीर के स्थान सहस्रार, ये दश स्थान धारणा के लिए प्रसिद्ध बताये गये हैं'[2]। योगवार्त्तिककार का कहना है कि 'उक्त नाभि आदि धारणा के स्थानों पर जीव तथा ईश्वर के मुख्य स्थान हैं जैसे राजा का सिंहासन। इसीलिए ये धारणा के लिए उपयुक्त कहे गये हैं'।[3]

२. बाह्य धारणा

शास्त्री अमीरचन्द ने मन्त्रों से बाह्य धारणा का स्वरूप प्रतिपादित किया है कि अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रादि बाह्यज्योतियों में धारणा[4] करने का यहाँ प्रतिपादन है। इसी प्रकार अथर्ववेद में जलों, ज्योतियों तथा वनस्पतियों में धारणा करने का प्रतिपादन किया गया है।[5] बुद्धि वृत्तियों के नाशक, दोषनाशक, वलिष्ठ, जटाधारी-रुद्र में भी धारणा का प्रदेश निश्चित किया गया है।[6]

बाह्य विषय में धारणा करने के लिए तत्त्ववैशारदीकार ने पुराण के प्रमाण द्वारा प्रमाणित किया है कि मूर्त्तरूप सर्वोपाश्रय तथा निःस्पृह शंख-चक्र-गदा-पद्म तथा शारीरिक अनुपम छटा से युक्त भगवान् की धारणा तबतक करनी चाहिए जबतक उसमें दृढ़ता न आवे।[7]

---

१. नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु।
—व्या० भा० ३।१

२. प्राङ् नाभ्यां हृदयेवाऽथ तृतीये च तथोरसि। कण्ठे मुखे नासिकाग्रे
नेत्रभ्रूमध्यमूर्द्धसु। किंचित्तस्मात्परस्मिश्च धारणा दश कीर्तिताः॥
—उद्धृत यो० वा० ३।१

३. एतानि च नाभ्यादीनि जीवेश्वरयोर्मुख्यस्थानान्येव राज्ञः सिंहासनवत्।
—तदेव

४. विराड् ज्योतिरधारयत्—यजु० १३।२४

५. अपां तेजो···धारयामो—अथ० १।३५।३

६. इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने—यजु० १६।४८

['वेदों में धारणा' हस्तलिखित लेख से]

७. मूर्त्तंभगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिःस्पृहम्।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्य्यते॥—उद्धृत तत्व० वै० ३।१

तत्ववैशारदीकार की उक्त भावना का परिहार करते हुए योग-वार्त्तिकार का कहना है कि बाह्य-देश में धारणा करने से तो वृत्ति उत्पन्न होगी, जो कि ध्यान में बाधक है। उन्होंने 'ईश्वर गीता' के प्रमाण से सिद्ध किया है कि—'विना ग्रालम्बन के जो एकाकार समाधि स्थिति हो जाती है जिसमें ग्रर्थमात्र की प्रतीति होती है यही योग का उत्तम साधन है'।[1]

योगवार्तिकार के समान वैदिक संहिताग्रों में भी इस प्रकार की बाह्यधारणा का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वृत्ति-निरोध के लिए निरालम्ब होकर चिन्तन-मनन तथा धारणा-ध्यान सूक्ष्मता की ग्रोर ग्रग्रसर करता है, इसके विपरीत बाह्य-ग्रालम्बन मूर्त्तरूपों का लेना तथा वेदों में प्रदर्शित करना पूर्वाग्रह मात्र है। धारणा सम्बन्धी ग्रतिरिक्त विवेचन विज्ञानमयकोश के प्रकरण में द्रष्टव्य है। ग्रब हम ध्यान का निरूपण करेंगे।

ध्यान

सप्तम योगाङ्ग ध्यान, उपासना के साधनों में विशेष महत्त्वपूर्ण है। ध्यान की ग्रपनी उत्कृष्टता के कारण ही ग्रष्टाङ्ग से युक्त राजयोग को 'ध्यान-योग' भी कहा जाता है। ध्यान-योग द्वारा इस चक्रभ्रमणरूप वासना-प्रवाह का सर्वथा निवारण करके जब जीव परमात्मा से प्रीति करता है, तब योग को प्राप्त होता है। इस कथन से सिद्ध है कि योग-सिद्ध होना या परमात्मा के ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन ध्यान ही है।

धारणा किये गये स्थान पर प्रत्ययों की एकतानता या वृत्तियों के प्रवाह का एकरस हो जाना ही 'ध्यान' है।[2] महर्षि दयानन्द ने ध्यान के पारिभाषिक योगसूत्र का स्पष्टीकरण किया है कि 'धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने ग्रौर ग्राश्रय लेने के योग्य जो ग्रन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश ग्रौर ग्रानन्द में, ग्रत्यन्त विचार ग्रौर

---

१. बाह्ये वा विषय इति। चन्द्र सूर्याग्न्यादावीश्वर देवताऽऽदिध्यानदेश इत्यर्थः, वृत्तिमात्रेणेति। वृत्तिमात्रेण न तु ध्येयकल्पनयेत्यर्थः, तेन ध्यानादि व्यावृत्तिः तदुक्तमीश्वरगीतायाम्'''एकाकार समाधिः स्याद्देशालम्बनवर्जितः। प्रत्ययो ह्यर्थमात्रेण योगसाधनमुत्तमम्।—द्रष्टव्य—यो० वा० ३।१

२. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—यो० ३।२

प्रेम-भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना इसी का नाम 'ध्यान है।'[1]

ध्यान की पद्धतियाँ

वैदिक संहिताओं के परिशीलन से यह निश्चय होता है कि ध्यान की कई पद्धतियाँ हैं। ऋग्वेदीय मन्त्र के अनुसार ध्यान की एक पद्धति बताई गई है कि 'नदी-नद आदि जल जैसे समुद्र में ही समा जाते हैं वैसे ही परमेश्वर में ध्यान करनेवाले अपनी इन्द्रियों को समेटकर परमात्मा के आनन्द में निमग्न हो जाते हैं।'[2] इसका तात्पर्य है कि 'उपासक सर्वात्मना परमात्मा में मन आदि के द्वारा निमग्न हो ध्यान करे, जैसे सदैव से उपासक सर्वज्ञ, महान् परमेश्वर में मन, बुद्धि एवं सम्पूर्ण ज्ञान को समर्पित करते आये हैं।'[3] साथ ही सबके धारक, जीव-मात्र के साक्षी, सर्वव्यापक-देव तथा जगत्स्रष्टा की विशेष स्तुति करते हैं। उपासक के लिए परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की स्तुति महत्त्वपूर्ण नहीं। इस प्रकार 'उपासना करने से परमात्मा अपने सामर्थ्य से उपासकों पर कृपा कर उनकी बुद्धि को अपने में युक्त कर लेता है'[4] और 'उनके आत्माओं में दिव्य प्रकाश को प्रकट करता है।'[5]

नाड़ियों में ध्यान

जिस प्रकार नाड़ियों में धारणा करने का परिशीलन किया था, उसी प्रकार धारणा को एकतानता का स्वरूप दे देना, नाड़ियों में ध्यान का सूचक है। वेद में निर्देश है कि नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द

---

१. ऋ० भा० भू० (उपासना विषय); यो० ३।२; पृ० सं० २६०

२. आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः।
न त्वामिन्द्राति रिच्यते ॥—ऋग्० ८।९२।२२

३. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥
—ऋग्० ५।८१।१

४. युञ्जानः प्रथमं मनः।—यजु० ११।१

५. युक्तेन मनसा।—यजु० ११।२—द्रष्टव्यः—ऋ० भा० भू० पृ० २२८

की वृद्धि करो,[1] इस प्रकार साधना करने से अन्तःकरण को शुद्ध करके, विज्ञानरूपी बीज बोने की योग्यता आ जाती है अर्थात् प्रज्ञाविवेक उत्पन्न होने लगता है। ऐसी ध्यान-स्थिति में पहुँचकर योगी वेदमन्त्रों के द्वारा परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना करता है, तो उसका फल शीघ्र प्राप्त होता है। इस उपासना का फल क्लेशों का नाश, शान्ति की प्राप्ति तथा मोक्षानन्द से परितृप्ति है।

ज्योतिर्मय-ध्यान

तेजोमय परमात्मा का ध्यान करने की पद्धति का वेद निर्देश करता है कि—'मानव यज्ञार्थ भौतिक अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ अपनी मनन शक्ति द्वारा अपनी धारणावती बुद्धि को इस प्रकार सम्बुद्ध करे अर्थात् ध्यानावस्था में विचार करे कि 'मैं तो विविध स्थानों पर पहुँचनेवाली, अन्धकार को दूर करनेवाली किरणों का ज्ञान-ज्योतियों द्वारा ज्योति-स्वरूप परमेश्वर को ही प्रदीप्त-कर रहा हूँ।'[2]

उपासक सामवेदीय 'आग्नेय काण्ड' के अन्तर्गत उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा की अनेकों शक्तियों, तथा ध्यान में अग्रसर करनेवाले गुणों का बारम्बार ध्यान करते हुए कहता है कि—'हे उपासको! अतिथि-सदृश, पूजनीय तथा मित्र के समान प्रिय, प्रगति के लिए रथ के समान प्रापणीय परमात्मा की मैं उपासना-स्तुति करता हूँ—ध्यान करता हूँ।' उसी प्रकार तुम भी किया करो।[3]

ज्योतिर्मय ध्यान के निमित्त श्वेताश्वेतर ऋषि का अभिमत है कि—'जो भगवान् देवों की उत्पत्ति और प्रलयकारक है, विश्व का ईश्वर न्यायकारी और सर्वज्ञ है, हे उपासको! उस अभिव्यक्त, प्रकाशमय को देखो, उसे ध्यान में अवलोकन करो। वह परमेश्वर

---

१. **युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।**
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥
—यजु० १२।६८; ऋ० भा० भू० उपासना वि०

२. **अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।**
अग्निमीधे विवस्वभिः॥—ऋग्० ८।१०२।२२

३. **प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।**
अग्ने रथं न वेद्यम्॥—साम० ५

हमको शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।'[1]

अग्निमन्थनरूप ध्यान

वेदों तथा उपनिषदों में अन्य ध्यान-प्रक्रियाओं के साथ अग्नि-मन्थनस्वरूप का भी निर्देश मिलता है। उपासक परमेश्वर के प्रकटीकरण का रहस्योद्घाटन करता है कि—'हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! स्थिर-चित्तवाले ध्यानी उपासक ने शरीर की पुष्टि करनेवाले हृदय से आपको मथा है और मथकर आपको प्रकट किया है तथा समग्र शरीर का वहन करनेवाले मूर्धास्थान से भी मथकर आपको प्रकट किया है।'[2] औपनिषदिक[3] ऋषियों ने वेद की इस मन्थनक्रियायुक्त ध्यानप्रणाली को स्वीकार किया है कि—'जब ध्यानावस्था में अग्नि—आदित्यधाम की ज्योति—भलीभाँति मथन की जाती है, चमचमाकर प्रकट होती है, वायु=प्राण वश में किया जाता है तथा प्राणगति सूक्ष्म हो जाने पर, सोम=प्रसादभाव अधिक बढ़ जाता है तब मन अच्छी प्रकार स्थिर हो ध्यानरूप में आ जाता है। अग्निमन्थन के उपकरणों की समता आध्यात्मिक साधनों से की गयी है 'परमकल्याण का अभिलाषी उपासक अपने शरीर को नीचे की अरणी समानकल्पना कर और प्रणव को ऊपर की अरणी मानकर ध्यानरूप निर्मथन-अभ्यास से काष्ठ में व्याप्त अग्निवत् परमेश्वर को देखे।'[4]

धनुर्धारी-सदृश ध्यान-विधि

मुण्डकोपनिषद् में ध्यान-विधि को ऋषि ने कहा है कि 'उपनिषद् द्वारा वर्णित ब्रह्मविद्यारूप महा अस्त्र धनुष को पकड़कर उसमें उपासनारूप तीखा तीर लगाना चाहिए। परमेश्वर में तन्मयचित्त से धनुष को खींचकर उस अविनाशी लक्ष्य को बींधना चाहिए। इस ध्यान-पद्धति के

---

१. यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च शिवाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥
—श्वेता० ४।१२

२. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाधतः॥—साम० ६

३. अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः॥—श्वेता० २।६

४. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्यन्निगूढवत्॥—श्वेता० १।१४

उपकरणों का विश्लेषण करते हुए अङ्गिरा ऋषि ने कहा है कि परमेश्वर का नाम 'ओ३म्' धनुष है। अभ्यासी-योगी का आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। दुष्टकर्म—चंचलता और प्रमाद को त्यागकर सावधानी से उसे बींधना चाहिए। लक्ष्य में बाण की भाँति अभ्यासी नाम, ध्यान और जप में तन्मय हो जाए'।[1] इस प्रकार यह ध्यान-विधि सेवनीय है।

अन्तर्नादमय ध्यान

वैदिक संहिताओं में अन्तर्नादमय ध्यान के संकेत स्पष्टरूप से मिलते हैं। मीमांसातीर्थ पं० जयदेव विद्यालंकार एक मन्त्र के भाषार्थ में लिखते हैं कि—'आकाश में स्थित मेघ-खण्ड के समान प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का भजन करनेवाला जीव भी गर्जते मेघ के समान ही अन्तर्नाद करता है'।[2] इसपर टिप्पणी करते हुए स्वामी मैंहीदास ने स्पष्ट किया है कि 'प्रकाशस्वरूप[3] परमेश्वर का भजन करनेवाला अथवा आत्म-ज्योति का दर्शन करनेवाला जीव मेघ के समान गर्जन वा अन्तर्नाद करता है।'[3] इसका तात्पर्य अन्तर्नाद [अनाहत नाद] अन्तर् के ध्वान्यात्मक शब्द का ध्यान अर्थात् नादानुसन्धान वा सुरत शब्दयोग करना है। आगे उन्होंने नाद बिन्दूपनिषद् के कथन से समता दिखाई है कि 'आरम्भ में नाद समुद्र, बादल, दुन्दुभि, जलप्रपात से निकले हुए जैसे मालूम होते हैं, मध्य में मर्द्दल तथा घण्टा, बाद में सिंह जैसा घोर शब्द सुनाई देता है।'[4] आगे मन्त्र में स्पष्ट किया है कि 'जैसे वायु वेग से अग्नि-तृणों तथा काष्ठों में बढ़ती हुई विविध प्रकार के चटचटाशब्द करती है तथा कभी बारूद के गोले जैसा धमाके का शब्द करती है, उसी प्रकार वह अपने भीतर आत्मा को धारण करनेवाले प्राणों और

---

१. **धनुर्गृहीत्वौपनिषदंमहास्त्रं शरं ह्यु पासा निशितं संधयीत।**
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य ! विद्धि॥—मुण्ड० २।३
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥—मुण्ड० २।४

२. **आ स्वमद्म युवमानो... दिवो न सानुस्तनयन्नचिक्रदत्।**—ऋग्० १।५८।२

३. द्रष्टव्य—टिप्पणी [वेद दर्शन योग] पृ० ६

४. **आदौ जलधि-जीमूत-भेरी-निर्झर-सम्भवः।**
मध्येमर्द्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा॥—नादबिन्दू ३४

स्वयं सरण करनेवाली वाणी द्वारा अनायास ही बहुत-सी वर्ण-ध्वनियों को उत्पन्न करता है'।[1]

उक्त मन्त्रार्थ के प्रकरण की समता छान्दोग्योपनिषद् में नादध्वनि के श्रवण संकेत से की गई है।[2] इसी प्रकार ऋग्वेद के अन्य मन्त्रों में भी अन्तर्नाद के प्रकरण मिलते हैं, जैसे—'हृदय की शान्ति को प्राप्त हुआ और मेघ तथा सिंह के समान गर्जता हुआ, साधक निर्भय तथा अन्तनादर्ब्रह्म में लीन हो परम पद को प्राप्त करता है।'[3]

एक अन्य मन्त्र में चरण-अध्याय-पाद-सर्ग आदि विभागवाली वाणी से प्रथम, श्रेष्ठ आदिनाद का वर्णन किया है, जिसे अनाहतनाद की संज्ञा दी जाती है।[4] इसी आदिवाणी के माध्यम से ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चार वाणियाँ सर्गारम्भ में ऋषियों की अन्तर्गुहा में प्रकट होती हैं।[5] 'नादब्रह्म ही शब्दब्रह्म का बीज है। वेदों का प्रादुर्भाव इसी नाद से होता है। नाद का उद्भव परमेश्वर की सच्चिदानन्दमयी भगवती-स्वरूपा शक्ति से होता है।'[6]

निराकार ब्रह्म से वेदविद्या के प्रकट होने की प्रक्रिया का स्वरूप महर्षि दयानन्द ने अभिव्यक्त किया है कि 'परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेदविद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मुख, जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिए किया जाता है, कुछ अपने लिए नहीं, क्योंकि मुख-जिह्वा के व्यापार करे विना ही, मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है। कानों को अंगुलियों से मूँदकर देखो, सुनो कि विना मुख, जिह्वा, ताल्वादि स्थानों के कैसे-कैसे शब्द हो रहे हैं, वैसे ही जीवों को अन्तर्यामीरूप से उपदेश किया है।'[7]

---

१. वि वातजूतो अतसेषु तिष्ठते वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः।
तृषु यदग्ने वनिनो वृषायसे कृष्णं त एम रुशदूर्मे अजर॥
—ऋग्० १।५८।४

२. यत्रैतदस्मिञ्छरीरे···निनदमिव···य एवं वेद॥—छान्दो० ३।१३।८

३. आदस्य ते ध्वसयन्तो···स्तनयन्नेति नानदत्।—ऋग्० १।१४०।५

४. अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत।—ऋग्० १।१५२।३

५. तस्याः समुद्रा···ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति।—ऋग्० १।१६४।४२

६. कल्याण—वेदान्त अंक—'नादब्रह्म' 'मोहन की मुरली' लेख—पृ० ४०७

७. सत्यार्थप्रकाश सप्तम समु०, पृ० सं० १८०

योगशिखोपनिषद् में—अक्षर परमनाद को ही 'शब्दब्रह्म' कहा गया है।[1] 'ये दो विद्याएँ ही समझनी चाहिए, एक तो शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। जो उपासक शब्दब्रह्म में निपुण हो जाता है वह परब्रह्म को प्राप्त करता है।'[2]

सामवेदीय ऋचा में अनाहतनाद के अभ्यास से प्राणवायु को वश में करना वर्णित है। ध्यान का उपदेश दिया गया है कि हे उपासक ! ध्यान के बल से अपने मूल स्थान, आश्रय, हृदयदेश में स्थिर होकर मेघवत् अनाहतनाद या ईश्वर की स्तुति करता हुआ अपने धारक प्रयत्न द्वारा प्राणवायु पर वश कर। अनाहतनादरूप से नाद करता हुआ ब्रह्माण्ड में या अन्तरिक्ष में सुखों का वर्षक होता है।'[3]

यजुर्वेदीय मन्त्र के आधार पर पतञ्जलि मुनि ने प्राणियों में विद्यमान शब्द का विश्लेषण किया है, यथा—'नाम, आख्यात [क्रियापद] उपसर्ग और निपात ये चार सींग हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीन पैर, नित्य-अनित्य शब्द दो शिर, तथा सात विभक्तियाँ, सात हाथ हैं। यह शब्द छाती, कण्ठ एवं शिर तीन स्थानों पर बँधा है। सुनने से सुख की वृष्टि करता, उपदेश देता और ध्वनिरूप होकर समस्त मरणधर्मा प्राणियों में विद्यमान है'।[4]

अथर्ववेदीय मन्त्र में भी कहा है कि 'जैसे गौओं के बीच वीर्य-सेचन में समर्थ साँड बार-बार गर्जना करता है उसी प्रकार सबके हृदयों में रसवर्षण करनेवाला परमात्मा अन्धकारों का नाश करनेवाले तीक्ष्ण प्रकाश से युक्त होकर ध्वनि कर रहा है।'[5]

ध्यान के प्रमुख प्रकारों का वैदिक संहिताओं में अनुशीलन किया। इनके अतिरिक्त भी रूपक आदि अलंकारों में ध्यान-प्रकारों का विवेचन सम्भव है। विस्तारभय से यहाँ संकेतमात्र किये हैं।

---

१. **अक्षरं परमोनादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते**—योगशिखोपनिषद्।

२. **द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।**
शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥—ब्रह्मबिन्दू० १७

३. **पवमान धिया हितोऽभि योनिं कनिक्रदत्।**—साम० ६२१ तथा १०८०

४. **चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽअस्य—महो देवो मर्त्याँऽआविवेश।**
—यजु० १७।६१ व्या० म० भा० १ आ०

५. **वृषभो न तिग्मशृङ्गो…शं हृदे यं ते सुनोति…उत्तरः।**
—अथ० २०।१२६।१५

ध्यान के सामर्थ्य-लाभ

ध्यानी जनों में ध्यान के कारण उत्पन्न सामर्थ्यों को बताते हुए वेदों में ध्यान करने की प्रेरणा की गई है कि—'हे योगाभिलाषी ! यदि तू समर्थ होकर मन को स्थिर करे तो अकेला ही बहुतों को भी युद्ध के लिए पर्याप्त हो सकता है, उन्हें जीत सकता है, ध्यानबल से पत्थर को भी चमका दे और सुख वर्षानेवाली इन्द्रियों के विघातक स्वरूप का विचार किया कर।'[1]

'उषा के समान ज्ञानप्रकाश करनेवाले, उत्तम दिनोंवाले, निर्दोष, निरन्तर ध्यान करनेवाले योगी विशाल प्रकाश को प्राप्त करते हैं। कमनीय कामनाओंवाले इन्द्रय-सम्बन्धी विशाल बल को भी विशेषरूप से वरण करते हैं। उनके ज्ञानप्रकाश के अनुकूल जल बहने लगते हैं।'[2] 'जो सच्चे मन से ध्यान करते हैं, वे सच्चे ज्ञान-कर्म से युक्त होते हैं अर्थात् उनके ज्ञान-कर्म और मन में कोई दोष नहीं रहता।'[3]

वेद में मनुष्य-जीवन का प्रयोजन सुन्दर काव्यमयी भाषा में वर्णित किया गया है कि 'यह शरीरधारी मानव, दिनों को सुदिन बनाने के निमित्त पैदा होता है। वह जीवन-संग्राम के निमित्त तथा लक्ष्य-प्राप्ति के लिए सब प्रकार से बढ़ता है। अन्त में ध्यान करनेवालों की विशेषता प्रतिपादित की है कि 'ध्यानीजन बुद्धि से कर्मों को पवित्र करते हैं और मेधावी ब्राह्मण दिव्य कामना से वाणी को उच्चारण करता है।'[4] श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार 'परमेश्वर का अभिध्यान, चिन्तन तथा जप आदि करने से अविद्यादि क्लेशों की निवृत्ति, पापों का नाश, जन्म-मृत्यु का अन्त हो मोक्ष प्राप्त होता है।'[5]

---

१. स्थिरं मनश्चकृषे जात इन्द्र वेषीदेको युधये भूयसश्चित् ।
अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतो वि विदो गवामूर्वमुस्त्रियाणाम् ॥
—ऋग्० ५।३०।४

२. उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥—ऋग्० ७।९०।४

३. ते सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति ।
—ऋग्० ७।९०।५

४. जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः ।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम् ॥—ऋग्० ३।८।५

५. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥—श्वेता० १।११

सनत्कुमार ने नारद को ध्यान की महिमा समझाते हुए कहा है कि—'ध्यान [आत्मा की एकाग्रता] ही चित्त से महान् है। पृथिवी-अन्तरिक्ष-सौर लोक, जल, पर्वत, देवजन तथा मनुष्य आदि प्रकृति का सारा विकास अपने रचयिता परमेश्वर का मानो ध्यान कर रहे हैं। इस कारण जो नर-नारी इस लोक में मनुष्यों की महत्ता को प्राप्त करते हैं वे सभी थोड़े-बहुत ध्यान से ही बड़ाई पाते हैं, उनकी समृद्धि का कारण ध्यान की कला का अंश ही है। इसके अतिरिक्त जो अल्प हैं, तुच्छ हैं एवं चंचलचित्त हैं वे कलह करनेवाले, चुगलखोर और निन्दक होते हैं। मनुष्य में सामर्थ्य-शक्ति का संचय होना ध्यान की कला के अंश का ही परिणाम होता है, अतः हे नारद! तू ध्यान को सिद्ध कर। जो उपासक ध्यान को महान् जानकर भगवान् की उपासना करता है, ध्यान में परमात्मा की आराधना करता है, जहाँ तक ध्यान की गति है वहाँ तक उसका स्वच्छन्द संचार होता है।"[1]

इस प्रकार ध्यान का विशदस्वरूप संहिताओं और उपनिषद्-साहित्य में विशेषरूप से निरूपित है। संक्षेप से यहाँ ध्यान का अनुशीलन करके अब योगाङ्गों के अन्तिम अङ्ग समाधि का परिशीलन प्रस्तुत करेंगे।

समाधि

योगाङ्गों में समाधि अन्तिम अङ्ग है। योग की पूर्णता समाधि पर आकर होती है अर्थात् पूर्ववर्ती सातों योगाङ्गों का पक्ष समाधि है।

योगी जब अपने ध्यान के अत्युच्च शिखर पर पहुँचता है, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय में द्वैतभाव नहीं रहता, वे कर्पूर ज्योति के समान परस्पर में विलीन हो जाते हैं, केवल ध्येय मात्र ही भासता है, ध्याता का अपना स्वरूप भी लुप्त-सा हो जाता है, उस अवस्था को 'समाधि' कहते हैं। इस समाधि-अवस्था में लक्ष्य-ही-लक्ष्य स्फुरित होता है। इसलिए ध्यान

---

१. **ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी, ध्यायतीवान्तरिक्षम्, ध्यायातीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वताः, ध्यायन्तीव देवमनुष्याः। तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति। अथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्ते। अथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति। ध्यानमुपास्स्वेति॥ स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते···।**

—छान्दो० प्र० ७।६।१-२

समाधि का अव्यवहित पूर्ववर्ती साक्षात् साधन है। ध्यानावस्था में ध्याता, ध्यान एवं ध्येय की त्रिपुटी पृथक्-पृथक् प्रतीत होती है परन्तु समाधि में ध्येय वस्तु ही शेष रहती है अथवा ध्याता में ध्येय के स्वभाव का आवेश होना ही 'समाधि' है।

समाधि शब्द की वैदिकता

वैदिक संहिताओं में 'समाधि' पद का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। परन्तु समाधि का समानार्थक 'समाहितः' शब्द के प्रयोग कुछ विभक्तियों में मिलते हैं। इस पद का यजुर्वेद में एक बार[1] तथा अथर्ववेद के १६ मन्त्रों में प्रयोग मिलता है[2] जिनमें प्रसंगवश अन्य अर्थों के भी द्योतक हैं, परन्तु गुरु-परम्परा एवं शास्त्रों में व्यवहृत परिभाषाओं के आधार पर समाधि की अवस्था को अभिव्यक्त करनेवाले पर्याप्त मन्त्र मिलते हैं।

समाधि का स्वरूप

सम्+आङ् पूर्वक 'धा' धातु से 'किः' प्रत्यय करके निष्पन्न समाधि[3] शब्द को व्यासमुनि ने 'योग' का पर्याय बताया है,[4] जो अङ्ग और अङ्गी के अभेद का सूचक है। योग की पूर्णता समाधि, चित्त का ही धर्म है। इधर समाधि की परिभाषा करते हुए पतञ्जलि का कहना है कि 'अपने ध्यानात्मकरूप से रहित केवल ध्येयरूप से प्रतीत होने-वाले ध्यान का ही नाम समाधि है।'[5] इसके अतिरिक्त समाधि का अर्थ समाधान किया गया है। विग्रहरूप से 'विघ्नों' का निवारण करके जिसमें मन को एकाग्र किया जाय उसे समाधि कहते हैं।'[6]

ध्याता की ध्येयाकारवृत्ति, समाधि का वास्तविकस्वरूप है। ऋग्वेद के मन्त्र में उपासक द्वारा समाधि अवस्था की अभिलाषा व्यक्त की है कि—'हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! जबकि मैं तू हो जाऊँ और तू भी मैं हो जाए, तो तेरी आशीर्भावनाएँ=कल्याण-भावनाएँ एवं शिक्षाएं

---

१. यजु० ६।३
२. अथ० ४।११।८; ११।१।५०; १०।६।३५; १०।७।२६; ११।६।१-२; १६।५३।७-८; १०।७।११, १३, १५, २२; ११।६।८-६; ६।७३।३
३. उपसर्गे घोः किः—अष्टा० ३।३।६२; इत्यनेन किः प्रत्ययः
४. योगः समाधिः।—व्या० भा० १।१ द्रष्टव्य [तत्ववैशारदी]
५. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।—यो० ३।३
६. सम्यगाधीयते एकाग्री क्रियते विक्षेपान् परिहृत्यमनो यत्र सः समाधिः॥

सत्य हो जाएँ ।"[1]

साम्प्रदायिक जन इस मन्त्र के मौलिक रूप पर ध्यान न देकर इसे साम्प्रदायिकवाद की ग्रोर खींचते हैं। मन्त्र में ग्राए 'वा' शब्द को विकल्पार्थक [या] में रखकर 'हे परमात्मन् ! मैं तू हो जाऊँ [वा] या तू मैं हो जाए, इनमें से कोई एक ग्रवश्य हो जाए। यदि मैं तू नहीं हो सकता हूँ, तो तू मैं हो जा ग्रौर जो तू मैं नहीं हो सकता है तो मैं तू जाऊँ। इनमें से कोई एक सम्भव हो, वह हो जाना चाहिए। ऐसे कथनों से ग्रपने-ग्रपने ग्रभिप्राय को साधने का यत्न करते हैं। पौराणिक सम्प्रदाय इससे ग्रवतारवाद सिद्ध करना चाहता हुग्रा कहता है कि 'हे परमात्मन् ! यदि मैं तू नहीं हो सकता हूँ तो तू मैं हो जा, शरीर धारण कर ले, भक्त-तारण के लिए मानव-देह में ग्रवतार ले ले।' नवीन वेदान्ती सम्प्रदाय इससे ग्रपने को ब्रह्म बनाने या जीव का ब्रह्म बन जाना सिद्ध करना चाहता हुग्रा, कहता है कि 'परमात्मन् ! यदि तू मैं नहीं हो सकता तो मैं तू हो जाऊँ, मैं ब्रह्म बन जाऊँ।'

उक्त मन्त्र का विवेचन करते हुए विद्यामार्तण्ड स्वामी ब्रह्ममुनि का कहना है कि 'उक्त साम्प्रदायिक वादों में एक-एक पक्ष सम्भव ग्रौर एक-एक पक्ष ग्रसम्भव ठहरता है। जो-जो ग्रसम्भव वह-वह ग्रसत्य सिद्ध होता है, परन्तु वेद ने दोनों पक्षों को **'स्युष्टे सत्या इहाशिषः'** सत्य कहा है परन्तु 'तू मैं हो जाना, ब्रह्म का जीव बन जाना सत्य नहीं किन्तु मिथ्यारूप में मानता है कि ब्रह्म ने ग्रपने में जीव की मिथ्या कल्पना कर ली, किन्तु वेद 'तू का मैं हो जाना' भी सत्य कहता है,[2] ग्रतः यह मन्त्र नवीन वेदान्त का समर्थक न हुग्रा, किन्तु विरोधी हुग्रा। मैं का तू हो जाना ग्रौर तू का मैं हो जाना वैदिक दृष्टि में दोनों पक्ष सत्य कहने से यहाँ मन्त्र में 'वा' शब्द विकल्पार्थक न होकर 'च' के ग्रर्थ समुच्चयार्थ में है।[3] साथ में वा के समुच्चयार्थ होने में 'घा' शब्द साधक है। 'घ' ग्रपि=भी के ग्रर्थ में ग्राता है। तब ग्रर्थ हुग्रा कि 'परमात्मन् ! मैं तू हो जाऊँ ग्रौर तू भी मैं हो जा' दोनों का समुच्चय है, दोनों सत्य हैं, दोनों सम्भव हैं। ग्रतः दोनों पक्षों के सम्भव की स्थिति है समाधि

---

१. **यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या ग्रहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥**
—ऋग्० ८।४४।२३

२. 'वेदवाणी' का वेदांक—'वैदिक वेदान्त' वर्ष ६, अंक १ पृ० ६५

३. **वा···ग्रथापि समुच्चयार्थे वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा।**—निरु० १।४

या उपासना योग की, इसलिए यह मन्त्र समाधि या उपासना-योग का प्रदर्शक है। समाधि की दशा में उपास्य के गुण उपासक में आ जाया करते हैं। अग्नि में पड़ा लोहे का गोला भी अग्नि के प्रकाश और ताप को ले, प्रकाशवान और तापवाला बन जाता है, उसी प्रकार उपासक भी उपास्य-ब्रह्म के आनन्द का भोग करता है। वेद की इस मान्यता की पुष्टि वेदान्त-दर्शन में की गई है।[1] उपनिषदों में उपास्य परमात्मा को रसस्वरूप कहा गया है। 'उपासक रसस्वरूप को ग्रहण कर आनन्दी हो जाता है।'[2] मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि 'उपासक जब सृष्टिकर्ता स्वामी परम-पुरुष तथा ज्ञानस्रोत को देखता है तो पुण्य-पाप को छोड़कर निरञ्जन-निर्मल हो भगवान् की परम समता को प्राप्त करता है।'[3] बस यही बात प्रस्तुत वेदमन्त्र में 'मैं का तू हो जाना' कही है।

द्वितीय स्थिति है 'तू भी मैं हो जा।' वह अनन्त परमात्मा समाधिस्थ योगी के अन्दर आभरित हो जाता है, अल्प देशस्थ-सा बन जाता है, जैसे—अग्नि लोहे के गोले में प्रवेश कर गोलेरूप में भासित होने लगती है। जीवात्मा हृदयदेश में है, तब ब्रह्म का साक्षात् भी हृदय-प्रदेश में होने से ब्रह्म भी जीवात्म-प्रदेशीय हो जाता है। वेदान्तसूत्र में हृदय-प्रदेशीय आत्मवर्ती परमात्मा को (निचाय्य) उपास्य या द्रष्टव्य कहा है।[4] उपनिषद् में 'अंगुष्ठमात्र स्थान में स्थित आत्मा में भूत या भव्य के ईश्वर की स्थिति=प्राप्ति कही है।[5] बस यही कथन प्रस्तुत वेदमन्त्र में 'तू का मैं हो जाना' कहा है।

उक्त **'यदग्नेस्यामहं'** मन्त्र तथा समाधि की परिभाषा-बोधक पातञ्जल सूत्र की सम्पुष्टि करते हुए महर्षि दयानन्द ने कहा है कि

---

१. **भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च।**—वेदान्त० ४।४।२१

२. **रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**

—तै० उ० ब्रह्म० व० ७ अनु०

३. **यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।**
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

—मुण्ड० ३।१।३

४. **अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च॥**

—वेदान्त० १।२।७

५. **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।**
ईशानो भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते। एतद्वैतत्॥—कठो० २।४।१२

जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भूले हुए के समान जान के, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं।[1]

समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उक्त प्रकरण के वेदमन्त्र 'यदग्ने' में अग्निस्वरूप परमात्मा कहा है, वह अग्नि में लोहे के गोले का दृष्टान्त मन्त्राशय को स्पष्ट करने में सुसंगत है। लोहे का गोला अग्नि के संग से प्रकाशमान और तापयुक्त अवश्य बन गया, परन्तु अपने स्वरूप को नहीं छोड़ा और अग्नि भी लोहे के गोले में प्रवेश कर गोलरूप में भासित होने लगी परन्तु स्वरूपतः लोहे के गोले से बाहर अलग भी है। इसी प्रकार जीव ब्रह्म के संग या उपासना से उसके आनन्द-ज्ञान आदि गुणों से आनन्दी-ज्ञानी बन जाएगा, पर स्वरूपतः जीवत्व (अल्पशक्ति, अल्पज्ञता, एकदेशित्व आदि) को नहीं छोड़ सकता और ब्रह्म भी जीवात्मा में उपासना द्वारा प्रकाशमान होता हुआ स्वरूपतः उससे भिन्न भी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और अनन्तरूप में रहता ही है। अतः 'यदग्ने स्यामहं त्वं…'मन्त्र समाधि या उपासना-योग की स्थिति का प्रदर्शक है, जीव के ब्रह्म बनने का साधक नहीं, अपितु बाधक है।

समाधि के लिए प्रेरणा

समाधि के स्वरूपज्ञापक मन्त्रों के साथ वेदों में समाधि=उपासना-योग करने की बार-बार प्रेरणायें दी गयी हैं कि 'हे मुमुक्षे! यह ज्ञानेन्द्रियगण तुम्हारी एक ज्योति है, इससे परे और इससे उत्कृष्ट तेरी एक और मनरूपी ज्योति है। समाधि-अवस्था में तू निज तृतीय, ज्योतिरूप, जीवात्मरूप को, परमात्मज्योति में सम्यक् प्रवेश कर। जगत् के जनक परमज्योतिस्वरूप परमेश्वर में सम्यक् प्रवेश पाया हुआ तू विस्तृत अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा की प्राप्ति के लिए उसमें रुचि धारण कर और अन्य दिव्य मुमुक्षुओं का प्रेमपात्र बन जा।[2]

---

१. ऋग्० भा० भू० [उपासना विषय]

२. **इदं त एकं पर उत एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।**
संवेशनस्तन्वे ३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे॥ साम० ६५;
—ऋग्० १०।५६।१

यजुर्वेदीय मन्त्र में भी प्रेरणा दी गयी है कि 'हे योग के जिज्ञासु मनुष्यो ! जैसे मैं सत्यभाषणयुक्त योगी स्तुति, प्रार्थना, उपासनारूप सत्कार से पूर्व योगिजनों से प्रत्यक्ष किये हुए जिस सर्वव्यापक ब्रह्म को आत्मा में साक्षात् करता हूँ,···उनसे आप लोग भी इस योगविद्या का श्रवण करो ।' इसी प्रकार दिव्य सुखों की प्राप्ति तथा मोक्षानन्द की उपलब्धि हेतु वेदों में समाधि-योग के लिए अनेक वार उद्बोधन दिए गये हैं ।[1]

समाधि-प्राप्ति के साधन

वैदिक संहिताओं में यम-नियम आदि सात साधनों की उपयोगिता समाधि की सिद्धि के लिए विस्तार से प्रतिपादित है । इसके अतिरिक्त अथर्ववेदीय मन्त्रों में संक्षेप से समग्र योग साधनों का मनोरम निरूपण किया गया है ।[2]

१. मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयम्—'दिल एवं दिमाग को सींकर, अर्थात् हृदय और मन की एकता होनी चाहिए । यदि मन कुछ सोचे और हार्दिक रुचि किसी अन्य ओर हो तो योग हो ही नहीं सकता ।

२. अथर्वा—निश्चलता—निश्चय—योग-साधक को चंचलता का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । अथर्वा शब्द का एक भाव संशय-रहित है । योगमार्ग में चलनेवाले को इस प्रकार के संशय (मैं सफल होऊँगा या नहीं) सर्वथा त्याग देने चाहिएँ । महर्षि पतञ्जलि ने 'संशय' को योग के विघ्नों में माना है । अथर्वा शब्द का एक भाव यह भी है कि साधनाकाल में योगाभ्यासी का शरीर निष्कम्प रहना चाहिए ।

३. पवमानः—पवित्रता—साधक को अन्तरंग और बहिरंग शौच में सदा तत्पर रहना चाहिए । बाह्य शुद्धि स्नानादि के द्वारा, आन्तरिक शुद्धि काम-क्रोधादि को मन-वचन-कर्म से हटाते रहना चाहिए ।

४. मस्तिष्कादूर्ध्वः—मस्तिष्क से ऊपर, पृथक् । आत्मा के सम्बन्ध

---

१. द्रष्टव्य—यजु० ११।७, ८

नमसेदुप सीदत दध्नेदभि श्रीणीतन । इन्दुमिन्द्रे दधातन ॥—ऋग्०९।११।६

२. **मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।**

मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥—अथ० १०।२।२६

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।

तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥—अथ० १०।२।२७

में उपासक की यह दृढ़ धारणा होनी चाहिए कि आत्मा शरीर ही नहीं वरन् मन से भी पृथक् है और वह मस्तिष्क से ऊपर है अर्थात् मस्तिष्क का संचालक है, इस कारण शरीर, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का वही स्वामी है।

५. **प्रैरयत् अधिशीर्षतः**—प्राण और प्राणवृत्तियों को शिर से ऊपर की ओर प्रेरित करें। प्राणायाम अथवा धारणा, ध्यान के अभ्यास द्वारा प्राण और प्राणवृत्तियों को ऊपर ले जायें अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र [मस्तिष्क के सर्वोच्च स्थान या कोश] में पहुँचाएँ।

६. **तत्प्राणो अभिरक्षति**—उसकी प्राणरक्षा करता है, अर्थात् प्राणायाम एवं ध्यान की उच्च स्थिति के कारण जब प्राण-वृत्ति रुक जाय तो घबराना नहीं चाहिए। उस दशा में प्राण ही रक्षक होता है।

७. **अन्नमथो मनः**—अन्न और मन रक्षा करते हैं। इसका तात्पर्य है कि योगाभ्यासी तथा योगाभिलाषी को अन्न सेवन के सम्बन्ध में बहुत ध्यान रखना चाहिए। अधिक खट्टा, मीठा, तीखा, उत्तेजक आदि पदार्थों से बचना चाहिए। मद्य-मांस आदि तामस भोजन बुद्धि का लोप कर देते हैं। कोई भी मांसाहारी या शराबी योगाभ्यास नहीं कर सकता। अन्न का मन पर प्रभाव पड़ता है, अतएव यहाँ कहा है कि—शुद्ध मन साधक की रक्षा करता है क्योंकि यदि मन में अशुभ और पापमय विचार हो तो भी योगाभ्यास नहीं हो सकता।

'अन्न' का दूसरा भाव है 'अन्नमयकोश' अर्थात् स्थूल शरीर। इस प्रसंग में स्वामी उपनिषत्कार की मान्यता है कि अन्नमयकोश की अपेक्षा मनोमयकोश सूक्ष्म है। अन्नमय और मनोमय कोशों का सञ्चालन प्राणमयकोश के द्वारा होता है। वह मनोमयकोश की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। मनोमयकोश की अपेक्षा विज्ञानमय अधिक सूक्ष्म है। उसको यहाँ शिर शब्द से कहा है। शिर प्राणों का आधार है। प्राण की गति पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालो तो प्राण की ठोकर शिर में लगती प्रतीत होती है अर्थात् प्राण का एक प्रकार से मूल केन्द्र शिर है। इन चारों कोशों का विवेक करने से पाँचवें आनन्दमयकोश का ज्ञान तथा भान होने लगता है।[1] वेद में अनेक स्थानों पर उसे 'मधुकोश' कहा गया है। इस मन्त्र में उसे 'देवकोश' कहा है और इसे 'अधिशीर्षतः' कहकर विज्ञानमयकोश

---

१. द्रष्टव्य—**'स्वाध्यायसन्दीप', प्रभु-प्राप्ति का उपाय,** पृ० १६३-१६५

से ऊपर बताया गया है, इससे ग्रात्मा पृथक् है। उसमें परमात्मा के दर्शन होते हैं, यही मुक्ति का साधन है। इस प्रकार ग्रन्न, मन ग्रौर प्राण से सुसाधित, सुरक्षित एवं सुसंस्कृत 'देवकोशः समुब्जित' देवकोश-संचित हुग्रा है। समाधि द्वारा भगवान् का बोध करानेवाला यह कोश इकट्ठा हुग्रा है। इन्हीं योग साधनों से परमात्मप्राप्ति होती है। कोशों का विशेष निरूपण एवं विश्लेषण कोशों के प्रकरण में द्रष्टव्य है।

समाधि के भेद

वैदिक संहिताग्रों में सामवेद की गणना 'उपासना काण्ड' के ग्रन्तर्गत सर्वसम्मत है। उपासना का शाब्दिक ग्रर्थ 'परमेश्वर के पास सन्निकटता की स्थिति' समाधि की विभिन्न ग्रवस्थाग्रों का ही द्योतक है। विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने सामवेद में समाधि के विभिन्न भेदों के लक्षण मन्त्रों में प्रदर्शित किये हैं जिनका निरूपण इस प्रसंग में विचारणीय है।

योगी जब समाधि की भूमि में प्रवेश करता है तो उसे परमेश्वरीय ज्योति की प्रथम झलक दिखायी देती है। वेद में उसका 'उषा'[1] शब्द से बोध कराया है। यह ग्राध्यात्मिक उषा ग्रनादि काल से उपासकों को ग्राध्यात्मिक सम्पत्तियों की प्राप्ति कराती रही है। यह झलक व्यापक प्रेम ग्रौर व्यापक सत्य का सन्देश देती है। बड़े सौभाग्य से इसकी उत्पत्ति होती है तथा जो ग्राध्यात्मिक कर्मपट को बुनते रहते हैं उन तीव्रसंवेगी योगियों के ग्रन्दर इसका ग्राभास होता है।

योगशास्त्र में योगी की इस ग्रवस्था की उत्पत्ति के लिए शोक-रहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का उत्पन्न होना ही बताया है। व्यासमुनि ने योगियों के चार भेद बताये हैं। उनमें प्रवृत्तमात्र ज्योतिवाला 'प्राथमकल्पिक'[2] कहाता है। वेदमन्त्र में वर्णित लक्षणों की समता इस योग के लक्षण से सामञ्जस्य रखती है।

---

१. महे नो ग्रद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते ग्रश्वसूनृते ॥

—साम० ४२१

२. विशोका वा ज्योतिष्मती—यो० १।३६;
तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्र ज्योतिः प्रथमः—व्या० भा० ३।५१

मधुमति समाधि

दो मन्त्रों में 'मधुमति' शब्द का प्रयोग मधुमति भूमिक समाधि के लक्षणों को व्यक्त करता है। यहाँ कहा है कि—'मधुमति चित्तवृत्ति वह है, जिसमें कि व्युत्थान-वृत्तियों का प्रकर्षरूप में क्षय हो चुका है। इसी वृत्ति में स्थित योगिजन परमेश्वररूपी महाधन को परिपुष्ट करते हैं, इसलिए हे परमेश्वर ! हम उपासक आपका ही ध्यान करते हैं।"[1] द्वितीय ऋचा में यह प्रतिपादित किया है कि 'उपासक जब पार्थिव भोगों के घेरे को लाँघ जाता है, पवित्र हो जाता है, साथ ही इन्द्रियों के धाम भी पूर्णतया पवित्र हो जाते हैं और आध्यात्मिक सूर्य के प्रकट होने से ज्योतिर्मय किरणों से भरपूर हो जाता है, तब उपासक के चित्त में मधुर आनन्दरसमयी धारायें प्रवाहित होने लग जाती हैं अर्थात् योगी मधुमति समाधि की भूमि में प्रवेश पा लेता है।'[2]

व्यासभाष्य के अनुसार ऋतम्भराप्रज्ञावाला द्वितीय कोटि का योगी बताया है जिसको 'मधुभूमिक' संज्ञा भी दी है।[3] यह अवस्था योगी के लिए विशेष परीक्षा की है—जिसमें रूप-लावण्य, वाणी के माधुर्य, सत्त्वशुद्धि आदि गुणों से प्रभावित हो सांसारिक गृहस्थजन ऐसे योगी को विविध प्रकार के भोगों के लिए निमन्त्रित करते हैं। यदि उस समय योगी भोगों में आकृष्ट हो, उपासना में कमी कर देता है तो आगे उसका अधःपतन स्वाभाविक है। इन प्रकरणों के अतिरिक्त वेदों में ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति का वर्णन अन्य स्थलों पर भी उपलब्ध होता है।[4]

प्रज्ञा-ज्योतिः

सामवेदीय मन्त्र में परमात्मा को बाह्य तथा आन्तरिक ज्योतियों का प्रकाशक बताया है। यहाँ भाष्यकार ने सूर्य-नक्षत्र आदि बाह्य ज्योतियों और मूर्धज्योति, विशोका ज्योतिष्मती तथा प्रज्ञालोक आदि

---

१. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥—साम० ४४४

२. प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन्वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम् ।
पवमान पवसे धाम गोनां जनयंत्सूर्यमपिन्वो अर्कैः ॥—साम० ५३४;
—ऋग्० ९।९७।३१

३. ऋतम्भर प्रज्ञो द्वितीयः मधुभूमिकः—व्या० भा० ३।५१

४. उत नो वाजसातये—साम० ११९०

आभ्यन्तरिक ज्योतियों की गणना की है।[1] प्रज्ञाज्योति तक पहुँचने के लिए अन्य मन्त्र में साधनाक्रम वर्णित है जोकि मन्त्र के पदार्थ से स्पष्ट हो सकेगा—"हे परमेश्वर! आप (यद्) जब (कृष्णाम्) काली तामसी चित्तवृत्तियों को तथा (एनीम्) चितकबरी अर्थात् रजस्तमो-मयी चित्तवृत्तियों को (वर्पसा) निज समुज्ज्वल स्वरूप द्वारा (अभि अभूतम्) पराभूत कर देते हैं, तब आप (बृहतः पितुः) महापालक सूर्यरूपी पिता से (जाम्) उत्पन्न हुई (योषाम्) नाना वर्णों से मिश्रित उषा के सदृश अथवा नाना रूपों में मिश्रित सत्त्वगुणमयी 'विशोका' वृत्ति को (जनयम्) जन्म देते हैं तदनन्तर आप (ऊर्ध्वम् दिवः) ऊपर मस्तिष्क में (सूर्यस्य) सहस्रार चक्ररूपी सूर्य की (भानुम्) प्रभा को (स्तभायन्) थामते हुए (वसुभिः) मस्तिष्क में बसे हुए निज दिव्य तेजों द्वारा (वि भाति) विशेषरूप से चमकते हैं (अरतिः) आप सर्वथा अलिप्त हैं, रतिरहित हैं।"[2] भाषार्थ से स्पष्ट है कि मन्त्र में विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति को 'ज्ञानमयी उषा' कहा है।

समाधिकाल में प्रज्ञाज्योति का प्रत्यक्षदर्शी ऋषि अपनी स्थिति को कहता है कि 'द्युलोक की पुत्री उषा के समान वर्तमान 'ज्योतिष्मती' आध्यात्मिक चित्तवृत्तियों का मैंने प्रत्यक्षदर्शन कर लिया है। यह 'ज्योतिष्मतीवृत्ति' आती हुई मेरे अज्ञानान्धकार को दूर कर रही है, मेरे मस्तिष्क में प्रकट हुई है। महाशक्तिरूप ज्योतिष्मतीवृत्ति ने मुझे दिव्य-चक्षु देकर मेरे अज्ञानान्धकार के परदे को हटा दिया है। इसने मुझमें ज्योति प्रकट कर दी है। यह ज्योति प्रियरूपा है।'[3]

समाधि की इस अवस्था का प्रज्ञाज्योति नाम योगदर्शन व्यास-भाष्य में स्वीकार किया है। जो भूत-इन्द्रियों को जीत लेता है वही तृतीय कोटि का योगी होता है।[4] समाधि पाद में किये गये भेदों में सम्प्रज्ञातसमाधि की समता इस वर्णन से की जा सकती है।[5] संहिताओं

---

१. तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमाभासि रोचनम्॥

—साम० ६३५

२. कृष्णां यदेनीमभि···वसुभिररतिर्विभाति।—साम० १५४७

३. प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः।

अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी।—साम० ७५१

४. भूतेन्द्रियजयो तृतीयः, तृतीयः प्रज्ञाज्योतिः।—व्या० भा० ३।५१

५. स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का।—यो० १।४३

के अन्दर दिये गये संकेतों का आश्रय पाकर ही पतञ्जलि ऋषि ने अनुभवजन्य भेदों का विश्लेषण किया है। एक-एक भेद का विश्लेषण मन्त्रों से सिद्ध करना, पूर्वाग्रह न बनें, इसलिए साधनागम्य मानना ही श्रेयस्कर है। इसी कारण यहाँ विवेचन नहीं किया गया।

समाधि की इस अवस्था का वर्णन मुण्डकोपनिषद् में निरूपित किया गया है—'शुद्ध अन्तःकरणवाला योगी जिस-जिस लोक-प्राप्ति का मन से चिन्तन करता है, और जिन मनोरथों की कामना करता है, वह उस-उस लोक को और उन अभिवांछित पदार्थों को जीत लेता है। उसे वे सब मिल जाते हैं। इसलिए ऐश्वर्य चाहनेवाले मोक्षाभिलाषी जन आत्मज्ञाता की पूजा करें।'[1]

धर्ममेघ समाधि

समाधियों की दृष्टि से धर्ममेघ समाधि उत्कृष्ट समाहित अवस्था की परिचायिका है। धर्ममेघ समाधि की अनुभूति-सदृश वर्णन वेदमन्त्रों में उपलब्ध होता है। धर्ममेघ समाधि में प्रवेश करनेवाला योगी अपनी अनुभूति को मन्त्र के शब्दों में कहता है कि—'वर्षाकाल में जब आकाश में बिजुलियाँ विचरती हैं, तब जैसे वृष्टि का शब्द सुनाई देता है, वैसे ही पवित्र करनेवाले, शक्तिशाली परमेश्वर का अन्तर्नाद मैं सुन रहा हूँ।'[2]

ऐसे योगी की उत्कृष्ट अवस्था को जानकर दूसरा योगी भी परमात्मा से प्रार्थना करता है कि—'हे परमेश्वर! स्थिर चित्तवाले योगी में जो मानसिक सम्पत्ति आपने भर दी है, प्रज्ञालोक तथा धर्ममेघ समाधि उत्पन्न कर दी है, वैसी ही, मुझे उपासक में भी आप वह स्थिति पैदा कर दीजिये।[3] द्वितीय ऋचा में धर्ममेघ समाधि प्राप्त योगी परमात्मा को स्वीकार करता हुआ उस आनन्दमयी ज्योति की अनुभूति कर उसकी स्थिरता के लिए प्रार्थना करता है।[4]

---

१. यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामाँस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥
—मुण्डको० ३।१।१०

२. शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः। चरन्ति विद्युतो दिवि॥
—सोम० ८६४

३. यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदा भर॥
—साम० २०७

४. पूर्वस्य यत्ते अद्रिवो ऽशुर्मदाय सुम्न आ धेहि नो वसो…।—साम० ६४८

वेद में धर्ममेघ समाधिकालीन सत्ता की ब्रह्माण्ड की स्थितियों से समता की गयी है कि—'परमेश्वर ने दीर्घकाल तक देखने के लिए द्युलोक में जिस प्रकार सूर्य स्थित किया है, सूर्यकिरणों से अन्तरिक्ष में मेघ प्रेरित किये हैं, तद्वत् वेदोपदिष्ट साधनों द्वारा धर्ममेघ समाधि को विशेषतया प्रेरित किया है तथा त्रिकाल-दर्शन के लिए सहस्रारचक्र रूपी दिव्यसूर्य दिया है।'[1] 'धर्ममेघ समाधि को साक्षात् चाहते हुए उपासक के लिए परमेश्वर सुखों की वर्षा करता है तथा अपनी दिव्य ज्योति द्वारा सब प्रकार से रक्षा करता है।'[2]

सामवेद में प्रदर्शित समाधि-भेदों का मूल मन्त्रों में न मिलने से यह प्रतीत होता है कि वेदों में जो योगविद्या का व्यापक स्वरूप वर्णित है, उसके अनुसार तदनुवर्ती ऋषियों ने भी विशेष भेद नहीं किये क्योंकि उपनिषदों में भी भेदों का निर्देश नहीं किया, परन्तु महर्षि पतञ्जलि ने उपासकों की बोधसुविधा के लिए समाधि के विभाग किये हैं, जिन भेदों की भाष्यकारों ने मन्त्रार्थ से समता प्रकट की है।

योगशास्त्र में समाधि के प्रमुख दो भाग किये हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। जिस समाधि में विषय का सम्यक् प्रकार से क्रमानुसार ज्ञान हो वह सम्प्रज्ञात है; इससे भिन्न असम्प्रज्ञात समाधि है।[3] सम्प्रज्ञात समाधि के भी चार भेद या चार स्तर माने गये हैं—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता।[4] इस वर्गीकरण को थोड़ा अग्रसर करने पर वितर्क और विचार के भी दो-दो भेद दिये गये हैं[5]—सवितर्क और निर्वितर्क[6] तथा सविचार[7] और निर्विचार। इस प्रकार सम्प्रज्ञात-समाधि के कुल आठ भेद हो जाते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि के भेदों में कोई-न-कोई स्थूल या सूक्ष्म विषय चित्त का आलम्बन होता है,[8] परन्तु असम्प्रज्ञात में कोई आलम्बन नहीं

---

१. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोयद्दिवि।
   वि गोभिरद्रिमैरयत्॥—साम० ७६६
२. स वर्धिता वर्धनः पूयमानः...गा अद्रिमिष्णन्।—साम० १३५६
३. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।—यो० १।१८
४. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः।—यो० १।१७
५. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।—यो० १।४२
६. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासानिर्वितर्का।—यो० १।४३
७. एतयेव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।—यो० १।४४
८. ता एव सबीजः समाधिः।—यो० १।४६

रहता। सम्प्रज्ञात में संस्कारों का वह बीज रहता है जो फिर भोगमय संसार की ओर अभिमुख कर सकता है। असम्प्रज्ञात में वह बीज भी दग्ध हो जाता है, इसलिए उसको निर्बीज समाधि कहते हैं।[1] सम्प्रज्ञात समाधि अस्मिता तक आकर रुक जाती है और जहाँ तक अस्मिता है वहाँ तक अविद्या है। असम्प्रज्ञात समाधि का पर्यवसान निरोध-स्थिति पर जाकर होता है।

समाधि का फल

योग तथा उपनिषदों में समाधि को योग कहा है।[2] वेदों में योगानुष्ठान के लाभों तथा फलों का विस्तृत विवेचन किया गया है। ऋग्वेदीय मन्त्र में प्रतिपादित है कि 'वह परमात्मा समाधि-योग करने से साक्षात् होता है।[3] इस मन्त्र के भावार्थ में भाष्यकार पं० आर्यमुनि ने मन्त्र का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि—'योगीलोग जब परमात्मा का ध्यान और समाधि करते हैं तब परमात्मा उन्हें आत्मस्वरूपवत् भान होता है। इसी भाव को योगसूत्र में कहा है कि 'समाधि-वेला में उपासक के रूप में परमात्मा की स्थिति होती है।'[4]

ऋतम्भराप्रज्ञा की प्राप्ति

'समाधि-अवस्था में परमात्मा, उपासक में आत्मिक बल तथा सत्यप्रकाश (विवेकज ज्ञान) को पैदा करता है एवं अविद्यारूपी अन्धकार नष्ट करता है।'[5] यह ऋतम्भराप्रज्ञा की प्राप्ति का ही वर्णन है। सामवेदीय ऋचा में इस विषय को स्पष्ट किया है कि—'जैसे दूर से ही उषाकाल में लालिमा चमकती है उसी प्रकार उपासक के हृदय में परमात्मप्रकाश होता है, पुनः सूर्य की दीप्ति के समान ऋतम्भरा-

---

१. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।—यो० १।५१

२. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥—कठो० ६।११

३. स मर्मृजान आयुभिः प्रयस्वान्प्रयसे हितः। इन्दुरत्यो विचक्षणः॥
—ऋग्० ६।६६।२३

४. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।—यो० १।३

५. अभि क्षिपः समग्मत मर्जयन्तीरिषस्पतिम्।
पृष्ठा गृभ्णत वाजिनः॥—ऋग्० ६।१४।७

प्रज्ञा तथा तारकज्ञान विकसित हो जाते हैं।'[१]

समाधि की अवस्था में उपासक महती इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना करता है। मन्त्र में प्रयुक्त 'बृहती:···इष:' पद का स्पष्टीकरण-भाष्यकार ने—'समाधि, ऋतम्भराप्रज्ञा, विवेकजज्ञान तथा मोक्ष आदि प्राप्तियों से किया है।'[२] द्वितीय मन्त्र में 'रयिं सहस्रवर्चसम' अर्थात् आध्यात्मिक धन की याचना है। यहाँ 'रयिम्' पद का प्रयोग पूर्वोक्त मन्त्रवत् ऋतम्भरा प्रज्ञा, तारक ज्ञान, विवेक ज्ञान आदि का द्योतक माना है।[३]

पातञ्जल योग के अनुसार ऋतम्भरा आदि की प्राप्ति समाधि का ही परिणाम है। उस समय ऋत तथा सत्य को धारण करने का सामर्थ्य योगी प्राप्त करता है।[४] 'वेदज्ञान=मनन तथा ध्यानाभ्यास द्वारा योगी अपनी प्रज्ञा को तीन प्रकार से समर्थ बनाता हुआ उत्तम योग (समाधि) को प्राप्त करता है।[५]

'विना उपदेश के अपनी प्रतिभा से उत्पन्न हुआ ज्ञान 'तारक' कहलाता है और सर्वपदार्थों का ज्ञान करानेवाला, सर्वप्रकार के विषयों का ज्ञान, तीनों कालों का क्रमश: एवं एकसाथ बोध करानेवाला, विवेकज-ज्ञान कहलाता है।'[६]

योगशास्त्र में प्रतिपादित ऋतम्भरा तथा विवेकजज्ञान-स्रोत सामवेद के निम्न मन्त्र से उद्‌भूत प्रतीत होता है। मन्त्र की भाषा में उपासक स्वीकार करता है कि—'समाधि की उत्कृष्ट अवस्था में मुझमें उषा की दीप्ति के समान ऋतम्भराप्रज्ञा तथा विवेकजज्ञान की अनुभूतियाँ प्रकट होने लगी हैं। मेरा तमोगुण-रजोगुण दूर होकर, सात्त्विक उद्रेक से विवेकजज्ञान चमकीले प्रकाश तथा माता के समान मेरी रक्षा कर रहे हैं

---

१. दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्वितत्। वि भानुं विश्वथातनत्॥
—साम० २१६

२. उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिषः। द्युमदिन्दो सुवीर्यम्॥—साम० ११६०

३. आ पवमान धारया रयिँ सहस्रवर्चसम्। अस्मे इन्दो स्वाभुवम्॥
—साम० १२०३

४. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।—यो० १।४८

५. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा कल्पयन् प्रज्ञाँ लभते योगमुत्तमम्॥—व्या० भा० १।४८

६. तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं विवेकजं ज्ञानम्।—यो० ३।५४

एवं मुझे निर्मल कर रहे हैं।'[1] आगामी मन्त्र में इस अनुभूति की पुष्टि के साथ कहा है कि 'इस विवेकजज्ञान के साथ मुझे अब परमपिता परमेश्वर का आश्रय मिल गया है।'[2]

वेद में प्रज्ञाविवेक की जागृति के लिए साधना के स्तरों का सुन्दर विवेचन किया गया है—'योगसमाधि में शाश्वतिक शक्तियोंवाला युवा परमात्मा प्रत्यक्ष से पूर्व उपासक के हृदय में विविध अग्नि-ज्वालाओं के रूप में दृष्टिगोचर होता है। उपासनायोग में निरत उपासक के तमोगुण-रजोगुण से मिश्रित स्वरूप उज्ज्वल होकर श्रद्धा-माता की गोद में आसन जमाकर साधना में निरन्तर आगे-आगे बढ़ता है और ईश्वर की ओर प्रयाण करता है। समाधि-अवस्था में जब ब्राह्मी दीप्ति विचरती है तो प्राण-अपान की सूक्ष्म क्रिया के समय प्रज्ञा-विवेक जागृत होता है।'[3]

कठोपनिषद् की मान्यता है कि मानव को आत्मा का ज्ञान समाधि की अवस्था में होता है, जिसका लक्षण है कि 'जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ निश्चल हो जायें और बुद्धि भी चेष्टा न करे उसे योगिजन समाधिरूप परमगति कहते हैं।'[4] यही समाधि-योग है, इसी से परमेश्वर जाना जाता है। 'वाणी, मन तथा आँख आदि इन्द्रियों से नहीं। वह योग-समाधि तथा श्रद्धा-विश्वास से प्राप्तव्य है। परमात्मा की सत्ता को बतानेवाला स्वयं अपने अन्दर ही जान सकता है, अन्य किसी के अन्दर नहीं।'[5]

वैदिक संहिता के आधार पर समाधि-योग की कुछ अनुभूतियों का दिग्दर्शन यहाँ किया परन्तु सम्पूर्णरूप से समाधि के आनन्द की अनुभूतियों का वर्णन करना, न वाणी का विषय है न लेखनी का।

---

१. एता उ त्या उषसः केतुमक्रत…मातरः।—साम० १७५५

२. उदपप्तन्नरुणा भानवो…भानुमरुषीरशिश्रयुः।—साम० १७५६

३. प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ।—साम० १३७५
आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।—साम० १३७६
अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती।—साम० १३७७

४. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥—कठो० ६।१०

५. नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥—कठो० ६।१२

उपनिषत्कार ने भी स्वीकार किया है—'चित्त के निर्मल हो जाने पर योगी जब समाधि में प्रवेश करता है, उस समय आत्मा में जो आनन्दानुभूति होती है उसको वाणी से बताया नहीं जा सकता। उस आनन्द की अनुभूति तो स्वयं योगी अन्तःकरण से करता है।'[1]

धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों अङ्गों का एकत्रीकरण संयम कहा है। संयम की सिद्धि से प्रज्ञालोक की उत्पत्ति होती है, जिसका निरूपण संहिताओं के अनुसार समाधि-फल में किया गया है।

योगाङ्गों के अनुष्ठान से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश[2] इन पाँच पर्वों वाली अशुद्धि-अविद्या का नाश होकर विवेकख्याति-पर्यन्त ज्ञानदीप्ति बढ़ती ही जाती है। वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित योगाङ्गों के स्वरूप से यह स्पष्ट होता है कि यम-समाज-सापेक्ष हैं जो सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते हैं, नियम वैयक्तिक परिमार्जन करते हैं। अपना पुरुषार्थ तथा प्रभु-अनुग्रह दोनों मिलकर मानव का सर्वाङ्गीण विकास करते हैं। प्रभु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए ईश्वरप्रणिधान से लेकर समाधि तक सभी योगाङ्गों की उपयोगिता है और सब प्रकार के साधकों के लिए योगाङ्गों की उपयोगिता सर्वगत है। □

---

१. समाधिनिर्धूत मलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥
—मैत्र्या० ४।३।९

२. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।—यो० २।३

सप्तम अध्याय

वैदिक योग विभूतियाँ

संयम

पातञ्जल योगदर्शन की मान्यतानुसार साधक जब धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों अङ्गों का अनुष्ठान एकत्र सफलतापूर्वक करता है तो उसके चित्त में विशेष प्रकार की शक्ति का संचार हो जाता है, जिसको दार्शनिक भाषा में संयम कहा गया है अर्थात् तीनों एकविषयक होने पर संयम कहाता है।[1] संयम का स्पष्टीकरण महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार किया है कि—'जिस देश में धारणा की जाए, उसी में ध्यान और उसी में समाधि, अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को 'संयम' कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होता है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उनमें बहुत सूक्ष्मकाल का भेद रहता है, परन्तु जब समाधि होती है तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है।'[2]

वैदिक संहिताओं में संयमवाची 'संयत्, संयतः, संयतम, संयता आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। संयतेन्द्रिय मानव को लौकिक कार्यों में पूर्ण सफलता मिलती है। वही सभी प्रकार के ऐश्वर्यों का अधिकारी है। इस प्रकार संयम से प्राप्तव्य ऐश्वर्य का वर्णन वेदों में पर्याप्त मिलता है।

ऐश्वर्य की मीमांसा

ऋग्वेद में सांसारिक ऐश्वर्यों के साथ आध्यात्मिक ऐश्वर्यों की प्रार्थनाएँ भी मिलती हैं। ऋग्वेदीय मन्त्र में ईश्वर को विविध ऐश्वर्यों-

१. **त्रयमेकत्र संयमः**—यो० ३।४

२. ऋ० भा० भू० [उपासना विषय]

वाला कहा गया है—'स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा योग में तत्पर साधक के लिए सत्य को पवित्र करता है, जिज्ञासुओं को दिव्य धन-ऐश्वर्यों से पुष्ट करता है। वह दाताओं का भी दाता है। सब धर्मों का तथा अतुल बल का धारक है, पञ्चस्थूल भूत तथा पञ्चसूक्ष्म भूतों का भी धारक एवं लोकलोकान्तर का पोषक, राजा है। अपने उपासकों की ऐश्वर्यों से परिपूर्ण करता है।'[1] इसीलिए द्वितीय मन्त्र में दिव्य ऐश्वर्यों की याचना की गयी है।[2] वेदों में याचित तथा उपलब्ध ऐश्वर्यों को योगदर्शन में 'विभूति' संज्ञा दी गयी है। यह 'विभूति' पद ही 'सिद्धि' का वाचक है।

विभूति की वेदमूलकता

दिव्य-ऐश्वर्यवाची विभूति शब्द के प्रयोग वैदिक संहिताओं में यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। प्रायः प्रथमा—एकवचन, बहुवचन तथा द्वितीया एक-वचनान्त के प्रयोग मिलते हैं। ये पद ऋग्वेद में ७ ऋचाओं में मिलते हैं।[3]

सामवेद के एक मन्त्र में सूनृता वाणी को 'विभूति' कहकर प्रभु से प्रार्थना की गयी है कि यह विभूति हमारे जीवन में प्राप्त हो। 'सूनृता' शब्द सत्य और माधुर्य से सम्पन्न वाणी का द्योतक है। सत्य वास्तव में वही बोल सकता है जिसका सत्य-स्वरूप, न्यायकारी परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास हो। उपासक सर्वत्र उसको व्यापक अनुभव कर सहज ही अपनी वाणी में माधुर्य चाहता है। यह विभूति विना ईश्वर में योगयुक्त हुए नहीं उपलब्ध होती। साधक इसका अनुभव भलीभाँति कर सकते हैं। अन्य वेदों में भी इसी प्रकार विभूतिसूचक उपयोगी वर्णन है। यजुर्वेद में विभूति पद का प्रयोग नहीं आया है, अथर्ववेद में तीन मन्त्रों में प्रयोग है। इन प्रयुक्त शब्दों के अर्थ भाष्यकारों ने विविध ऐश्वर्य

---

१. ऋग्० ६।६७।२३

२. ऋग्० ६।६७।५१

३. **ऋग्वेदे विभूतयः**—ऋग्० १।८।६; १।१६६।११; **विभूतिः** १।३०।५; ऋग्० ६।२१।१; **विभूतिम्** ६।१७।४; ८।४६।६; ८।५०।६; **सामवेदे**—**विभूतिरस्तु सूनृता**—साम० १६००; **अथर्ववेदे**— **विभूतयः**—२०।६०।५; ७१।५; **विभूतिः**—२०।४५।२

तथा महान् ऐश्वर्य देनेवाली शक्तियाँ किया है।[1]

योगसाधक को साधनाकाल में ऐसी ही अनेक दिव्य-शक्तियाँ तथा सामर्थ्य उत्पन्न हो जाते हैं। उक्त प्रयोगों का अर्थ भी इसी प्रकार की शक्तियों का द्योतक है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र में योग के ऐश्वर्यों को सूत्रित करके तृतीय 'विभूतिपाद' को 'विभूति' इस वैदिक संज्ञा से विख्यात किया है। मध्यकाल में विभूति के लिए सिद्धि शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। वेदों में सिद्धि तथा धन के समानार्थक शब्द 'राधस्' के प्रयोग बहुशः मिलते हैं। यह राध शब्द 'राध साध संसिद्धौ' धातु से निष्पन्न हुआ है।[2] वेदों में ऐश्वर्यों के स्वामी परमात्मा के लिए 'राधानां पते' पद प्रयुक्त हुआ है।[3]

सिद्धियों का वैदिक स्वरूप

विभूतियों को साधना की कसौटी बताया जाना उपयुक्त नहीं क्योंकि वैदिक संहिताओं में ऐसा प्रतिपादन नहीं मिलता कि सभी सिद्धियों की सिद्धि परमात्म-साक्षात्कार के लिए नितान्त आवश्यक है। परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य वचन है, कि सिद्धियों की सर्वथा उपेक्षा भी नहीं की जा सकती, क्योंकि यम-नियमों की सिद्धियाँ तो साधना की आधारभूमि हैं। कुछ सिद्धियों के लिए साधक को विशेष प्रकार का संयम करना आवश्यक है। यदि उनपर संयम न किया जाय तो उन सिद्धियों का सिद्ध होना असम्भव है। योगदर्शन में प्रतिपादित सिद्धियों को कुछ-एक साधक मान्यता न देते हुए व्यर्थ समझकर अथवा पाखण्ड बताकर त्याज्य घोषित करते हैं। साथ ही सूत्रों का अर्थ ऐसे वाग्जाल से प्रस्तुत करते हैं कि यौगिक सिद्धियों का महत्त्व शून्य जैसा प्रतीत होने लगता है। उक्त मान्यता के विपक्ष में कुछ योगसम्प्रदाय[4]

---

१. **[विभूतयः]** विविधा भूतय ऐश्वर्याणि यासु ताः—ऋग्० १।८।९
विविधैश्वर्यप्रदाः—ऋग्० १।१६६।११; **[विभूतम्]** महदैश्वर्यम्
—ऋग्० ६।१७।४

२. स्वादि० परस्मै० अनि०

३. ऋग्० १।३०।५; ३।५१।१०; साम० १६००

४. वर्तमान में दक्षिणभारत में प्रख्यात 'साईंबाबा' अनेकों प्रकार की सिद्धियाँ (हाथ की सफाई) दिखाकर भक्तजनों को आश्चर्यचकित करके पूजा करवा रहे हैं, यथा—भस्मी से अँगूठी बनाना, साईंबाबा के चित्र से भस्मी झड़ना, हवा में हाथ करके घड़ी, अँगूठी, रेडियो आदि निकालना। इनका प्रतिवाद कई वैज्ञानिकों ने किया है जिससे भ्रममात्र ही सिद्ध हुआ है।

केवल सिद्धियों की प्राप्ति ही साधना का ध्येय समझकर अहर्निश उनकी प्राप्ति, प्रयोग तथा परिणाम में ही अमूल्य जीवन-वेला समाप्त कर देते हैं। इतना अवश्य है कि उन्हें धन तथा मिथ्या लोकेषणा तो मिल जाती है, परन्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार भस्मी, अँगूठी, घड़ी आदि वस्तुएँ अपने उपादान तथा निमित्त आदि कारणों से ही उपयुक्त स्थानों पर मिल सकती हैं। इन चमत्कारिक प्रदर्शनों से श्रद्धालु भक्तों को भ्रम में डालना तथा स्वयं अविद्याग्रस्त रहनेवाले, चिरन्तन सुख तथा परोपकारमय जीवन से नितान्त दूर हैं। वे योग का चरमोद्देश्य तो क्या पायेंगे, साधारण ऐसे धार्मिक व्यक्ति से भी निम्नतर स्तर की मनोवृत्ति रखते हैं, जो परमात्मा को सर्वत्र मान उससे भय करता है और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' स्वयं भ्रान्तियों से दूर रहकर अन्यों के साथ भी निश्छल, कपटरहित व्यवहार करता है। इसके अतिरिक्त जो वास्तविक सिद्धियों को पाखण्ड घोषित करते हैं उनके लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसे व्यक्ति साधना से दूर रहनेवाले स्वयं को या योगी माननेवाले न तो साधना-मार्ग में प्रवेश कर सके हैं, न उन्होंने वेदशास्त्रों का स्वाध्याय कर वैदिक ऋषि-परम्परा को ही समझा है, न श्रद्धान्वित होकर जीवन का मूल्यवान् समय योगसाधना में लगाया है।

उपर्युक्त उभयपक्षीय मान्यता को देखकर विद्वान् साधक के लिए केवलमात्र श्रद्धेय मार्ग यही है कि वह वैदिक संहिताओं से अपौरुषेय निर्भ्रान्त सम्मति, सिद्धान्त प्राप्त कर योगमार्ग प्रशस्त करे। सर्वसाधारण लोग जिस बात को समझ नहीं पाते, न उनकी वहाँ तक पहुँचने की साधना ही है, केवल इसी कारण यौगिक सिद्धियों को न मानना तथा साधना में तत्परता से प्रवृत्त न होना अज्ञान मात्र ही है। साधारण बुद्धिवालों के लिए रोचकता के कारण सिद्धियाँ योग में प्रवृत्ति करा देती हैं। सिद्धियों का परिज्ञान योग-साधक को इसलिए भी आवश्यक है कि परमात्म-साक्षात्कार का अभिलाषी भौतिक सिद्धियों के लालच में आकर कहीं मोक्षरूप परमलक्ष्य को न त्याग दे। महर्षि पतञ्जलि ने योग-सिद्धियों का विवरण प्रस्तुत कर इसी कारण साधकवर्ग को सावधान कर दिया है कि प्रातिभ=श्रवणादि सिद्धियाँ समाधि की उच्चभूमियों में बाधक हैं। अतः सर्वप्रकारेण सिद्धियों का परिज्ञान होना ही श्रेयस्कर है।

समाधि के अनन्तर संयम करने पर योगियों को जो सिद्धियाँ, अनुभूतियाँ तथा ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है अथवा सामान्यजनों की अपेक्षा जो विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, उनका विवेचन इस प्रसंग में किया गया है।

वेदसम्मत सिद्धियों का स्वरूप

प्रज्ञालोक की प्राप्ति

ऋग्वेदीय मन्त्र में प्रज्ञालोक की प्राप्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है—'धारण, ध्यान, समाधि से संयत किये हुए अन्तःकरण में परमात्मा धारणावती-प्रज्ञा का आधान करता है। इसके साथ ही ज्ञान तथा ऐश्वर्यों को प्राप्त करानेवाली कृपावृष्टि उपासक पर करता रहता है।' 'वही पवित्रकारक परमात्मा, सत्यासत्य-निर्णायक शुभ्र प्रज्ञा बुद्धि को देता है।'[1]

योगदर्शन में संयमजय का परिणाम प्रज्ञालोक की प्राप्ति ही माना गया है।[2] संयम की सिद्धि हो जाने पर योगी जैसे-जैसे संयम करता है वैसे-वैसे समाधि से उत्पन्न बुद्धि विकसित और विशुद्ध होती चली जाती है।

बुद्धियोग प्रभुमिलन का प्रथम सोपान है। वेद में प्रज्ञालोक के साधक के लिए 'विपश्चित्' पद का प्रयोग किया गया है। 'साधना द्वारा जबतक योगिजन धी से विवेक-ज्ञान में प्रवेश नहीं करते तबतक निम्न स्तरों में प्रभुदर्शन दुर्लभ हैं।'[3] अतः परमात्मा सर्वप्रथम बुद्धि अर्थात् प्रज्ञालोक से संयुक्त करता है।

गीता में इस सिद्धि से युक्त साधक को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है।[4]

---

१. उदतिा यो निदिता वेदिता वस्वा यज्ञियो ववर्तति।
दुष्टरा यस्य प्रवणे नोर्मयो धिया वाजं सिषासतः॥—ऋग्० ८।१०३।११

२. पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्।
कृष्णा तमांसि जङ्घनत्॥—ऋग्० ९।६६।२४
तज्जयात् प्रज्ञालोकः।—यो० ३।५, द्रष्टव्य—व्या० भा०

३ यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति॥
—ऋग्० १।१८।७ [वेद और योग, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, गुरु० प० पृ० सं० ३१७]

४. आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥—गीता २।५५

भूगर्भ का ज्ञान

यजुर्वेद एकादशतम ग्रध्याय के प्रथम तीन मन्त्रों में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने योगाभ्यास तथा भूगर्भ-विद्या को माना है। द्वितीय मन्त्र के भावार्थ में उन्होंने स्पष्ट किया है कि—'यदि मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि में समाधिस्थ होकर योग ग्रौर तत्त्वविद्या का यथा-शक्ति सेवन करें ग्रौर वे ग्रात्मप्रकाशयुक्त होकर योग ग्रौर पदार्थ-विज्ञान का ग्रभ्यास करें, तो सिद्धियों को कैसे न प्राप्त हों!'[1]

डॉ० रामनाथ वेदालंकार ने वैदिक योगसिद्धियों के प्रसंग में—(**केशी विश्वं स्वर्दृशे**) पद का ग्रर्थ किया है कि—'योगी मनुष्य पदार्थों का ग्रनुभव करने के लिए दिव्य-प्रकाश या दिव्य-ग्रहण-सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है।'[2] योगदर्शन में इस सिद्धि का वर्णन '**ततः प्रातिभश्रवण-वेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते**'[3] सूत्र में किया गया है। यह सिद्धि प्राप्त हो जाने पर योगी ग्रान्तरिक ज्ञान से सूक्ष्म व्यवहित=छिपे हुए, दूर तथा भूत-भविष्यत् के ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। 'ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के संयम का फल भी छिपे हुए, भूमिगत पदार्थों का ज्ञान है।'[4]

प्रगाढ-मैत्री एवं कवित्वशक्ति का उदय

विज्ञानमयकोश में श्रद्धा की उत्पत्ति के लिए मन को प्रसन्न करने-वाले कतिपय साधनों का विवेचन किया है। उनमें मैत्री, करुणा, हर्ष, उपेक्षादि व्यावहारिक साधनों को साधक जब निरन्तर ग्रपनाता है तब उसकी यह भावना गहनतर होती चली जाती है। इसके परिणामस्वरूप उसके चित्त में मित्रता का साम्राज्य छा जाता है। इस व्यवहार से योगी को जो सिद्धियाँ होती हैं उनका वर्णन कुछ मन्त्रों में स्पष्ट किया गया है।

'योगी के गुण, कर्म, स्वभाव में कुछ ऐसा दिव्य ग्राकर्षण-सा उत्पन्न हो जाता है कि न चाहते हुए भी ग्रन्य सांसारिक जन उससे मित्रता

१. **यदि मनुष्याः परमेश्वरस्य सृष्टौ समाहितासन्तो योगं तत्त्वविद्यां च यथाशक्ति सेवेरन्, ते प्रकाशितात्मानः सन्तः योगं पदार्थ विज्ञानं चाभ्यस्येयुर्स्तर्हि—सिद्धीः कथं न प्राप्नुयुः॥**—यजु० ११।२ भावार्थः

२. **केश्यग्निं केशी।**—ऋग्० १०।१३६।१ [गुरु० प० पृ २७७]

३. यो० द० ३।३६

४. **प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।**—यो० ३।२५

करना चाहते हैं। उसे मन में सदैव प्रसन्नता की अनुभूति होती है। मन की प्रमोदकारी अवस्था से योगी में कवित्त्वशक्ति का उदय हो जाता है। वह नदी, पेड़, पत्थर, पक्षी, फूल आदि प्राकृतिक वनस्थ सुरम्य पदार्थों से कवितामय आलाप करता है। सभी में व्याप्त प्रेममय देव का दर्शन करता है। यह प्रगाढ़-मैत्री व प्रेम साधक को समाधि-मार्ग में श्रद्धा=रुचि के कारण सहायक बनता है।'[1]

इस सिद्धि की पुष्टि योगदर्शन में की गयी है 'मैत्री, करुणा, मुदिता तीनों भावनाओं में संयम करने से उन-उन भावनाओं में प्रगाढ़ता आ जाती है, जिससे योगी सदैव प्रसन्नमुद्रा में रहकर व्यवहार करता है —'सुखी प्राणियों में मैत्री की भावना करके योगी मैत्रीबल प्राप्त करता है। दुःखितों पर करुणा करके करुणा-बल प्राप्त होता है तथा पुण्यात्माओं में प्रसन्नता की भावना से सतत प्रसन्नता की उत्पत्ति होती है। पापियों के प्रति उपेक्षा करने से क्रोध का शमन होता है। इनसे योगी के मन में समाधि को भंग करनेवाले विक्षेप उत्पन्न नहीं होते।'[2]

यथेष्ट बल-प्राप्ति

वेदों में बल-वृद्धि के उपयुक्त साधनों का निर्देश तथा बल-वृद्धि के लिए प्रोत्साहन देते हुए, फल-विवरण भी प्रस्तुत किये गये हैं— 'शारीरिक बलवृद्धि के यज्ञीय कर्म करनेवाले, अन्यों का सम्मान करनेवाले, दान देनेवाले तथा अखण्ड बल-प्राप्ति की कामना करनेवाले ही सत्कार के योग्य हैं।' 'साधना, संयमपूर्ण—ब्रह्मचर्यमय जीवन अपनाने से मनुष्य जितना बल बढ़ाना चाहे बढ़ा सकता है। इस कर्म में अन्य बलिष्ठों का अतिक्रमण कर सकता है।' 'आत्मसमर्पण आदि के कारण आकृष्ट साधक को परमात्मा आध्यात्मिक सम्पत्ति तथा प्रज्ञालोक के साथ बलों को बढ़ाता है। साधक योग की प्रत्येक भूमि में, भिन्न-भिन्न योगक्रमों में तथा अनेक बल-सामर्थ्यों की प्राप्ति करता हुआ, परमात्मा का आह्वान करता है।'[3]

---

१. ऋग्० १।५३।११; ऋग्० ४।३४।६; ऋग्० ६।६६।१

२. मैत्र्यादिषु बलानि।—यो० ३।२५ एवं व्या० भा०

३. **अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः।**— ऋग्० ५।५२।५

शर्धंशर्धं व एषाम्।—ऋग्० ५।५३।११; **गमद् वाजेभिरा स नः।**

—साम० ७४२

अथर्ववेद का एक सूक्त साधक की बलवर्धक अभिलाषा को अभिव्यक्त करता है कि—'मुझे हाथी जैसा शारीरिक बल प्राप्त हो, मेरा यश बढ़े, सभी विद्वान् मुझे अखण्ड यश की प्राप्ति का उपदेश करें।'[१] आगे वर्चस्कामना करते हुए साधक कहता है कि— 'परमात्मा की अतुल शक्तियाँ मित्र, वरुण, इन्द्र, रुद्र आदि देवता अपने गुणों से मुझे प्रेरित करती रहें, एवं अग्नि, जल, वायु, पृथिवी, आकाश आदि दिव्य पदार्थों के समान मुझे अतुल बल मिले।'[२]

बुद्धि, विज्ञान-सम्पन्न मानव सृष्टिगत पदार्थों एवं जीवों से विविध प्रकार के उपयोग ले लेता है। किसी को शारीरिक शक्ति से, किसी को बौद्धिक शक्ति से परास्त कर देता है। अतः वेदों में मानव को महान् पराक्रमी, बलशाली विविध सामर्थ्योंवाला सिद्ध किया गया है। परमेश्वर का उपासक ही विपुल शक्तियों का संकलन निरभिमान होकर कर सकता है। अथर्ववेद के अन्य सूक्तों में तेज, वीर्य, बल, ओज के साथ सिंह के समान पराक्रम की कामना की गई है। साथ ही ऋषि-महर्षियों के बल का अनुमान करते हुए उनके समान वर्चस्वी, तेजस्वी बनने की कामनाएँ की गई हैं।

बलों में संयम करनेवाले को उपनिषद् प्रेरणा देती है कि 'मानव ! तू बल की उपासना कर'[३] योगदर्शन के अनुसार 'बलों में संयम करनेवाले को हाथियों जैसा बल प्राप्त होता है।'[४] इस सिद्धि के उल्लेख में वेदों का अनुसरण किया गया है। बलप्राप्ति के इच्छुक साधक श्रद्धा से उपयुक्त साधनों का प्रयोग करें तथा बलों के भण्डार परमात्मा से बलप्राप्ति के मन्त्रों द्वारा उपासना में प्रार्थना करें और प्रेरणा प्राप्त

---

१. हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ।।— अथ० ३।२२।१

२. मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ।।—अथ० ३।२२।२
येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः।
येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ।।
—अथ० ३।२२।३

३. बलमुपास्स्वेति।—छा० उप० ७।८।२

४. बलेषु हस्तिबलादीनि।—यो० ३।२४

कर, संयम करें तो अतुल बलशाली बन सकते हैं।[1]

भुवन-ज्ञान

ऋग्वेद ६।८६।३ के भाष्य में पं० आर्यमुनि तथा पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ ने स्पष्ट किया है कि—जो परमात्मा जलों एवं पृथिवी का धारक, सर्वान्तियामी है, सम्पूर्ण भुवनों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्वान् लोग उसकी उपासना करते हैं। यहाँ ईश्वरोपासना से ही भुवन-ज्ञान माना है।

यदि आधिदैविक दृष्टि से विचार करें तो मन्त्र से **सप्तस्वसारः** सूर्य की सात रंग की किरणें या चन्द्र, मंगल, बुध आदि सात लोकों से घिरे हुए सूर्यमण्डल में संयम करने से भुवन का ज्ञान हो जाता है, यह भाव निकलता है। जैसाकि व्यासमुनि ने स्पष्ट किया है कि—'भुवन के विस्ताररूप सात लोक हैं। उनमें भू-केन्द्र से लेकर मेरु पर्वत के पृष्ठ तक भूलोक है। मेरु पर्वत से लेकर ध्रुव तथा सूर्यादि ग्रहों, अश्विनी आदि नक्षत्रों और अरुन्धती आदि ताराओं से विचित्र अन्तरिक्ष-लोक है। उससे आगे महेन्द्र का तीसरा स्वर्लोक है जो पाँच प्रकार का है। चौथा प्रजापति का महः लोक है। इससे आगे जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक तीन ब्रह्म के लोक हैं। भोजवृत्तिकार के मत में 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् नाम से सात लोकों का समूह भुवन-खगोल है। सूर्यद्वार में संयम करके योगी इनका ज्ञान प्राप्त कर सकता है।'[2]

कुछ विद्वानों ने 'सूर्य से नाभि तथा हृदय के मध्य में स्थित सूर्य-चक्र' माना है, उस चक्र में संयम करने से योगी को शरीरगत भुवनों का ज्ञान हो जाता है। वास्तविक निर्णय इस विधि से अभ्यासगम्य है।

भूख-प्यास-निवृत्ति

मन्त्र में प्रयुक्त **'वातस्याश्वो वायोः सखा'** अर्थात् मुनि वायु का भोक्ता और सखा है, इससे ज्ञात होता है कि योगी बहुत दिनों तक

---

१. **ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा।**—अथ० २।१७।१-७; **बलप्राप्ति**—अथ० ६।१३५; १९।३७; **यशः प्राप्तिः**—अथ० ६।५८; **वर्चो बलप्राप्तिः** ६।६३; **वर्चः प्राप्तिः**—अथ० ३।२२।४-६, अथ० ६।५।१-३, अथ० ६।६९; **वर्चस्यम्**—अथ० ६।३८, ३९

२. **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।**—यो० ३।२६, द्रष्टव्य—व्या० भा०

निराहार केवल वायु के सहारे जीवित रह सकता है।[1] वेद की इस विभूति को सिद्ध करने का प्रकार योगसूत्रों में प्रकटित किया गया है कि—'जिह्वा के नीचे धागे के समान तन्तु है। उसके नीचे कूप है। वहाँ संयम करने तक भूख-प्यास नहीं सताती।'[2]

मनो-निग्रह के भोजन-विषयक साधन में वर्तमानकाल में वायु-भक्षण करनेवाली माणिक्य माँ का उदाहरण विद्यमान है। एक ग्रन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

श्री पवहारी बाबा[3]

उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिले के प्रेमपुर गाँव में ग्रयोध्यानाथ नाम के एक निष्ठावान् वैष्णव रहते थे। उनके सन् १८४० में रामभजन नामक होनहार पुत्र उत्पन्न हुग्रा। सन् १८५६ तक ये ग्रन्धे संन्यासी पितृव्य की सेवा में रहे। उनके सहवास से इनकी सांसारिक कार्यों में उपरामता बढ़ने लगी। पारिवारिक बन्धन तोड़कर ये योगसाधन के लिए एकान्त कुटिया बनाकर रहने लगे। शनैः-शनैः ग्रन्नाहार छोड़कर पत्तों के रस ग्रौर पवन पर ही सन्तोष करने लगे। इसी कारण लोग इन्हें पवहारी बाबा कहने लगे। बहुत समय के बाद थोड़े क्षणों के लिए ये कुटी का द्वार खोलकर लोगों को दर्शन देते थे। १८६८ ई० के ज्येष्ठ मास की सातवीं तारीख को भक्तों ग्रौर दर्शकों के देखते-देखते उनके कपाल को फोड़कर प्राण देह से निकल गये ग्रौर ध्यानावस्थित शरीर को सामने के ग्रग्निकुण्ड की लपटों में जलाकर खाक कर डाला। एक बार स्वामी विवेकानन्द जी ने इन्हें धर्मप्रचार करने का ग्रनुरोध किया। इसपर उन्होंने कहा कि—'मैं संसार में 'नकटे' संन्यासियों के दल की सृष्टि करना नहीं चाहता।'

परमहंस रामदास जी ने ग्रपने साधनाकाल में ग्रनुसूया-ग्राश्रम में रहकर तीन मास नीम के पत्ते खाकर तपस्या की तथा बारह वर्ष फलाहार किया।[4] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने साधनाकाल में भोजन कम

---

१. वातस्याश्वो वायोः सखाऽथो देवेषितोमुनिः।

—ऋग्० १०।१३६।५ [गुरु० प० पृ०] २७६

२. कण्ठकूपेक्षुत्पिपासानिवृत्तिः।—यो० ३।३०, द्रष्टव्य व्या० भा०

३. कल्याण योगाङ्क, पृ० सं० ८०५

४. कल्याण योगाङ्क—पृ० सं० ८१३-१४

तथा पानी की मात्रा अधिक बढ़ाकर, निरन्तर चिन्तन-मनन-समाधि आदि योगसाधना में तत्पर रहने से भूख प्यास-निवृत्ति की थी। इनके अतिरिक्त देखा गया है कि निरन्तर साधना में बैठने से सभी साधकों का आहार सूक्ष्म होता जाता है।

विधि

वायु-भक्षण के लिए अन्न-फल-दूध का आहार धीरे-धीरे कम करना होता है तथा वायु-भक्षण उसी अनुपात में बढ़ाना होता है। वायु को उदर में ठहराने की विशेष प्रक्रिया है—जिह्वा को आगे निकालकर, नाली-सदृश गोल करके शुद्ध वायु का आकर्षण किया जाता है तथा आकर्षित वायु को पेट में ठहराने का प्रयास करते हैं, इस प्रकार शनैः-शनैः भोजन का कार्य वायु देने लगता है, यथा—सर्प का वायु-भक्षण प्रसिद्ध है। इसी कारण उसे वायुभुक् तथा पवनाशन कहते हैं। इसके लिए योगाभिलाषी किसी विद्वान्-अनुभूत अभ्यासी के निरीक्षण में प्रशिक्षण प्राप्त करे तभी सफलता सम्भव है।

सर्वज्ञान-सामर्थ्य

सामवेदीय मन्त्र में योगी की प्रतिभा का शोधन होने पर जानने-योग्य सामर्थ्य का प्रतिपादन किया है—'जब उपासक, परमेश्वर की इस मनोहारिणी दीप्ति द्वारा अपने-आप को पवित्र करता हुआ सब प्रकार की द्वेष-भावनाओं से तर जाता है, तब योगसाधनाओं से सम्पन्न वह सूर्य के सदृश, अन्यों को भी प्रकाश देने लगता है।'[1] 'जब उपासक की पृष्ठवंशगत सुषुम्णा नाड़ी में प्रकाशधारा चमकने लगती है, तब वह अपने-आपको और अधिक पवित्र कर और काम-क्रोध आदि दुर्भावनाओं से रहित होकर, इन्द्रियों को विषयों से हर लेता है। इस प्रकार योगी योगयुक्त बुद्धि द्वारा वेदोक्त ज्ञान से परमेश्वर के स्वरूप तथा रहस्यों को जान लेता है।'[2]

---

१. अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः।
—साम० १५६०

२. युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥—यजु० ११।३
[ऋ० भा० भू०] उपासना वि०

बौद्धिक प्रकाश का स्पष्टीकरण यजुर्वेदीय मन्त्र में मिलता है जिसका संकेत महर्षि दयानन्द ने किया है—'वह परमेश्वर देव भी उपासकों को अत्यन्त सुख देकर उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्द-स्वरूप प्रकाश को देता है तथा साधकों को युक्त करके उनके आत्मा में महान् प्रकाश करता है और ज्ञान से परिपूर्ण करता है।' इस सिद्धि की पुष्टि करनेवाले अन्य मन्त्र भी विचारणीय हैं।[1]

वैदिक संहिताओं में उपलब्ध प्रातिभ ज्ञानविषयक योगी के सामर्थ्य को पतञ्जलि ऋषि ने स्वीकार किया है कि 'प्रातिभ अर्थात् बुद्धि-प्रकाश में संयम करने से भी सब ज्ञान हो जाता है।' जैसे सूर्योदय से पूर्व उषा अन्धेरे को दूर करके सारे पदार्थों को प्रकाशित कर देती है, इसी प्रकार विवेकज्ञान के उदय होने से पहले योगी के चित्त का प्रातिभ-ज्ञान ऐसा निर्मल हो जाता है कि उसमें कोई भ्रान्ति नहीं रहती। इस प्रातिभज्ञान से योगी जो कुछ जानना चाहता है जान लेता है।'[2]

भोजवृत्ति में प्रातिभज्ञान के लिए किसी निमित्त की अपेक्षा न करके जो स्वाभाविक ज्ञान मन में उत्पन्न होता है, उसको प्रतिभा माना है, उस प्रतिभा में संयम करने से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भोजवृत्ति के अनुसार प्रातिभ शब्द का अर्थ यथार्थ ज्ञान है।

चित्त का ज्ञान

'यजुर्वेद में चित्त को हृदय में स्थित हुआ बताया गया है।'[3] वेदगत मान्यता को साधक जब धारणा-ध्यान-समाधि के द्वारा प्रत्यक्ष करता है तो हृदयगत चित्त को सूक्ष्म चित्तवृत्तियों का परिज्ञान हो जाता है। इस विधि का अनुक्रम ऋग्वेद में किया है—'जो साधक शरीर, वाणी तथा मन से पवित्र करने के हेतुभूत तेजों और हृदय से मन-बुद्धि को अनुकूल जानता हुआ अन्न आदि से अतिशय बुद्धियुक्त अध्यात्म-धन को धारण करे, वही सब प्रकार से दिव्य प्रकाश और अन्तरिक्ष का प्रत्यक्ष कर सकता है।'[4]

---

१. ऋग्० १-७२।१-२-४; ऋग्० १।२७।४

२. प्रातिभाद् वा सर्वम्।—यो० ३।३३, द्रष्टव्य—व्या० भा०

३. हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥—यजु० ३४।६

४. त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥
—ऋग्० ३।२६।८

उक्त मन्त्र में हृदय के द्वारा बुद्धि को जानने का संकेत किया गया है। योगदर्शन में कहा गया है कि—'यह जो ब्रह्मपुर, दहरपुण्डरीक, [हृदय-कमल] है उसमें संयम करने से योगी को हृदयस्थित चित्त का ज्ञान सम्यक् प्रकार से हो जाता है।'[1] वेदगत सिद्धान्तों के अनुसार योगी को हृदय में ही ध्यान करना चाहिए, जिसका निर्देश प्रकरणानुसार किया है।

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति

योगी आत्मसाक्षात्कार के साधनों का अनुसरण करता हुआ, निज निकटवर्ती बुद्धिसत्त्व के द्वारा आत्मतत्त्व का प्रत्यक्ष करता है, तब साधक स्वयं यह अनुभूति करने लगता है कि—'मैं सबकी रक्षा करनेवाले, मन आदि इन्द्रियों से न प्राप्त होनेवाले और इन्द्रिय-मार्गों से आगे-पीछे के सब व्यवहार करनेवाले जीवात्मा को देखता हूँ। वह जीवात्मा गतियों से तथा कर्मानुसार विभिन्न गतियों को ढाँकता हुआ, लोकलोकान्तरों के बीच अच्छी प्रकार से वर्तमान है।'[2]

आत्मप्रत्यक्ष की स्थिति को उदाहरण देकर वेद में बताया गया है कि—'जैसे मनुष्य पैरों से तथा पशु खुरों से चलकर एक-दूसरे स्थान को प्रत्यक्ष करते हैं, वैसे ही बाहर-भीतर वर्तमान दिव्य ज्योति से विद्वान् योगी हाथ पर रखी दक्षिणा के सदृश हृदय में वर्तमान अपने आत्मा और परमात्मा को जान लेता है।'[3]

आत्मज्ञान की सिद्धि को योगसूत्रों से सूत्रित करके अभिव्यक्त किया गया है कि—'बुद्धि और पुरुष यद्यपि सर्वथा एक दूसरे से विलक्षण हैं, तथापि बाहर के दृश्य को देखकर बुद्धि जैसा रूप बदल देती है, वैसा ही पुरुष भी भासता है। बुद्धि सत्त्वप्रधान शान्त हो तो पुरुष भी शान्त, रजप्रधान घोर हो तो घोर, तमप्रधान मूढ़ हो तो मूढ़ भासता है अर्थात् जैसी बुद्धिवृत्ति हो वैसा ही पौरुषेय बोध होता है। यही दोनों प्रतीतियों (बुद्धिवृत्ति और पौरुषेय बोध) का अभेद है। यही भोग है। इन दोनों प्रतीतियों में से जो बुद्धि की प्रतीत है वह परार्थ अर्थात् पुरुष के लिए है, क्योंकि बुद्धि बाहर के दृश्य को देखकर जो अपना स्वरूप बदलती है,

---

१. हृदये चित्तसंवित्।—यो० ३।३४ द्रष्टव्य—व्या० भा०

२. अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।—ऋग्० १।१६४।३१

३. गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्सु हस्ते दधे दक्षिणे दक्षिणावान्॥—ऋग्० ३।३९।६

वह पुरुष के सामने रख देती है, परन्तु जो पुरुष-आत्मा अपनी प्रतीति स्वयं करता है तो उसे आत्मज्ञान कहते हैं, अर्थात् उस बुद्धि से विशेष चेतनमात्ररूप अन्य पुरुषस्वरूप जो ज्ञान है उसमें संयम करने से पुरुष-स्वरूप-विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है।'[1] बुद्धि से, ज्ञान द्वारा पुरुष नहीं देखा जाता। पुरुष ही अपने आलम्बन वाली बुद्धिवृत्ति को देखता है, जैसा बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि—'समाधिकाल में ज्ञाता को किसके द्वारा जानें।'[2] क्योंकि जाननेवाला जीवात्मा जानने-योग्य विषय को तो अपने स्वरूप से जानता है, परन्तु निज स्वरूप को किससे जानें, क्योंकि उस काल में चित्त की सर्ववृत्ति निरुद्ध हो जाने से 'अहंवृत्ति' भी नहीं रहती।

सूक्ष्म विषयों का ज्ञान

आत्मस्वरूपता में संयम करने के परिणामस्वरूप साधक को दिव्य-शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। इनसे वह दिव्यदृष्टि, दिव्यश्रोत्र, दिव्यगन्ध, दिव्यवाक् तथा दिव्यस्पर्श का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। योगी की इन सामर्थ्यों को वेदों में स्पष्ट किया गया है। डॉ० रामनाथ वेदालंकार ने **'केशी दृशे विश्वं स्वः विर्भात'** मन्त्रांश का स्पष्टीकरण देते हुए माना है कि 'योगी, मुनि अनुभव करने के लिए दिव्य प्रकाश को प्राप्त कर सकता है।'[3]

दिव्यशक्तियों को प्राप्त करने का सामर्थ्य अपने में अनुभव करता हुआ ही दिव्यज्ञानी साधक प्रार्थना करता है कि—'हे सर्वोत्पादक, सोम-स्वरूप परमात्मन्! आप हमें पवित्र करते हुए दिव्य आध्यात्मिक धन, निश्चलता, सरलता, पवित्रता, सौम्यता, धन की अलोलुपता, प्रसन्नता, अगाध शान्ति को दीजिए। सम्पूर्ण पृथिवी का ऐश्वर्य हमको प्रदान कीजिए और हमें वह दिव्यदृष्टि प्रदान कीजिए, जिससे हम ऋषियों के समान दिव्य धनों का उपभोग कर सकें।'[4]

---

१. सत्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थ संयमात् पुरुषज्ञानम् ॥—यो० ३।३५ [द्रष्टव्य—व्या० भा०]
२. विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्?—बृह० २।४।१४
३. केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥—ऋग्० १०।१३६।१

[गुरु० प० पृ० २७७]

४. अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः

—ऋग्० ९।९७।५१

सामवेदीय मन्त्र के अनुसार साधक सांसारिक सम्पत्तियों से सहस्रों गुणा श्रेष्ठ आध्यात्मिक सम्पत्तियों को अनुभव करता हुआ उनकी प्राप्ति के सदुपयोग से बाह्य-आभ्यन्तरिक यशों-कीर्तियों को चाहता है, जैसे—भीतर से आनन्द, उत्साह तथा निर्भयता तथा बाहर से स्नेह, सम्मान, सेवा तथा दिव्य-श्रवण आदि की विशेष माँग प्रस्तुत करता है।'[1]

'योगी अभ्युदय, निःश्रेयस को दिलानेवाली सांसारिक तथा आध्यात्मिक विभूतियों को प्राप्त करके अपने श्रेष्ठ व्यवहार द्वारा पवित्र करता है। ऐसे उपासक को जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होती है, काम-क्रोध उसे जीत नहीं पाते। ये दोनों शक्तियाँ अनुकूल होती हुई उसे जगत् के अधिराज, परमेश्वर को स्वीकार कराने में सहायक होती हैं।'[2]

'विद्यादि शुभ गुणों से सम्पन्न योगी जब साधना के द्वारा दिव्य शक्तियों को प्राप्त करता है तो अपने को कृत्यकृत्य अनुभव करता है।'[3] साधना से प्राप्त कान्तिवाला आदित्यसम तेजस्वी योगी जब आनन्द-रससागर की ओर प्रयाण करता है तब विविधजगत् के धारक परमेश्वर में स्थित होकर अभिकांक्षापूर्ण दिव्य चक्षु द्वारा परमेश्वर को देखता है। उस पवित्रतेज से चमकता हुआ योगी तब तृप्त हो जाता है और चित्त-रञ्जन तृतीय धाम में अपनी सकल अभिकांक्षाओं को पूर्ण कर लेता है।[4]

वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित सूक्ष्म विषयों की दिव्यशक्तियों को योगदर्शन में सत्त्व और पुरुष के भेदज्ञान में संयम का परिणाम माना है। योगसूत्र एवं भाष्य में कहा गया है कि 'प्रातिभ अर्थात् आन्तरिक ज्ञान की शक्ति से सूक्ष्म, छिपे हुए दूर, भूत और भविष्यत् का परिज्ञान हो जाता है। जैसे दिव्य श्रवणशक्ति से दिव्यशब्द का सुनना, वेदनाशक्ति से दिव्य स्पर्श की प्राप्ति, आदर्श या रूपग्रहणशक्ति से दिव्यरूप का

---

१. आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्यम्। अस्मे श्रवांसि धारय॥ —साम० ५०१

२. ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽदाभ्यासो जनुषी उभे अनु।—साम० १४२५

३. अधा नरो न्योहतेऽधा नियुत ओहते।
अधा परावता इति चित्रा रूपाणि दर्श्या॥—ऋग्० ५।५२।११

४. द्रप्सः समुद्रमभियज्जिगाति पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन्।
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि—साम० १८४८

ग्रनुभव, ग्रास्वादनशक्ति से सूक्ष्म रस का ज्ञान, वार्ता या गन्धग्रहण की शक्ति से दिव्य गन्धविज्ञान का लाभ नित्य प्राप्त होता है।'[1]

परकाया-प्रवेश

मन्त्र के भावार्थ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उल्लेख किया है कि—'जो योगी तप ग्रादि साधनों से योगबल को प्राप्त करके ग्रसंख्य प्राणियों के शरीरों में प्रविष्ट होकर ग्रनेक नेत्र ग्रादि ग्रङ्गों से दर्शन ग्रादि कार्य कर सकता है, वह ग्रनेक पदार्थों ग्रौर धनों का स्वामी होता है उसकी हमें ग्रवश्य परिचर्या, सेवा करनी चाहिए।'[2]

ऋग्वेद में परकाया-प्रवेश का स्पष्ट संकेत मिलता है कि—'जो पितृजन ग्रग्नि को जलानेवाले ग्रर्थात् गृहस्थ हैं=गृहमेधी हैं, या जो गृहस्थ नहीं हैं वे परमेश्वर के ज्ञान में ग्रपनी योग ग्रादि शक्ति सहित विद्यमान होकर, प्रसन्नता को प्राप्त करते हैं, उनके साथ शरीर में विद्यमान प्रकाशमय ग्रग्नि=ग्रात्मा ऐसी प्राण-धारण-नीति को ग्रपनाता है कि ग्रपने-ग्राप योग-शक्ति से दूसरे के शरीर में जाने के कार्य को पूर्ण करता है ग्रर्थात् शरीरान्तर में प्रवेश करने में समर्थ होता है।'[3]

परकायाप्रवेश की योग-सिद्धि को महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रकार स्वीकार किया है—'संयम द्वारा शरीर में चित्त-बन्धन के कारण धर्माऽधर्मरूप प्रारब्धकर्म की शिथिलता से ग्रौर नाड़ियों का ज्ञान हो जाने से चित्त का दूसरे शरीर में प्रवेश हो जाता है।'[4] इस सूत्र पर व्यासभाष्य का भाव यह है कि—शरीर के भीतर मन के सम्बन्धविशेष को 'बन्ध,

---

१. ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते।—यो० ३।३६ [व्या० भा०]

२. यो योगी तप-ग्रादिसाधनैर्योगबलं प्राप्यासंख्य प्राणिशरीराणि प्रविश्यानेक-नेत्रादिभिरङ्गैर्दर्शनादि कार्याणि कर्त्तुं शक्नोति। ग्रनेकेषां पदार्थानां धनानां च स्वामी भवति, सोऽस्माभिरवश्यं परिचरणीयः॥—यजु० १७।७१

३. ये ग्रग्निदग्धा ये ग्रनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभिः स्वराळसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व॥—ऋग्० १०।१५।१४

४. बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः॥ यो० ३।३८ [द्रष्टव्य—व्या० भा०] भोजवृत्तिश्च

धर्माधर्मरूप प्रारब्धकर्म को 'बन्धकारण' और बन्धन करने में सामर्थ्य-भाव को 'बन्धसामर्थ्य' कहते हैं। 'प्रचरति अनेन अस्मिन् वा इति प्रचारः'—मन के बाहर-भीतर आने-जाने का मार्गरूप जो नाड़ियाँ हैं, उनका नाम है प्रचार। नाड़ियों के प्रत्यक्षज्ञान का नाम है 'प्रचार-सम्वेदन'। जिस योगी को संयम द्वारा बन्धकारण की शिथिलता प्राप्त होती है और चित्त के एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में प्रविष्ट होने पर मूलनाड़ियों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब उसके चित्त का दूसरे शरीर में अनायास ही प्रवेश हो जाता है। चित्त के साथ इन्द्रिय-शक्तियाँ भी अनुगमन करती हैं। जैसे मधु को बनाने वाली रानी मक्खी के पीछे अन्य मक्खियाँ जाती हैं। भोजवृत्तिकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'योगी दूसरे के जीवित वा मृत शरीर में चित्त-संचार द्वारा प्रवेश करता है'।

सूत्र के 'चित्तस्य परशरीरावेशः' पदों से परशरीर में प्रवेश चित्त का होता है, ऐसा प्रतीत होता है। आचार्य उदयवीर शास्त्री ने स्पष्ट किया है कि—'केवल चित्त पूर्वशरीर को छोड़कर परशरीर में प्रवेश कर जाए, यह सम्भव नहीं। चित्त सूक्ष्मशरीर का प्रधान घटक है, इसलिए सूत्रकार ने सूक्ष्मशरीरमात्र के लिए 'चित्त' पद का प्रयोग किया है। सूक्ष्मशरीर आत्मा का वेष्टन है, आत्मा को अपने में लपेटे हुए है। इस कारण चित्त के परशरीर प्रवेश का तात्पर्य है—सूक्ष्मशरीर समेत आत्मा का पूर्वशरीर छोड़कर अन्य शरीर में प्रवेश करना। उस दशा में पूर्व-शरीर जीवनरहित हो जाता है। ऐसा कदापि सम्भव नहीं कि चित्त को छोड़कर सूक्ष्मशरीर के अन्य सब घटक और आत्मा पूर्व शरीर में बैठे रहें तथा अकेला चित्त पूर्व शरीर को त्यागकर अन्य शरीर में प्रवेश कर जाए। प्राचीन वाङ्मय में जहाँ कहीं परशरीरप्रवेश की घटना का उल्लेख मिलता है वहाँ पूर्वशरीर के अपेक्षित होने पर मृत दशा में सुरक्षित रखे जाने का भी उल्लेख है।"[1]

शंकराचार्य ने निज योगबल से राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया था ऐसा उनके जीवनवृत्त में आया है।[2] शंकराचार्य की परकाया-प्रवेश-

---

१. **आचार्य उदयवीर शास्त्री**—योगदर्शनम् ३।३८

२. **कल्याण**—योगांक, श्रीशंकराचार्य, पृ० ७७२, तथा 'योग और योगविभूति' म० महो० पं० गोपीनाथ कविराज, पृ० सं० ७२८

सिद्धि को महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्वीकार किया है—'शरीर के किसी एक भाग में सम्पूर्ण प्राणशक्ति को इकट्ठा कर देना।' उन्होंने अपना अभ्यास बताया था और कहा—'परकाया-प्रवेश इससे एक पग-मात्र आगे है।'

उदान-जय से जल-पंक-कण्टक आदि का प्रभाव न होना एवं उत्क्रमण

शरीर में निहित मुख्य पाँच प्राण हैं, जोकि शरीर की विभिन्न क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं। नाभिप्रदेश से उपर ले-जाने के कारण शिरपर्यन्त 'उदान' है। उदान प्राण के संयम से योगी को जल-पंकादि से असंगता एवं उत्क्रमण की सिद्धि होती है।

यजुर्वेद के प्रथमाध्याय में यज्ञीय कर्म करनेवाला साधक अन्य साधकों को अपने अनुसरण का उद्बोधन देते हुए कहता है कि—'जैसे मैं उस अन्न और जल को जीवन-धारण के निमित्त बल के लिए और उसे स्फर्ति के हेतु तथा उत्क्रमण एवं पराक्रम के लिए…धारण करता हूँ वैसे ही तुम सब लोग उक्त प्रयोजन के लिए इसे नित्य धारण करो।'[1]

उदान पद का प्रयोग अन्यत्र[2] यजुर्वेद में—उत्कृष्ट बल तथा साधन का द्योतक माना गया है। उदान प्राण ऊपर को उठानेवाला है, यह उदान ही शरीर को ऊपर फेंकने, उठाने में सहायक है। 'उदान' पद के लिये गए अर्थों के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि योगी यदि उदान-प्राण पर संयम करे तो शरीर को उत्क्रमण-क्रिया में समर्थ कर सकता है।[3]

योगदर्शन में उदानजय का फल वर्णित किया है कि 'उदान प्राण के संयम से योगी जल के ऊपर सरलता से जा सकता है, कीचड़ के ऊपर से गमन कर सकता है, इसी प्रकार काँटों के ऊपर बिना किसी प्रभाव के जाने में समर्थ होता है। साथ ही मृत्युकाल में ऊर्ध्वगति भी इसी उदान संयम से होती है।'[4] 'ब्रह्मविद् की इस ऊर्ध्वगति को देवपथ,

---

१. धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा।
—यजु० १।२०

२. उदानिति बलयति येन सः।—यजु० २२।३३
उत्कृष्टाय बलाय।—यजु० १३।१९ पदार्थः

३. उदानाय=उदान उदयनीयः—ऐत० १।७

४. उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।—यो० ३।३९

ब्रह्मपथ एवं देवयान कहा है। यही उत्तरगति या शुक्लगति तथा अर्चि-मार्ग है जिससे आत्मा पुण्यलोक को प्राप्त होता है।'[1]

समान-जय से तेज की प्राप्ति

यजुर्वेद अ० २२।३३ मं० में (**समानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा**) रस को समान करनेवाला समान वायु, यज्ञक्रिया एवं योगाभ्यास आदि के साथ समर्पित हो'। यह अर्थ महर्षि दयानन्द ने प्रकाशित किया है। यदि 'कल्पताम्' पद का अर्थ 'सामर्थ्य प्रदान करने' में लिया जाय तो उक्त वाक्य का अर्थ होगा कि 'समान वायु को योगयज्ञ अर्थात् योगाभ्यास से समर्थ करो।'[2]

प्रश्नोपनिषद् में प्रमुख पाँच प्राणों के शरीर में स्थान एवं कार्यों का फल वर्णित है। वहाँ तृतीय प्रश्न में समाधान दिया गया है कि—'देह के मध्य में अर्थात् कण्ठ से नाभि तक समान प्राण रहता है, यह ही खाये हुए अन्न को पचाता है, उससे पचाये हुए अन्न से सात ज्वालायें जगती हैं।'[3] द्वितीय प्रश्न के अन्दर शरीर में कार्य करनेवाली प्राणशक्ति के सामर्थ्य को बताया है कि—'यह प्राण ही सबका पोषक दिव्य स्वरूप है, यही स्थूल, सूक्ष्म और अमृत है।'[4] साधक प्राण के दीप्तिमय गुणों को जानकर समान प्राण में जब संयम करता है तो शरीर में दीप्ति का संचार हो जाता है। इसका कारण यह है कि समान प्राण के अधीन शरीर में जो आग्नेय तेज होता है वह संयम से उद्दीप्त हो जाता है और योगी का शरीर अग्निसदृश कान्तिमान् हो जाता है, जैसाकि योगदर्शन में समानजय का फल प्रतिपादित है।[5]

---

१. द्रष्टव्य—प्रश्नो० ३।७; छान्दो० ४।१५।४-५; ५।१०।१-२;
बृहदा० ६।२।१५; कौषी० उ० १।३

२. समर्थ अर्थ के लिए द्रष्टव्य—यजु० २२।२२; १८।१; १३।४३; ५।१७;
२३।१५; १८।३३; ऋग्० १।१७०।२; यजु० ५।१० आदि

३. **मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति, तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति॥**—प्रश्नो० ३।५

४. **एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेषः।
वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥**—प्रश्नो० २।५

५. **समानजयाज्ज्वलनम्।**—यो० ३।४०

दिव्य श्रोत्र की प्राप्ति

प्रजाओं में व्याप्त परमेश्वर के द्वारा दिए मानव-सामर्थ्यों का वेद में वर्णन मिलता है कि 'वह परमात्मा अपनी व्याप्ति से दूत के समान दूर समाचार देनेवाले के सदृश अपने प्रकाश से व्याप्त है'।[1] मन्त्र के भावार्थ में स्पष्ट किया गया है कि वह जगदीश्वर योगियों को वायु के द्वारा वृद्ध दूत के सदृश दूर देश में वर्तमान समाचार वा पदार्थ को जनाता है।

योगी के दिव्य श्रोत्र-सामर्थ्य का सामवेदीय ऋचा में भी उल्लेख है कि—'जब ये भक्तिरस मधुर धारारूप में सब ओर से प्रवाहित हो जाते हैं, तब चन्द्रमा के सदृश शान्तिदायक भक्तिरस, योगमार्ग में प्रकट होनेवाली दिव्य ध्वनियों को जागरित कर देते हैं, परमेश्वर की महती वेदवाणी के गानों द्वारा ये भक्तिरस हर्ष—आनन्द को भी प्रकट करते हैं'।[2]

सूत्रकार पतञ्जलि ने दिव्य स्रोत की पद्धति का निर्देश किया है कि—'श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र की प्राप्ति होती है।'[3] तात्पर्य यह है कि स्थूल-सूक्ष्म जितने भी शब्द उत्पन्न होते हैं, उन सबका आधार आकाश है और आकाश का सम्बन्ध श्रोत्र इन्द्रिय से है। जब योगी उस सम्बन्ध में संयम करता है तो संयम के प्रभाव से श्रवणशक्ति अतिविस्तृत तथा आकाश के समान सूक्ष्म हो जाती है। श्रोत्रशक्ति के विस्तृत तथा सूक्ष्म हो जाने से दूरस्थ शब्दों का श्रवण अनायास हो जाता है।

आकाशगमन

आकाशगमन की सिद्धि का वर्णन सूक्त के तीन मन्त्रों में स्पष्ट रूप से मिलता है कि—'जिन्होंने वायु को रस्सी की तरह पकड़ लिया है ऐसे योगी, मुनिजन पिंगल वर्ण के मटमैले केशों को एवं जटाओं को धारण कर लेते हैं। जब उनमें दिव्य शक्तियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं तब

---

१. नि वेवेति पलितोदूत आस्वन्तर्महाँश्चरति रोचनेन।—ऋग्० ३।५५।९

२. परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा।
मधो अर्षन्ति धारया॥—साम० ४८५

३. श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।—यो० ३।४१

वे वायु की गति के साथ-साथ उड़ने लगते हैं।'[1] आगे मुनि-जन स्वशक्ति को स्पष्ट कहते हैं कि—'मुनित्व से निरतिशय आनन्द को प्राप्त हुए हम वायु पर आरूढ़ हो गये हैं। हे मनुष्यों! तुम केवल हमारे शरीरों को ही देखते हो।'[2] आगे योगिजन कह रहे हैं 'हमने योगाभ्यास द्वारा वायु पर आरूढ़ होने की सिद्धि प्राप्त कर ली है। पर तुम्हें हमारी इस महिमा का ज्ञान कैसे हो सकता है, क्योंकि तुम तो केवल हमारे शरीरों को ही देखते हो। बाहर से देखने से तो हम भी वैसे ही दिखाई देते हैं, जैसे अन्य मनुष्य हैं।' तृतीय मन्त्र में ऐसे योगियों के मैत्री व्यवहार का फल बताया है—

'शुभ-कर्मों के लिए नियुक्त प्रत्येक देवजन के साथ मित्रभाव रखने-वाला मुनि सब रूपों को देखता हुआ, आकाश-मार्ग से उड़ता है।'[3]

इस मन्त्र में भी योगी के आकाश-विहार का वर्णन है। वह योगी सब मनुष्यों के साथ मैत्रीभाव रखता हुआ उनके कल्याणार्थ आकाश में घूमता है और आकाश से भूमि की सब अवस्थाओं को देखता जाता है। जहाँ-कहीं किसी को कष्ट में पड़ा हुआ देखता है, उसकी सहायता करता है।

आकाशगमन की विभूति का वर्णन सामवेदीय ऋचाओं में भी मिलता है—'जो उपासक इस परमेश्वर द्वारा प्रोक्त-धर्म के सहारे रमण करता है वह आनन्दविभोर होता हुआ, वायु-बिजली, द्युलोक-पृथिवीलोक, सूर्य-चन्द्र में दिनरात यथेच्छ विचरता है।'[4]

द्वितीय मन्त्र में 'अन्तरिक्षेण यातवे' शब्द स्पष्ट ही आकाशगमन को

---

१. **मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।**
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद् देवासो अविक्षत॥—ऋग्० १०।१३६।२

२. **उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।**
शरीरेदस्माकं यूयं मर्त्तासो अभि पश्यथ॥—ऋग्० १०।१३६।३

३. **अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्।**
मुनिर्देवस्यदेवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥—ऋग्० १०।१३६।४
[डॉ० रामनाथ वेदालंकार—गुरु० प० पृ० २७८-२७९] इन मन्त्रों का अर्थ सूर्यवर्णन परक भी मिलता है परन्तु मुनि शब्द का प्रयोग योगसिद्धि का सूचक है।

४. **स वायुमिन्द्रमश्विना साकं मदेन गच्छति। रणा यो अस्य धर्मणा॥**
—साम० ११३४

प्रकट करते हैं, जैसे—'पवित्र करनेवाले परमेश्वर ने, अन्तरिक्ष द्वारा जाने-आने के लिए मनन-निदिध्यासन करनेवाले योगी में, योगशक्ति-रूपी-अश्व को योगसाधना द्वारा जोता है, जैसेकि अन्तरिक्ष द्वारा जाने-आने के लिए मानो उसने सूर्य में अश्व को जोत रखा है।'[1]

एक अन्य ऋचा में प्रेरणा की गई है कि 'मनुष्य-समाज की सेवा में प्रसक्त हे उपासक ! तू अपने भक्तिरस को पवित्र बना, ताकि तेरी भक्ति की मस्ती परमेश्वर को स्वीकृत हो जाए। तू योग के प्राणायाम तथा समाधि आदि साधनों द्वारा वायु अर्थात् आकाश में आरोहण की सिद्धियाँ प्राप्त कर।'[2]

योगदर्शन व्यासभाष्य (३।४२) में आकाशगमन की सिद्धि को शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम का फल बताया है। संयम का प्रकार स्पष्ट किया है कि—'हमारा यह शरीर पाञ्चभौतिक है जिसे काया कहते हैं। काया को अवकाश देनेवाला जो आकाश है उससे जो सम्बन्ध है, उसमें संयम करके हल्के रुई आदि में समापत्ति अर्थात् तन्मयी भावना करके अतिलघुत्व को योगी प्राप्त होकर प्रथम इच्छा-पूर्वक जल के ऊपर विचरकर क्रम से मकड़ी के तन्तुओं से उत्पन्न जाले के सहारे विचरता है, तत्पश्चात् आदित्य-रश्मियों के साथ विचरता हुआ, इच्छापूर्वक आकाश में गमन करता है।'[3] इस प्रकार की घटना

---

१. **अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि। अन्तरिक्षेण यातवे॥**—साम० १२१७

२. **पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः। वायुमारोह धर्मणा॥**

—साम० १२३५

३. (क) 'महाभारत में बाल ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता शुकदेव की कथा का उल्लेख है कि नारद का उपदेश सुनकर उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि—

तत्र यास्यामि यत्रात्मा प्रशमं मेऽधिगच्छति।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः॥
न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमागतिः।
अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते॥
तस्माद्योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम्।
वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम्॥

'चन्द्रमा में ह्रास-वृद्धि होती है, अतएव वहाँ जाना उचित नहीं। सूर्य अक्षयमण्डल है। इसी से शुकदेव ने निःशङ्क होकर सूर्यलोक में वास करने का निश्चय किया। स्थूल देह त्यागकर सूर्यमण्डल में ऋषियों के

संस्कृत-साहित्य में मिलती है।

बुद्धि के प्रकाशावरण का नाश

साधना में निरत साधक जब निज शरीर से बाहर भी परमात्मा को समझता हुआ किसी सूक्ष्म पदार्थ में संयम करता है तो बुद्धि का प्रकाशावरण क्षीण हो जाता है। वेदों में योगसाधना से होनेवाले लाभों का संकेत करते हुए कहा गया है कि—'साधक परमात्मा में मन को युक्त करके बुद्धि से विद्याप्रकाश को तथा सुख के प्राप्त करानेवाले महान् विज्ञान तथा दिव्य गुणों को उत्पन्न करता है, अर्थात् अविद्या आदि क्लेशों को दूर करनेवाले गुणों को उत्पन्न करता है। योगसाधना द्वारा ही मेधावी तत्त्वज्ञान की बुद्धि प्राप्त करते हैं।'[1]

अविद्या आदि क्लेशों का निवारण करने योग्य योगविद्या को जानकर नवीन-साधक प्रौढ़ योगविद्या-निपुण साधक से जानने की इच्छा प्रकट करता है कि 'हे योगिन्! शौच, सन्तोष आदि नियमों के पालनेवाले तथा शम-दम आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त होकर आप जिस योगबल से अविद्या आदि क्लेशों से दूर होकर शुद्ध तथा शान्तियुक्त हो और अपनी आत्मा को उन्नत करते हो। पुरातन एवं नवीन योगियों के हृदयाकाश में विद्यमान अविद्या को शीघ्र दूर करते हो। उस योग की क्रियाओं से हमें भी युक्त कीजिए।'[2]

साथ जाने की इच्छा की। **'पुनर्योगमास्थाय आकाशमाविशत्'**—फिर नारद की आज्ञा लेकर आकाश में प्रवेश किया।

(ख) महिष्मती नगरी में जाकर मण्डनमिश्र के घर के किवाड़ बन्द देखकर शंकराचार्य ने योगबल से आकाशमार्ग द्वारा मण्डन के अन्तःपुर में प्रवेश किया—**'योगशक्त्या व्योमाध्वनावान्तरदङ्गनान्तः'**

—[माधवकृत 'शंकर' दिग्विजय ८।६]

उद्धृत—'कल्याणयोगाङ्क'—पं० गोपीनाथ कविराज एम० ए०, योग तथा योग विभूति, पृ० ७२७-२८

१. **युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्य्यतो धिया दिवम्।**
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥—यजु० ११।३
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।—यजु० ११।४

२. **तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषद ँ स्वर्विदम्।**
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्द्धसे॥
—यजु० ७।१२

क्लेशों का नाश होने की प्रक्रिया का सामवेदीय ऋचा में क्रमशः वर्णन किया है कि—'ध्यानी की दस-शक्तियाँ अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियां जब मार्जन-विधि द्वारा शुद्ध हो जाती हैं और प्रणव-रूपी धनुष की सहायता से सबका त्राण करने लगती हैं। पुनः ये बहिनों के सदृश एकसाथ होकर प्रभु के प्रति अपने ज्ञानों और कर्मों को सींचती हैं, समर्पित करती हैं। तब आध्यात्मिक सूर्य का जन्मदाता क्लेशों का हरण करनेवाला प्रभु परिद्रवित हो जाता है और हृदय-गुहा में शीघ्रता से प्रकट हो जाता है, जैसेकि वेगवान् अश्व उद्दिष्ट स्थान को शीघ्र प्राप्त करता है।'[1]

मन्त्रों में वर्णित अविद्या आदि क्लेशों के नाशक योगविषयक विवरण से यह सिद्ध होता है कि—योगाभ्यासी योग की क्रियाओं से अविद्या आदि क्लेश तथा कर्मों के क्षय की शक्ति को उत्पन्न कर लेता है। वेद में प्रतिपादित इस शक्ति को महर्षि पतञ्जलि ने योगविभूति का रूप दिया है। सूत्र में सिद्धि का प्रकार बताते हुए फल-निर्देश किया है कि—'शरीर से बाहर कल्पनारहित वृत्ति महाविदेहा नामक है। उस वृत्ति से प्रकाश के आवरण का क्षय हो जाता है।'[2]

शरीरविषयक अहंकार रहते हुए चित्त की जो बाह्य वृत्ति होती है वह 'कल्पिता' धारणा कही जाती है, यह सामान्य विदेहा धारणा है। शरीरविषयक अहंकार का परित्याग कर जब चित्त स्वतन्त्रता से अपना व्यापार (वृत्ति) चालू रखता है, वह धारणा अकल्पिता है, उसी को 'महाविदेहा' कहा जाता है। उसमें संयम करने से योगी के समस्त चित्तमल क्षीण हो जाते हैं। प्रकाशमय सात्त्विक चित्त के मल, क्लेश-कर्म आदि भाव हैं, ये ही चित्त के आवरण हैं, महाविदेहा धारणा में संयम करने से इसका नाश हो जाता है।

पंचभूतों पर विजय

साधक साधना के उपक्रम में अन्तर्मुख होकर प्राणेन्द्रिय-शक्तियों तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि आन्तरिक तत्त्वों को साक्षात्

---

१. **साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्रीः।**
हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी॥
—साम० ५३८, १४१८; ऋग्० ६।६३।१

२. **बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः॥**—यो० ३।४३

करता है, तो उसे अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथिवी पंचभूतमय ब्रह्माण्ड को जानने की बलवती आकांक्षा रहती है, क्योंकि पूर्ण-प्रत्यक्ष ही शान्ति का द्योतक है। आन्तरिक संयम से जैसे योगी को आन्तरिक-प्रत्यक्ष होता है तद्वत् बाह्य प्रत्यक्ष भी भूतों के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर विवेचन से सम्भव है। अथर्ववेद के 'स्कम्भ सूक्त' में पंचभूतों के विषय में जिज्ञासु साधक के प्रश्नों का समाधान गम्भीरतापूर्वक वैज्ञानिक विधि से किया गया है। प्रश्नों के माध्यम से पंचभूतों की स्थिति, गति, आधार तथा मानवोपयोगी गुणों का विवेचन दिया गया है।[1]

वेदों में पाँचों भूतों का सूक्ष्म विवेचन सविस्तर उपलब्ध है। अग्निः, वायुः, आपः, वरुणः, अन्तरिक्षम्, पृथिवी नामक देवताओं के गुण-कार्यों के विवेचन में इन पंचभूतों का ही सूक्ष्म निरूपण किया है। ऋग्वेद में लगभग २०० सूक्तों द्वारा अग्निदेवता की स्तुति की गयी है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवों के साथ स्तुति मिलती है। इसी प्रकार यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में भी अग्नि देवता के स्तुतिपरक अनेकों मन्त्र मिलते हैं।

संहिताओं में अग्निदेवता के विशद विवेचन में अग्नि के स्वरूपों, प्रकारों, कार्यों एवं सामर्थ्यों का निरूपण स्पष्ट रूप से मिलता है। अतएव 'अग्नि' के अनेकों विशेषण वेदों में मिलते हैं।[2] जिनमें अग्नि के प्रत्येक पक्ष का रहस्य निहित है।

---

१. **कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा।**
—अथ० १०।७।२

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्।
—अथ० १०।७।३

अन्ये द्रष्टव्यमन्त्रा।—अथ० १०।७।१०, १२, ३२, ३३, ३५

२. **इमानि कतिपयानि अग्नेर्विशेषणानि—**
'पुरोहितः, ऋत्विक्, होता, रत्नधातमः, कविक्रतुः, सत्यः, चित्रश्रवस्तमः, ऋतस्य-गोपा, दीदिविः, स्वेदमेवर्धमानः, दूतः, विश्वेदेवाः, विश्पतिः, हव्य-वाहः, पुरुप्रियः, धूतवाहनः, कविः, गृहपतिः, युवा, पृथुप्रगामा, सुशेवः, जरा-बोधः, धूमकेतुः, पुरश्चन्द्रः, बृहद्भानुः, अङ्गिरसतमः, मेधिरः, वृष्णः, पुष्टि-वर्धनः, जागृविः, प्रमतिः, देववीतमः, भाहजीकः, अध्वर-श्री, स्वाहुतः, उषर्बुधः, विभावसु, प्रचेता, जीरः, अमर्त्योदूतः, महिव्रतः, प्रियमेधा, रयिषाद्, तुविष्वणिः, द्विजन्मा, सुप्राव्यः, सद्योअर्थः, दमूनाः, गुहा-चतन्,

अग्नि के समान इन्द्र देवता की स्तुति ऋग्वेद में प्रायः २५० सूक्तों में उपलब्ध है जिनमें से लगभग ५० सूक्तों में आंशिक रूप से इन्द्र की स्तुति है। अन्तरिक्ष का देवता इन्द्र को माना गया है जोकि अन्तरिक्ष में संचरण करनेवाला वायु है।[1] अग्नि के समान इन्द्र देवता भी सैकड़ों विशेषणों सहित वेदों में प्रयुक्त है।

जल के देवता वरुण का ऋग्वेद में १२ सूक्तों में स्तुति-गुणगान है। ऋग्वेद से अतिरिक्त अन्य तीनों वेदों में प्रायः ५७ मन्त्र वरुण की प्रशस्ति-परक हैं। बहुत-से वेदमन्त्रों में वरुण का वर्णन 'मित्र' देवता के साथ आया है। 'मित्रावरुणौ' को मानकर ऋग्वेद में लगभग २४ सूक्त हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वेदों में प्रायः २६ मन्त्रों में 'मित्रावरुणौ' का विवेचन है।

अथर्ववेद का पृथिवी-सूक्त पृथिवीविषयक विविध रहस्यों का उद्घाटन करता है। इसके अतिरिक्त 'द्यावापृथिवी' नामक देवता का १७ सूक्तों में पूर्णतः तथा आंशिक विश्लेषण है।

वेदों में आगत पंचभूतों के विस्तृत परिशीलन से हम यह निर्णय कर

दुरीकशोचिः, मनोरपत्येनिषत्तौ, होता, चिकित्वान्, सत्यमन्मा, हितमित्रः, नृणांनृतमः, सहस्राक्षः, विचर्षणिः, शोचिष्केशः, वृषा, ज्योतीरथः, तमोहा, सद्योत्मा, जीराश्वाः, चन्द्ररथः, सहसःसूनुः, परमेव्योमनिजायमानः, ऊर्ध्वाशुचिपेशसंधियं दधानः, त्रिमूर्धा, सप्तरश्मिः, जीवपीतसर्गः, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पतिः, अदब्धव्रतप्रमतिः, वसिष्ठः, सहस्रंभरः, शुचिजिह्वः, सुवृक्तिः, एनासूक्तेनसुजातः, वसुपतिः, वसुदावा, भारतः, कवितमः, वेधाः, मनुषः, चेतयन्, जातवेदाः, वसुपतिः, वसुदावा, भारतः, कविहमः, वेधाः, पृथुबुध्नाः, सभावान्, मन्द्रः, जनानां उपवक्ताः, अतिथिः, शोचिष्केषः, गुहासन्, धृतश्रीः, जागृविः, सुदक्षः, वेरण्यः, तुविश्रवस्तमः, रघुष्यद्, जेता, अपराजितः, देवव्यचस्तमः, तुविब्रह्मा, त्रसदस्युः, धनंजयः, पावकः, अमूरः, अदितिः, सहस्रमुष्कः, स्वभिष्टिः, देवोदासः, उक्थशंसी, तिग्मजम्भः, नेदिष्ठः, समुद्रवासाः, कृपनीकः, अदेग्र, सूनुः, मनुः, देवयुः, यज्ञकामः, दीर्घतन्तुः, सहस्रस्तरी, शतनीथः, ऋभ्वा, कृण्वतमः, विश्वकृष्टिः, क्षत्रभृत्, सुमेधाः, मधुहस्त्यः, असुरः, भूरिपाणिः, मतीनांकृदरः, जनयोपनः, ऋषीणांपुत्रः, इत्यादि।

—उद्धृत : सत्यभूषण योगी 'देवतासूक्तसंग्रह' पृ० ४३

१. वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थान।—[नि० ७।५] तस्मादिन्द्र एवं वायुः।

[नि० १०।२] दुर्गाचार्यकृत

सकते हैं कि परमात्मा की विशद सृष्टि का परिज्ञान करने का अभिलाषी वेदों से इस विषय का पूर्णज्ञान प्राप्त कर सकता है। तत्पश्चात् प्राप्त ज्ञान के अनुसार साधनाक्रम में संयम द्वारा भूतों पर विजय प्राप्त करने को समर्थ हो सकता है। वेदों में वर्णित पंचभूत-परिशीलन को को दृष्टिगत करके पतञ्जलि ऋषि ने एकसूत्र के द्वारा भूत-जय प्राप्त करने की पद्धति निर्धारित की है कि—'पृथिवी आदि पाँच भूतों पर जय प्राप्त होता है जिससे योगी को भूतविषयक समस्त वास्तविक परिस्थिति का पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है।'[1] भूत-विजेता योगी की इच्छानुसार भूत उसका इस प्रकार अनुसरण करते हैं, जैसे गाय बछड़ों के पीछे भागती है। ऐसा योगी अपने संकल्प के अनुसार भूतप्रकृतियों से जैसा चाहे वैसा कार्य लिया करता है। आज के भौतिक विज्ञानी ऐसे ही कार्यों को बाह्य यन्त्रादि साधनों से करते हैं परन्तु योगी आध्यात्मिक शक्ति से। महर्षि दयानन्द को भूतजय की सिद्धि प्राप्त थी।[2]

अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ

भूतजय के पश्चात् संयम-निरत योगाभ्यासी को अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। यजुर्वेदीय मन्त्र में भूतजय-आकाशगमन तथा अणिमादि सिद्धियों का स्वरूप-वर्णन मिलता है। सिद्धयोगी अन्यों को योगाभ्यास के लिए प्रेरित करता है—'हे मनुष्यो! योगांगों के अनुष्ठान एवं संयम से सिद्धयोगी मैं पृथिवी से आकाश में आरोहण करूँ, आकाश से प्रकाशमान सूर्य में आरोहण करूँ और सुख के निमित्त प्रकाशमान द्युलोक के समीप से सुख और ज्ञानप्रकाश को मैं प्राप्त करूँ,

---

१. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद् भूतजयः—यो० ३४३

२. स्वामी जी एक समय उपदेश कर रहे थे, उस समय एक ओर से घोर आन्धी, धूलिराशि भूतल-आकाश को एकाकार करती, उमड़ी चली आती दिखाई दी। पवन भी प्रचण्डरूप धारण करने लगा। सत्संगी चलायमान होने लगे, उठने के लिये दायें-बायें झाँकने लगे। उस समय महाराज ने मेज पर करतल प्रहार कर, उच्चस्वर से कहा—"धैर्य रखिये, हिलिये नहीं, यहाँ आन्धी नहीं आयेगी।" महाराजश्री के कथन पर लोग शान्त हो गये। सचमुच आन्धी भी वहाँ नहीं आयी।—महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र, पृ० ३४६ [योगी का आत्मचरित्र, पृ० ३५]

वैसे तुम नवीन साधक भी किया करो ।"[1]

उक्त मन्त्र के भावार्थ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्पष्ट किया है—'जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा को युक्त करता है, तब अणिमा आदि सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। उससे अव्याहत गति से अभीष्ट स्थानों में जा सकता है, अन्यथा नहीं ।'[2]

योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने भूतजय के परिणामस्वरूप अणिमादि सिद्धियों का प्रादुर्भाव, कायसम्पत् तथा भूतों के कठिनता आदि धर्म योगी की गति में बाधक नहीं बनते, ऐसा बतलाया है ।[3]

व्यासभाष्य में अणिमादि अष्ट सिद्धियों की गणना इस प्रकार की है—

१. अणिमा	···अणु के समान सूक्ष्म हो जाना, शरीर को छोटा कर लेना ।
२. महिमा	···महान्, बड़ा हो जाना, शरीर का विस्तार कर लेना ।
३. लघिमा	···लघु-हल्का हो जाना, शरीर के भार को बहुत कम कर लेना ।
४. प्राप्ति	···अल्पकाल में बाह्य साधन विना यथेच्छ स्थान पर जाना तथा अंगुली से चन्द्रमा को स्पर्श करना ।
५. प्राकाम्य	···इच्छा का पूर्ण होना, इच्छा में रुकावट न आना । जल की तरह भूमि में डुबकी लगाना ।
६. वशित्व	···भूत प्राणी और सभी भौतिक पदार्थों का योगी के वश में हो जाना तथा स्वयं किसी के वश में न होना ।

---

१. पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठान् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥—यजु० १७।६७

२. यदा मनुष्यः स्वात्मना सह परमात्मानं युङ्क्ते तदाऽणिमादयः सिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, ततोऽव्याहतगत्याभीष्टानिस्थानानि गन्तुं शक्नोति; नान्यथा ।
—भा० यजु० १७।६७

३. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।—यो० ३।४५

७. ईशत्व ···भूत एवं भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति-विनाश का सामर्थ्य होना।

८. यत्रकामावसायित्व···सत्य संकल्पों का होना, संकल्प के अनुसार भूत और प्रकृति का रहना।[1]

भोजवृत्ति में नवम सिद्धि 'गरिमा'=शरीर को भारी कर लेने की गणना की गयी है। व्यासभाष्य में गरिमा-सिद्धि का अन्तर्भाव सम्भवतः 'महिमा' के अन्दर करके आठ ही सिद्धियाँ मानी हैं।

अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों के रहस्य-उद्घाटन-प्रसंग में नागेन्द्रनाथ शर्मा, साहित्यालंकार, एम० आर० ए० एम० का कहना है कि 'आत्मा की सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है अतएव 'अणिमा' कहने से केवल परमात्मा ही लक्षित होता है। 'मैं' ही अणिमा हूँ, परमसूक्ष्म मुझमें ही विद्यमान है, अभिन्न सत्तामात्र स्वरूप से मैं ही परमसूक्ष्म वस्तु हूँ। इस तरह जो प्रत्यक्ष अनुभूति है, उसी का नाम अणिमा-विभूति का प्रादुर्भाव है।···यह मुक्ति की अतिसन्निहित अवस्था है।' विद्वान् लेखक ने आगे लिखा है कि—'लघिमा, महिमा, प्राप्ति आदि सिद्धियों का तात्पर्य आत्मा को तद्रूपानुकार समझते हुए संयम करने से लघु-महान् आदि की अनुभूति करना ही है। केवल आत्मज्ञान से ही सब कामनाओं का अन्त हो जाता है।'[2]

अणिमा आदि सिद्धियों को केवल आत्मा का धर्म मानना सम्भव नहीं। व्यासमुनि तथा भोज को भी यह स्वीकार नहीं। वहाँ स्पष्ट रूप से शरीर को लघु-महान्, गुरु (भारी) बनाना ही प्रतिपादित है।[3] अन्तिम सिद्धि 'यत्र कामावसायित्व' का आशय है—सत्य संकल्प होना, जिस पदार्थ से जो प्रयोजन सिद्ध करने की कामना हो, उसे पूरा कर देना। इसका यह अभिप्राय नहीं कि ऐसा योगी भूत-भौतिक पदार्थों में विपर्यास कर देता है, उन्हें बदल देता है। वह ऐसे कार्य में समर्थ होता हुआ भी ईश्वरीय सृष्टि की रचना में किसी प्रकार का परिवर्तन कर देने की भावना कभी नहीं रखता, यद्यपि अपने संकल्प के अनुसार वह विष को भी जीवनरक्षा के लिए प्रयोग में ला सकता है, पर यह

१. द्रष्टव्य—व्या० भा० ३।४५

२. कल्याण योगांक : योगसिद्धि का रहस्य, पृ० सं० २१२।१३

३. **प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्।** व्या० भा०।
शरीरान्तः करणेश्वरतमीशित्वम्।—भो० वृ० ३।४५;

नहीं कर सकता कि चाँद को सूरज बना दे या सूरज को चाँद अथवा दिन को रात कर दे और रात को दिन। सृष्टि-रचना की व्यवस्था में परिवर्तन करने की भावना कभी नहीं उभरती।

अणिमादि सिद्धियों के परिणामस्वरूप कायसम्पद् की प्राप्ति में रूप-लावण्य, बल तथा वज्र के समान देह की दृढ़ बनावट को माना गया है। वेदों में मानव को दिये गये उद्बोधन इन शक्तियों से समता रखते हैं—'परमात्मा की अनन्य भक्ति द्वारा जब मनुष्य सुखप्रद ऐश्वर्य को चाहता है, तब परमात्मा उसका सुन्दर ऐश्वर्ययुक्त दर्शनीय रूप करता है।'[1] 'जीवात्मा का अपना कोई स्वरूप नहीं है परन्तु साधना के श्रेष्ठ कर्तव्यों से परमात्मा विभिन्न शरीरों में भेजकर नानास्वरूपों को देता है अर्थात् परमात्मभक्त का यह शरीर निखर जाता है तथा जन्मान्तर में भी सुन्दर कान्तिमय स्वरूप को प्राप्त करता है।'[2]

'उपासना से शरीर में उत्तम बल का संचय होता है, अतः उपासक याचना करता है।'[3] परमात्मा साधक के अंगों में बल-संचार करता है, उसे आत्मिक प्रेरणा करता है कि—'हे उपासक! तू शस्त्र का शस्त्र है, वज्र का वज्र है।'[4] 'जीवितों की ज्योति प्राप्त कर।'[5] इन वैदिक सूक्तियों से प्रेरणानुसार साधक कायसम्पत् प्राप्त करता है। अणिमादि सिद्धियों के प्रभाव से पंचभूतों के धर्म से उपासक का घात नहीं होता। वेद में यह सिद्धि स्वीकार की गयी है कि—'सिद्धयोगी अग्नि को धारण कर सकता है, विषपान कर सकता है। मानवीय पापों के बढ़ जाने के कारण विनाश उपस्थित होने लगता है तब योगी द्यावा-पृथिवीवासी मनुष्यों को अपनी दिव्यता की तरंगों से प्रभावित कर उन्हें विनाश से बचाता है, तो मानो अपने कंधों पर द्यावापृथिवी को धारण करता है।'[6] 'योगी जितनी देर तक चाहे पानी में डुबकी लगाये

---

१. श्वेतं रूपं कृणुते यत्सिषासति।—ऋग्० ६।७४।७
२. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवतदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।—ऋग्० ६।४७।१८
३. बलं धेहि तनूषु नो।—ऋग्० ३।५३।१८
४. हेत्या हेतिरसि, मेन्या मेनिरसि।—अथ० २।११।१
५. जीवतां ज्योतिरभ्येहि।—अथ० ८।२।२
६. केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥—ऋग्० १०।१३६।१
वायुरस्मा उपामन्थन् पिनष्टि स्मा कुनन्नमा।
केशीविषस्य पात्रेण यद् रुद्रेणा पिबत् सह॥—ऋग्० १०।१३६।७

रह सकता है तथा जब चाहे बादलों की सैर कर सकता है। वायु के साथ गति कर सकता है।"[1] इस प्रकार पाँचों भूत योगी की अव्याहत गति के प्रतिरोधक नहीं बनते।

उपर्युक्त विभूतियों के अतिरिक्त यमनियमों के सम्पालन से होनेवाली सिद्धियों तथा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि योगाङ्गों के अनुष्ठान से प्राप्त सिद्धियों का वर्णन योगाङ्ग प्रकरण में पृथक्-पृथक् किया गया है। पुनरुक्ति-दोष के परिहार के निमित्त यहाँ उनका परिगणन नहीं किया गया।

ओषधि-प्रयोग से सिद्धियाँ

अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान करने पर योगी को यम-नियम तथा विविध स्थानों पर संयम करने से जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका वर्णन वैदिक परिप्रेक्ष्य में विस्तार से किया गया। इनके अतिरिक्त वेदों में कुछ ऐसी ओषधियों का भी विवरण मिलता है, जिनके सेवन से योगाभ्यास में विशेष गति, मन की एकाग्रता, समाधि आदि साधनों की सिद्धि तथा अलौकिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। विभिन्न शारीरिक-मानसिक रोगों एवं यौगिक सिद्धियों के लिए वैदिक ओषधियों का यौगिक प्रक्रियाओं से अन्वेषण तथा प्रयोग करने की आवश्यकता है।

आयुर्वेद में कायाकल्प तथा बलवृद्धि आदि अनेक उत्तम गुणों को उत्पन्न करनेवाली ओषधियों का वर्णन है। यहाँ उनका वर्णन अप्रासंगिक है। विद्या अनन्त है। यौगिक विभूतियाँ अनन्त हैं, प्रत्यक्षता के लिए सतत अन्वेषण एवं परीक्षण की आवश्यकता है।

वैदिक संहिताओं से योगदर्शन तक के योगविषयक साहित्य में वर्णित विभूतियों का वर्णन करने के उपरान्त हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि विभूतियों का विषय ऐसा है कि योग विषय में पर्याप्त रुचि तथा यथाशक्ति तत्सम्बन्धी स्वाध्याय एवं योगाभ्यास करने पर भी इस विषय में यह कहने में समर्थ हैं कि 'इदमित्थमेव' अर्थात् जो हमने

---

१. **वातस्याश्वो वायोः सखाऽथो देवेषितो मुनिः।**
उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥—ऋग्. १०।१३६।५
—डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार [वैदिक योग सिद्धयां] वेदयोग [गु० प० पृ० २७६]

लिखा है, ऐसा ही है। पुनरपि हमें वेद एवं महर्षि पतञ्जलि के वाक्यों में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास करना योग्य है, इसलिये इन विभूतियों पर पर्याप्त अन्वेषण की अपेक्षा है, केवल शब्दार्थ की दृष्टि से नहीं, अपितु इनके प्रति जीवन समर्पित करके साक्षात्कार करने एवं सत्यता को प्रमाणित करने की परमावश्यकता है।

परमात्मप्राप्ति के मुमुक्षु को इन सिद्धियों का आश्रय एवं लोभ त्यागकर निरन्तर मोक्ष का प्रयास करना योग्य है जिसका विवेचन आगामी अध्याय में करेंगे। □

अष्टम अध्याय

मोक्ष का वैदिक स्वरूप

मोक्षण अर्थवाली मुच्लृ[1] धातु से निष्पन्न मोक्ष शब्द का अर्थ है—छूटना अर्थात् मुक्त होना। प्रकृतिजन्य शरीर आदि के बन्धन से या जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त होना ही 'मोक्ष' का तात्पर्य है। जो कारण जीव को बन्धन में डालनेवाले हैं, वेदों में उनका स्वरूप विवेचनीय है।

वेद में बन्धन का स्वरूप

'जीवात्मा'[2] को बद्ध करनेवाले तीन बन्धनों का प्रतिपादन वेदों में किया गया है—उत्तम, मध्यम तथा अधम। इन तीनों पाशों से बँधा हुआ जीव अपने को कष्टों से दुःखी अनुभव करता है, अतः उनसे छूटने के लिए परिश्रमपूर्वक अपने को निष्पाप बनाता हुआ, पाशों के स्वामी वरुण-देव से कातर स्वर में प्रार्थना करता है। मन्त्र के अनुसार उत्तम-पाश—सत्त्वगुण का, मध्यमपाश रजोगुण का एवं तमोगुण का है अधम-पाश। उपासक वरुणदेव से इन तीनों पाशों को ढीला शिथिल करने की याचना करता है, क्योंकि इन तीनों गुणों के वशीभूत होकर ही मानव की मनःस्थिति सम नहीं रहती। तमोगुण से भारीपन, आलस्य-प्रमादवश कर्तव्यपथ में बाधक बनता है, रजोगुण अनुचित रागद्वेष में फँसाता है तथा सत्त्वगुण अहंकार में निमग्न रखता है। ऐसी चंचल अवस्था से दुःखी होकर साधक अखण्डशान्ति की याचना करता है। द्वितीयरूप में मृत्यु को भी बन्धन कहा है। इसलिये वेद में इस बन्धन

---

१. मुच्लृ मोक्षणे [तुदा० प०]

२. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥—ऋग्० १।२४।१५

से छूटने के लिए प्रार्थना की गई है—'हम लोग श्रेष्ठ एवं शुद्ध करनेवाले, शरीर और आत्मा के बल को बढ़ानेवाले रुद्र जगदीश्वर का नित्य यजन करें; लता के साथ जुड़ा हुआ जैसे ककड़ी या खरबूजा पककर मीठा हो जाता है वैसे ही, प्राण और शरीर के आत्मा से वियोग रूप मृत्यु से छूट जाएँ, परन्तु मोक्षरूप-अमृत से हम कभी श्रद्धा एवं विश्वासशून्य न हों।'[1]

वेद में शारीरिक-मानसिक रोगों तथा पापों को भी बन्धन का कारण स्वीकारा है, जिनमें भेड़िये के समान क्रूर-वृत्ति, छिपकर घात करना, चोरी, कुटिलता, छल-कपट, बाहर-भीतर एक न होना, पाप की प्रशंसा करना, लोभ आदि दुर्गुणों का समावेश होता है। सम्पूर्ण सूक्त में इसका विवेचन मिलता है।[2]

अविद्यारूपी बन्धन में बँधा हुआ जीव जन्मरूप-बन्धन का कारण न जानता हुआ अनेक मानसिक विकारों से दुःखी रहता है, इसलिए मन्त्र में अविद्या को भी बन्धन स्वीकार कर, ऋत=यथार्थज्ञान अर्थात् विद्या की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा पायी जाती है।[3]

अथर्ववेदीय मन्त्र में रोगाक्रान्त व्यक्ति को सान्त्वना दी जा रही है कि 'तू डर मत, अभी नहीं मरेगा।'[4] इसी प्रकार ऋग्वेद के मृत्यु देवतावाले चार मन्त्रों में मृत्यु से बचने के उत्साहवर्धक साधनों का निर्देश करते हुए दीर्घ आयु की कामना की गयी है।

इसप्रकार रोग, शोक, मोह आदि के अनेकविध बन्धन वेद में दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु उन सब बन्धनों का विश्लेषण यहाँ अपेक्षित

---

१. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥—ऋग्० ७।५९।१२;
यजु० ३।६० पूर्वार्द्ध

२. वसन्त विक्रमादित्य [आर्यमित्र, स्वाध्याय अंक २५-२६, सं० श्रावणी २०२५, पृ० १०-३६]

३. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥
—ऋग्० १।१६४।३७

४. मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव॥—अथ० ५।३०।८

नहीं। इसलिए प्रसंगवश हम उसी साक्षात् बन्धन का उल्लेख करेंगे जो जीव को जन्म-मरण के चक्र में बाँधता है।

वैदिक संहिताओं के बन्धन के स्वरूपों को योगदर्शनकार ने सूत्र में इस प्रकार निबद्ध किया है—अविद्या, अस्मिता अहंकार=राग, द्वेष, अभिनिवेश=मृत्यु का भय[1]—इन्हीं पंचक्लेशों के वशीभूत प्राणी बन्धन की अनुभूति करता हुआ इनसे मुक्त होने की अभिलाषा करता है।

आगे सूत्रकार ने इन पाँचों में से केवल अविद्या को ही मूलक्लेश-बन्धन मानकर उससे छुटकारा पाने के लिए प्रेरित किया है।

'अविद्या', अस्मिता-राग-द्वेष एवं अभिनिवेश, इन चारों क्लेशों का मूल है।[2] इस मूल को समाप्त कर दिया जाए तो अविद्यासहित पाँचों क्लेशों से मुक्ति मिल जायेगी।

न्यायदर्शनकार गौतममुनि ने वेद के उपर्युक्तभाव को सूत्र में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि—'मिथ्याज्ञान (अविद्या) ही दुःखस्वरूप बन्धन का कारण है। इसलिए मिथ्याज्ञान की ही निवृत्ति से अपवर्ग= मोक्ष होगा। क्योंकि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से दोष—राग-द्वेष नहीं रहेगा। राग-द्वेष के अभाव में कर्म के प्रवृत्ति नहीं होगी, प्रवृत्ति के अभाव में जन्म नहीं होगा और जन्म के अभाव में दुःख नहीं होगा। आत्यन्तिक दुःख से छूटना ही मुक्ति का स्वरूप है।'[3]

न्याय-वैशेषिक में बन्धनों की अन्यत्र गणना इस प्रकार की गयी है[4]—

१. ऋणानुबन्ध—पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण एवं देव-ऋण, ये जीवन के साथ ही आते हैं। इन तीनों ऋणों से उऋण हुए बिना मुक्ति नहीं हो सकती।

२. क्लेशानुबन्ध—सैकड़ों दोषों से युक्त मानव, जीवन में प्रयास करने पर भी दोषों को दूर नहीं कर पाता, अतः मुक्ति के लिए विचार करने का अवसर ही कहाँ?

---

१. **अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।**—यो० २।३

२. **अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिनोदाराणाम्।**—यो० २।४

३. **दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।**
—न्याय० १।१।२

४. **ऋणक्लेशप्रवृत्यनुबन्धादपवर्गाभावः।**—न्याय० ४।१।५६
एवं द्रष्टव्य—भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन, पृ० ११५

३. **प्रवृत्त्यनुबन्ध**—कर्म करने की जन्मजात प्रवृत्ति मनुष्य को क्षण-भर भी ठहरने नहीं देती। कर्म करते हुए फलासक्ति बन्धन का कार बनती है।

४. **कर्मफलानुबन्ध**—मानव को शुभाशुभ कर्म करके उनका शुभाशुभफल अवश्य भोगना पड़ता है। पूर्वकर्मों का भोग अन्य कर्मों की ओर प्रवृत्त करता है। इन्हें भोगने के लिए ही जन्म लेना अनिवार्य होकर बन्धन का हेतु है।

न्यायशास्त्र में आगत ऋणरूप-बन्धन वेद से ही लिया गया प्रतीत होता है, क्योंकि अथर्ववेद में ऋण को बन्धन स्वीकार किया गया है और ऋण से मुक्त होने की प्रार्थना की गयी है कि—'हे परमात्मन्! हम इस, उस और तृतीय लोक में ऋणरहित रहें। संसार में देवयान के पथिक हों चाहे पितृयान के, सर्वत्र ऋण-रहित होकर ही विचरें, जिससे कि हम मुक्ति के अधिकारी बन सकें।'[1]

तैत्तिरीय संहिता[2] के अनुसार उत्पन्न होनेवाला ब्राह्मण तीन ऋणों से ऋणवान् हो जाता है, वे हैं—ऋषि-ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण। अध्ययन-अध्यापन, स्वाध्याय-प्रवचन आदि से वह ऋषि-ऋण-से उऋण होता है; यज्ञादि शुभ कर्मों से वह देव-ऋण से उऋण हो सकता है तथा गृहस्थ में जाकर सन्तति-क्रम को चलाकर पितृ-ऋण से उऋण होता है। इस प्रकार तीनों ऋणों से उऋण होकर जीवनमुक्त होकर विचरे।[3]

दुष्टाचरण, असत्यभाषणादि दोषों को दूर करने के लिए वेद में स्थान-स्थान पर संकेत एवं प्रार्थनाएँ की गयी[4] हैं, अतः वेद की सम्मति में मिथ्याचार आदि दोष भी मानव को उत्कर्ष की ओर नहीं ले जाते, वे सभी बाधक ही हैं। कर्म की दृष्टि से सम्पूर्ण यजुर्वेद कर्म का सन्देश देता है तथा अन्त में, फलासक्त न होकर कर्म करने का उपदेश देना,

---

१. **अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।**
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥
—अथ० ६।११।३

२. तै० सं० ६।३।१०।५

३. यहाँ 'ब्राह्मण'-भाविनी संज्ञा अर्थात् सोद्देश्य संज्ञा है। द्रष्टव्य—अथ० ६।११७, ११८ [ऋणविमोचनम्]

४. **दुरितानि परासुव।**—यजु० ३०।३; **दुरिता**—यजु० २७।६; २६।५६; **दुरितात्**—यजु० ४।१५; २६।४७ इत्यादि।

वेद की आन्तरिक अनुभूति का ज्ञापक है। 'वेद कर्म को बन्धन का कारण स्वीकार करता है तथा निष्काम भावना से कार्य करने के द्वारा कर्म में लिप्त न होने को कहता है।'[1] मुक्ति का यही उत्तम मार्ग है क्योंकि जन्म लेकर सर्वथा कर्मरहित रहना असम्भव है।

वेद का कर्मफल-सिद्धान्त सुदृढ़ है कि—'आत्म-हनन करनेवाले, जड़ प्रकृति की उपासना करनेवाले तथा अविद्या आदि को प्रश्रय देनेवाले केवल मनुष्य बनकर ही जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ते वरन् निकृष्ट योनियों में जाकर, अविद्या-अन्धकार में जा गिरते हैं।'[2]

उक्त वैदिक विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय आर्ष-दर्शनों में जो बन्ध के स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया है वह वैदिक संहिताओं से ही सामञ्जस्य रखता है जिसकी विस्तार से समता दिखाना अप्रासंगिक है। यह अपने-आप में पृथक् शोध का विषय है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य है कि दर्शनों की नवीन विचारधारा की समता वैदिक सिद्धान्तों से नहीं की जा सकती, क्योंकि वे धारणाएँ निजमत या पन्थ को पूर्वाग्रह में रखकर संकलित की गयी हैं।

अज्ञानी के लक्षण

वेदों में अविद्या-अज्ञान से आवृत्त जनों को अज्ञानी कहा है। ऋग्वेद में अनेक लक्षण किये गये हैं कि—'संसार में सभी व्यक्ति समान सामर्थ्य के नहीं होते, कुछ तो वेदवाणी को देखते हुए भी नहीं देखते, कुछ सुनते हुए भी नहीं सुनते, वे अज्ञानी हैं। ऐसे अज्ञानी पुरुष, दुग्धरहित गौ के समान केवल छल-कपटयुक्त वाणी से व्यवहार करते हुए विचरण करते हैं और पण्डित होने का दम्भ करते हैं। ऐसे अज्ञानी जन सेवनीय सत्यमय वेदरूप सखा को नहीं अपना पाते, जिससे उनकी वाणी में सार नहीं रहता। वेद के अतिरिक्त जो कुछ भी वे सुनते हैं वह अयथार्थ ही सुनते हैं इसलिए वे सुकर्म के मार्ग को नहीं जानते। आँख और कानादि इन्द्रियों की दृष्टि से वे अन्य मित्रों जैसे समान दिखायी देते हैं परन्तु मानसिक तथा हार्दिक भावों की दृष्टि से वे पीछे होते हैं। ये अज्ञानी अपनी अज्ञानता में ही प्रसन्न रहते हैं, नवीन विद्वानों के साथ

---

१. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि···न कर्म लिप्यते नरे।**—यजु० ४०।२

२. **असुर्या नाम ते लोका।**—यजु० ४०।३; **अन्धन्तमः प्र विशन्ति**—४०।६।१०
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।—यजु० ४०।१२, १३

सत्संग भी नहीं करते, न लौकिक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, न वेद के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं, न यज्ञ ही करते हैं। ऐसे अविद्वान् वाणी की शिक्षा प्राप्त करके भी शारीरिक परिश्रम से जीवन-निर्वाह करते हैं।'[1] अतः अज्ञानी को सुख कहाँ ?

ज्ञानी-अज्ञानी की सामाजिक स्थिति

उक्त न्यूनताओंवाले मनुष्यों को ब्रह्मज्ञानी पुरुष नहीं अपना पाते क्योंकि उन्हें ज्ञान की पिपासा नहीं होती। ब्रह्मज्ञानी तो स्वयं कल्याण-कारक वेद-विद्या को अपने जीवन में अपनाकर समाज में भी उन सद्-गुणों के प्रसार के लिए विचरते हैं। ब्रह्मज्ञानी जिस किसी विद्वत्सभा में पहुँचते हैं, वे अपने वाक्चातुर्य से सभा को जीत लेते हैं। ऐसे सभा-विजयी विद्वान् की अन्य सभी प्रशंसा करते हुए उसे अपना मित्र बनाना चाहते हैं।'[2] इस सूक्त में अज्ञान की निन्दा एवं ज्ञान की प्रशंसा स्पष्ट रूप से दिखायी देती है। वेद मानवमात्र को इस प्रसंग से अज्ञान-निवृत्ति के लिए प्रेरित करता है।

अज्ञान-निवृत्ति का लाभ

उक्त विवेचन से हमें विदित होता है कि अज्ञान का फल अन्धकारयुक्त कष्टमय जीवन है जोकि बन्धन का मुख्य कारण है। अज्ञान-निवृत्ति ही मानव को संसार-बन्धन से मुक्त कराने में प्रमुख साधन है। विद्वान् के बिना उस परमात्मा को अज्ञानी नहीं जान सकता। उपनिषद् इस कथन को पुष्ट करती है कि—'वेदज्ञान से विहीन व्यक्ति उस महान् ब्रह्म को नहीं जान सकता।'[3] वेद ज्ञानी से तात्पर्य वेदों में प्रतिपादित ब्रह्म-ज्ञान को साक्षात् करनेवाले से है क्योंकि 'वेद, केवल मन्त्रों के कण्ठाग्र करने या पुस्तकों के ज्ञानमात्र का प्रबल विरोधी है, वह तो भारमात्र है। वेद तो उस अक्षर [अविनाशी] ब्रह्म को जानने के लिए विशेष

---

१. उत त्व पश्यन्न···। अधेन्वा चरति माययैष···। यस्तित्याज सचिविदं सखायं···। अक्षण्वन्त कर्णवन्त सखायः···। इमे ये नार्वाङ्न···।

—ऋग्० १०।७; ४-७, ६

२. हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु···। सर्वे नन्दन्ति यशसा गतेन सभासाहेन सख्या सखायः।—ऋग्० १०।७१।८, १०

३. नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।—तै० सं० ३।१२।६।७

प्रेरित करता है। वही ब्रह्मज्ञान अविद्या-अज्ञान का ध्वंस कर मोक्ष का जनक है।"[1] अतः ब्रह्मज्ञानी मोक्षप्राप्ति का सतत यत्न करें।

मोक्ष के पर्याय शब्द

वैदिक संहिताओं में साक्षात् 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ, परन्तु क्रियारूप में 'मोक्ष' का इतना सुन्दर प्रयोग हुआ है—**मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्** यह साहसपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वेद में मोक्ष का स्पष्टभाव नहीं है। यही मोक्ष पद क्रियारूप में [मुक्षीय] ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में एक-एक बार आया है। मोक्ष शब्द संज्ञारूप में उपनिषद् तथा दर्शनकालीन प्रतीत होता है। संहिताओं में मोक्षवाची 'अमृतत्त्व' का सर्वाधिक प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित शब्दों के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।

ऋग्वेद में 'अमृत' पद का प्रयोग सभी विभक्तियों में लगभग २०८ बार हुआ है, जोकि अमरण अर्थ का वाची तथा अन्य शक्तियों के साथ भी प्रयुक्त होता है, परन्तु मोक्षवाची 'अमृतत्व' पद का प्रयोग ऋग्वेद में लगभग २६ बार उपलब्ध होता है; यजुर्वेद में ८ बार, सामवेद में ५ बार, तथा अथर्ववेद में ७ बार प्रयोग मिलते हैं, परन्तु 'अमृत' शब्द ऋग्वेद के समान अन्यों में भी बहुत प्रयोग हुआ है। संहिताओं तथा अन्य शास्त्रों में प्रयुक्त मोक्षवाची पदों का परिज्ञान भी उपासकों को ज्ञातव्य है।

परमं पदम्[2] स्वर्हितम्[3] नाकः[4]
तृतीयधाम[5] केवलम्[6] स्वः[7]

संहिताओं के अतिरिक्त उपनिषद् एवं आध्यात्मिकशास्त्रों में ब्रह्मलोकः, आनन्दाः, अत्यन्तपुरुषार्थः, अपवर्गः, कैवल्यम्, हानम्, निःश्रेयस्, स्वर्गः,

---

१. **ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवाऽधि विश्वे निषेदुः।**
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥
—ऋग्० १।१६४।३९

२. ऋग्० १।२२।२०-२१
३. ऋग्० ९।११३।७
४. यजु० ३२।६
५. यजु० ३२।१०
६. अथ० १०।८।१
७. अथ० ४।११।६

शाश्वतंसुखम्, शाश्वतीशान्तिः, निवृत्तिः, मुक्तिः आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं।

मोक्ष की परिभाषा

ऋग्वेदीय मन्त्र के अनुसार—'सर्वोत्पादक सकल कल्याणसाधक परमात्मा योगयज्ञ-साधक निष्काम महात्माओं के लिए पहले सेवनीय सर्वोत्तम भाग 'मोक्ष' को प्रदान करता है, उनके सभी ओर से बन्धनों को खोल देता है और उन्हें मनुष्योचित अनुकूल वृत्तिवाले साधन देता है।"[1] इस प्रकार वैदिक मतानुसार 'सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होना ही मुक्ति है।'

यजुर्वेदीय मन्त्र में भी 'मृत्यु[2] के बन्धन से अथवा मर्त्यशरीर के बन्धन से छूट जाना ही मुक्ति है।' जैसे ककड़ी या खरबूजा पककर मधुरगुण धारण कर स्वतः अपने बन्धनरूप लता से छूट जाता है। एक अन्य मन्त्र में ब्रह्मज्ञान से प्राप्त मुक्ति से 'मृत्यु को लाँघ जाना' ही प्रतिपादित किया है।[3] अभिप्राय यह है कि 'ब्रह्मज्ञान के द्वारा जीवात्मा, प्रकृति एवं निजस्वरूप को जानकर, अविद्या के कारणों का विनाश करके, जन्म के हेतु कर्मफल के मूल को समाप्त कर लेता है तो जन्म-मरण-रूप बन्धन से परान्तकाल के लिए छूट जाता है एवं परमानन्द का उपभोग करता है, यही मुक्ति है।

जीवन-मुक्त के लक्षण

योगी परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों का निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। मुक्तिपद को प्राप्त होनेवाले उपासकों के गुण, कर्म, स्वभावों में अन्य साधारण मनुष्यों की अपेक्षा विलक्षणतायें आ

---

१. देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्।
आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः॥

—ऋग्० ४।५४।२ [स्वा० सं०]

२. उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।

—यजु० ३।६०; तै० सं० १।८।६।२

३. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।—यजु० ३१।१८

जाती हैं। वैदिक संहिताओं में उन लक्षणों का उल्लेख किया गया है यथा ऋग्वेद में—

'जो साधनापथ पर अग्रसर, मन और आत्मा से सद्गुणों को धारण करके निज मधुरवाणी के द्वारा अन्यों को शान्ति प्रदान करते हैं एवं शुभ कर्मों के द्वारा दूसरों को आप्लावित करते हैं। जो श्रेष्ठ योगियों का सत्संग करते हैं और उनके उत्तम कार्यों में सहायक बनते हैं। मन-वचन-कर्म से गति एवं प्रेरणा देते रहते हैं तथा निज आत्मा को सदैव परमात्मा में युक्त करनेवाले जीवनमुक्त होते हैं।'[1]

'जीवनमुक्त व्यक्ति मनुष्यमात्र को उत्तम शिक्षा देते हैं, निरालस्य होकर, पुरुषार्थी बनकर, सुयोग्य देवत्व-कोटि के उपासक बनकर मुक्ति-पद के अधिकारी होते हैं। ऐसे जीवनमुक्त उपासकों की कुशलकर्म करने की शक्ति कभी क्षीण नहीं होती; उनका शरीर सुडौल, तेजस्वी होता है। वे सुरम्य, शान्त, दिव्य स्थानों पर निवास करते हैं'।[2]

सामान्य उपासकों का कर्तव्य है कि श्रेष्ठ जीवनमुक्त व्यक्तियों से वेद के अनुसार कामना करें—'जो विद्वानों के बीच विद्वान्, यज्ञ करने के योग्य, विचारशीलों का संग करनेवाले हैं, अपने स्वभाव से जीवनमुक्त रहने और सत्य के जाननेवाले हैं, वे देवतुल्य आज हम लोगों के लिए बहुतों के द्वारा गुणगान किए गये विद्याबोध को देवें एवं हमारी साधना की रक्षा करें।'[3]

योगी की जीवनमुक्तावस्था को यजुर्वेद के एक मन्त्र में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—'जब योगी अत्यन्त पुरुषार्थ तथा तपस्या के कामों की वासनाओं को भी दग्ध कर देता है, तब उसके क्लेश उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे प्रदीप्त अग्नि में हवनीय पदार्थों के डालने

---

१. न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद् वाजी धुरि रासभस्य॥
—ऋग्० १।१६२।२१

२. नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥
—ऋग्० १०।६३।४

३. ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥
—ऋग्० ७।३५।१५

से सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रोगों के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। ऐसा योगी उस परमपिता परमात्मा की गोद में स्थिर हो जाता है। तब संसार के सब मनुष्य उस योगी की श्रद्धा से सेवादि करते हैं।'[1]

सामवेदीय मन्त्र के आधार पर जीवनमुक्त का लक्षण मिलता है कि—'सच्चा बल और सच्ची कर्मशक्ति को प्राप्त करके उपासक निर्भय हो, परमेश्वर के साथ संगति को प्राप्त हुआ, निश्चय से अच्छा दृष्टिगोचर होता है। संगति को प्राप्त हो जाने पर उपासक तथा परमात्मा समान रूप से आनन्दयुक्त हो जाते हैं और समान कान्तिवाले जैसे प्रतीत होते हैं।'[2]

कठोपनिषद् में जीवनमुक्तावस्था का लक्षण किया है कि—'जब मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको परमगति अर्थात् जीवन-मुक्ति कहते हैं।'[3]

जीवनमुक्त की चिन्तनशैली विशेष हो जाती है—'जरा-रहित अमर लोकों को पाकर, जीवनमुक्त होकर, जरायुक्त मनुष्य पृथिवी पर है, नाशवान् देह में हैं यह जानता हुआ तथा रूप, रमण और विलास के परिणामों का चिन्तन करता हुआ, अति लम्बे जीवन में कौन प्रसन्नता माने! ऐसे मुक्त आत्मा और विवेकी मनुष्य को लम्बी आयु की इच्छा नहीं होती।'[4] इस प्रकार मोक्षाभिलाषी वैदिक प्रमाणों से सम्मत अपने गुण-कर्म-स्वभाव को बनाता हुआ, जीवनमुक्ति को पाकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करता रहे।

मुक्ति का स्वरूप

मुक्ति का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने एक मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि—'जो परमेश्वर ने, वेद द्वारा दी

---

१. विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींꣳषि जुहुरे समिद्धे॥—यजु० १७।७५

२. इन्द्रेण सँ हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा।
मन्दू समानवर्चसा॥—साम० ८५०;
अन्यच्च द्रष्टव्य—तरत्समुद्रं पवमान।—साम० ८५७

३. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥—कठो० ६।१०

४. अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥—कठो० १।२८

गयी आज्ञा के अनुकूल चलते हैं, वे मोक्षसुख को प्राप्त होते हैं। जैसे सामान्यजन बन्धु या मित्र को प्राप्त होकर सहायता को पाते हैं वा प्यासे जन मीठे जल से पूर्ण कुएँ को प्राप्त होकर पूर्ण आनन्द को प्राप्त होते हैं।'[1] इसके अतिरिक्त अन्य मन्त्रों में भी मुक्ति का स्वरूप विस्तार से निरूपित है। यथा—

'जहाँ विद्वान् जन मुक्ति पाते हैं वहाँ कुछ भी अन्धकार नहीं है और वे मोक्ष को प्राप्त हुए प्रकाशमान होते हैं, वही आप्त विद्वानों का मुक्तिपद है।'[2]

'मोक्षानन्द का प्रत्यक्ष करनेवाला ऋषि मोक्ष का स्वरूप वर्णन करता हुआ परमात्मा से मोक्षानन्द की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है कि 'जिस मोक्ष में निरन्तर ज्योति का प्रकाश होता है तथा जिस ज्ञान में सुख-ही-सुख होता है, वह अमृत-अवस्था वृद्धि तथा क्षय से रहित है। हे सबको पवित्र करनेवाले परमात्मन्! वहाँ मुझे रखें और मुझ ज्ञानयोगी के लिए आप पूर्णाभिषेक का कारण बनें।'[3]

'जिस मोक्षावस्था में काल ही राजा है, जहाँ दिन-रात का वशीकरण है, जहाँ आध्यात्मिक ज्ञानों का बाहुल्य है, उस पद में मुझको अमृत बनाओ। हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप ज्ञानी योगी के लिए पूर्णाभिषेक के निमित्त बनें।'

'ज्ञानरूप मोक्षके आनन्दलोक में, जहाँ स्वेच्छानुसार विचरण होता है, जिसमें केवल ज्ञान का ही दर्शन है, वहाँ मुझको भी सुख का भागी करो।'

'जहाँ सब काम निष्काम किए जाते हैं और जहाँ ब्रह्मज्ञान का

---

१. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥
—ऋग्० १।१५४।५

२. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ —ऋग्० १।१५४।६

३. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
—ऋग्० ९।११३।७

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र मामृतं···। ८
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका···।—ऋग्० ९

सर्वोच्च पद है, जहाँ अमृत की प्राप्ति और उससे तृप्ति है, वहाँ मुझको मोक्षपद प्राप्त करायें।'[१]

'जहाँ आनन्द और हर्ष हैं और जहाँ आनन्दित और हर्षित मुक्त-पुरुष विराजमान होता है और जहाँ कामनावालों को सब इच्छा प्राप्त हैं वहाँ मुझको मोक्षसुख का भागी करें। हे परमात्मन्! आप ज्ञान-योगी के लिए पूर्णाभिषेक के निमित्त बनें।'[२]

आगामी सूक्त में मुक्तपुरुष के ऐश्वर्यों तथा मुक्तावस्था का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा गया है कि--'मुक्तपुरुष के लिए भूः भुवः, स्वः आदि सातों लोक नाना प्रकार के दिव्य प्रकाशोंवाले हो जाते हैं, और इन्द्रियों के सातों छिद्र प्राणों की गति द्वारा 'होता' तथा 'ऋत्विक्' हो जाते हैं। प्रकृति के महत्तत्त्वादि कार्य उसके लिए मंगलमय होते हैं। सूर्य सुखप्रद होता है। उक्त शक्तियों द्वारा मुक्तपुरुष प्रार्थना करता है कि--'हे सोम परमात्मन्! हमारी रक्षा कर।'[३]

परमात्मा के लिए मन्त्रों में 'तृतीयधामः' शब्द प्रयुक्त है। यजुर्वेद में 'तृतीयधाम' पद के द्वारा मोक्षस्वरूप—परमात्मा का स्वरूप—निरूपित किया गया है कि—'जिस जीव और प्रकृति से विलक्षण तीसरे धाम=आधारभूत जगदीश्वर में मोक्ष को प्राप्त करते हुए विद्वान् लोग सर्वत्र स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं।'[४]

वेदों में प्रतिपादित मोक्षस्वरूप का विवरण विशदरूप से मिलता है, यहाँ सामान्यतया से वर्णन किया है। उपनिषदों में भी वेदानुमोदित वर्णन किया गया है। यथा—छान्दोग्योपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मण में मोक्षप्राप्त जीव के सामर्थ्य का मनोरम दिग्दर्शन किया गया है—

'मोक्षावस्था में जीव का भौतिक संग नहीं रहता, सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण-सामर्थ्य सब उसके साथ रहते हैं, जिनके आधार पर

---

१. यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च तत्र तृप्तिश्च…।—ऋग्० ९।११३।१०

२. यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधी…।—ऋग्० ९।११३।११

३. सप्तदिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः।
देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभिः रक्ष न इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
—ऋग्० ९।११४।३

४. यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त।—यजु० ३२।१०

सुनना, स्पर्श करना, देखना, रस लेना, गन्ध लेना, सङ्कल्प-विकल्प करना, निश्चय करना, स्मरण करना तथा अहंकारादि जो भी संकल्प करता है, उसके अनुरूप सब इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण के द्वारा आनन्द-उपभोग कर लेता है।"[1]

'इसी प्रकार यह प्रसन्न आत्मा इस शरीर से निकलकर परमज्योति-परमधाम को प्राप्त करके अपने परमशुद्ध स्वरूप से प्रकट होता है। वह मुक्तात्मा उत्तम पुरुष है। आत्मा वहाँ मुक्ति में रहता है। मुक्त होकर वह स्त्रियों से, यानों से, बन्धुओं से हँसता हुआ और खेलता हुआ रमण करता है। जो शरीर में आत्मा था, उसके मित्रवर्ग को और भौतिक शरीर को स्मरण नहीं करता। जैसे रथ में जुड़ा हुआ घोड़ा होता है ऐसे ही आत्मा इस शरीर में जुड़ा हुआ है; मुक्त होकर ही इससे पृथक् होता है; अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को समझ लेता है।"[2]

मुक्ति के साधन

वैदिक संहिताओं में मोक्ष के उत्तम साधनों का उल्लेख अनेकों मन्त्रों में किया गया है। यहाँ प्रमुखरूप से उनका परिगणन अपेक्षित है। मुक्ति के साधनों का उल्लेख करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मुक्ति के स्वरूप का विवरण एक मन्त्र के प्रमाण से प्रस्तुत किया है कि—'ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न रहते हैं। जो परमेश्वर की सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं। उन्हीं के लिए भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं, अर्थात् उनके जो प्राण हैं, वे उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ानेवाले होते हैं और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को

---

१. **शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति।**

—शत० का० १४ [द्रष्टव्य—छा० उ० ८।१२।६-५]

२. **एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तमः पुरुषः। स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः॥**—छान्दो० ८।१२।३

पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं।'[1]

मन्त्र के अनुसार मुमुक्षु को योग्य है कि सदसद्-विवेक को प्राप्त करानेवाली ब्रह्मविद्या को प्राप्त करे तथा यम-नियमों के अनुसार ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् सर्वात्मना समर्पण की भावना को जागृत करे। ज्ञान की पराकाष्ठा से वैराग्य को उद्बुद्ध रखते हुए, आत्मादि के समर्पण से समाधि की सिद्धि प्राप्त करना, दोनों ही मोक्ष के प्रमुख साधन हैं।

प्रलय का ज्ञान

मोक्षार्थी को प्रलय का निश्चित, अनवरत ज्ञान रहने से भी मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। मन्त्र में कहा है—'जिस विज्ञानमय परमेश्वर में शोभन कर्मवाले जीव मोक्ष के सेवनयोग्य अंश को निरन्तर सन्मुख कहते अर्थात् प्रत्यक्ष करते हैं एवं जिस परमेश्वर में समग्र लोक-लोकान्तर का पालनेवाला स्वामी सूर्यमण्डल प्रवेश करता है अर्थात् सूर्यादि लोकलोकान्तर सब लय को प्राप्त होते हैं, जो इसको जानता है, वह [धीर] ध्यानवान् पुरुष इस परमेश्वर में परिपक्व व्यवहार-वाला होकर मुझको उपदेश देवे।'[2] इस मन्त्र में वर्णित प्रलयावस्था का चिन्तन मोक्षप्राप्ति में सहायक माना है।

सृष्टि का ज्ञान

प्रलय के साथ सृष्टि का ज्ञान भी मोक्षपद की प्राप्ति में परम सहायक बताया गया है—'जो लोग गायत्री छान्दोवाच्य वृत्ति में गाने-वालों की रक्षा करते हैं अथवा त्रिष्टुप् छान्दोवाच्य वृत्ति से त्रिष्टुप् में प्रसिद्ध हुए अर्थ को निरन्तर विस्तारते हैं अथवा जो संसार में प्राणी आदि जगत् जानने योग्य स्थित है, उसको जानते हैं, वे ही मोक्षभाव

---

१. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः॥
—ऋग्० १०।६२।१, द्रष्टव्य—ऋग्० भा० भू० मुक्ति विषय

२. यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
—ऋग्० १।१६४।२१

को प्राप्त होते हैं ।'[1]

मुमुक्षु को योग्य है कि सृष्टि के पदार्थ और उन पदार्थों में स्थित परमात्मा की रचना को जानकर एवं परमात्मा का सब ओर से ध्यान-कर, विद्या और धर्म की उन्नति करता हुआ मोक्ष प्राप्त करे।

अविद्या का विनाश एवं ज्ञानप्राप्ति

मनुष्य का परम शत्रु एकमात्र अज्ञान ही है। जो पुरुष अज्ञानरूपी शत्रु को नहीं जीतता, वह परमात्मज्ञान एवं आत्मज्ञान कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। अधिक क्या, पुरुष में पुरुषत्व यही है कि वह अज्ञान-रूपी शत्रु को जीतकर अभ्युदय और निःश्रेयसरूपी फलों को प्राप्त करे। वेदमन्त्रों में अज्ञान-निवारण की आवश्यकता बताते हुए विद्या-विज्ञान से अज्ञान निवारण की प्रेरणा दी गई है और परमेश्वर से अज्ञान-निवारण के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। यथा—

'हे सौम्यस्वभाव परमात्मन् ! हमारे ऊपर आक्रमण करनेवाले जो अज्ञानमय भाव हैं, उनका आप हनन करो। हे विद्या-विज्ञान से पवित्र करनेवाले पूर्णपुरुष ! हमारी, आप सब अवस्थाओं में अज्ञान से रक्षा करें।'[2] 'हे दिव्य धनों के स्वामी शक्तिशाली परमेश्वर ! विद्वान् जन आपको पालक कहते हैं, आप मुझे उत्तम कर्म में उत्साह दें जिससे मेरी बुद्धि कर्म करने में कुशल हो, आप दाता हैं अतः आप हमें सर्वविध ऐश्वर्ययुक्त करें।'[3]

इन्द्र=परमेश्वर के समीप जाना चाहनेवाले ज्ञान और कर्मरूप पंखों के सहारे पक्षियों के समान ऊँची-ऊँची उड़ान भरनेवाले मेधावी ऋषि विनम्र होकर प्रार्थना करते हैं—'हे इन्द्र ! अज्ञान के पर्दे हटा दो, हमारे नेत्रों को अपने तेज से परिपूर्ण कर दो, दिव्य दष्टि से भर दो

---

१. यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥
—ऋग्० १।१६४।२३

२. अवा कल्पेषु नः पुमंस्तमांसि सोम योध्या।
तानि पुनान जङ्घनः॥—ऋग्० ९।९।७

३. किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि।
अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः॥
—ऋग्० १०।४२।३

और जालबद्ध पक्षियों के समान हम उपासकों को बन्धन से मुक्त कर दो।'[1]

'हे परमेश्वर! आपने स्थिर चित्तवृत्तिवाले को मानसिक शक्ति रूपी धन दिया है। समाधि की अवस्थावाले में जो प्रज्ञालोक भर दिया है उन शक्तियों से परिपूर्ण मुझे भी कीजिए।'[2]

योगाभ्यास के लिए शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल की आवश्यकता होती है और योग विधियों तथा यौगिक क्रियाओं के ज्ञान की भी आवश्यकता है, अतः परमात्मा से बल और ज्ञान की प्रार्थना मन्त्रों में साधक ऋषि करते हैं कि—'हे बल और ज्ञान के भण्डार परमेश्वर! आपके ये दो रूप निश्चय से उपासना-यज्ञ के दो ऋत्विक् हैं। दोनों रूप योग बलों की प्राप्ति में तथा योग-सम्बन्धी क्रियाओं में मानो हमारा स्नान करा देते हैं। अतः आपसे प्रार्थना है कि हमें उपासनायज्ञ के स्वरूप का बोध करावें।'[3]

वेदज्ञ ऋषि जानते हैं कि 'योगाभ्यास के विना बुद्धि शुद्ध नहीं होती और बुद्धि के शुद्ध हुए विना वास्तविक धन और आत्मा की सिद्धि नहीं होती, इसीलिए यम-नियमों का पालन करते हुए संयम द्वारा अज्ञान-निवारण के लिए सद्बुद्धि की कामना करते हैं।'[4] उपासक शनैः-शनैः उपासना-काल में इस बुद्धि को ज्योतिरूप में अनुभव करते हुए कहते हैं कि—'द्युलोक की पुत्री अर्थात् उषा के समान वर्तमान ज्योतिष्मती आध्यात्मिक चित्तवृत्ति का मैंने प्रत्यक्षदर्शन कर लिया है। यह ज्योतिष्मती-चित्तवृत्ति आती हुई मेरे अज्ञानान्धकार को दूर कर रही है, यह मेरे मस्तिष्क से प्रकट हुई है, जो महाशक्ति है। इसने दिव्यचक्षु को प्राप्त कराके अज्ञानान्धकार के पर्दे को हटा दिया है और

१. वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्या३स्मान्निधयेव बद्धान्॥

—साम० ३१९

२. यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदा भर॥—सा० २०७; १०७२

३. यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु।
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्॥—साम० १०७३

४. क्रतूयन्ति क्षितयो योग उग्राऽऽशुषाणासो मिथो अर्णसातौ॥

—ऋग्० ४।२४।४ भावार्थः

मेरे अन्दर ज्योति पैदा कर दी है, यह ज्योति प्रियरूपा=ऋतरूपा है एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा का पूर्वरूप है।[1]

ज्ञानप्राप्ति के साधन

योगशिक्षक गुरु—'ज्ञानी गुरु ही ज्ञान को सिखा सकता है।' ज्ञानी गुरु के गुणों का वर्णन मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि—'ज्ञानी गुरु ज्ञानाभिलाषी शिष्य को ही विद्या सिखाये। गुरु क्रान्तदर्शी हो, शिष्य से दबनेवाला नहीं हो अर्थात् शिष्य पर पूर्ण प्रभाव रखे। नियमपालन करनेवाला हो, जिन गुणों का शिष्य में आधान करना चाहता है उनको स्वयं धारण करता हो। गुरु प्रियदर्शनशील (दर्शनीय) तथा सौम्य-स्वभाव हो। अभूतपूर्व अथवा नित्य-नवीन शिक्षा देकर ज्ञानवृद्धि की सामर्थ्य रखता हो।'[2] योग-जिज्ञासु शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु के दर्शन पैरों से करे, नित्यप्रति चरण-स्पर्श कर अभिवादन करे तथा गुरु की यौगिक क्रियाओं का ध्यान रखे। उनका अनुकरण करे। जैसा गुरु का आचार-व्यवहार है वैसा ही अपना बनावे। तभी तो औपनिषद् गुरु कहा करते थे कि 'जो हमारे अनिन्दनीय कर्म हैं, उनका तू सेवन कर, निन्दित कर्मों का नहीं। इस प्रकार गुरु अपने आचार-व्यवहार पर पूर्ण नियन्त्रण रखनेवाला हो।'[3] 'योगाभिलाषी जन-यथार्थ-वक्ता-सत्य-निष्ठ विद्वान् उपासक के साथ रहकर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को सिद्ध करनेवाली योगविद्या सीखे।'[4]

'योगशिक्षक गुरु आदित्य ब्रह्मचारी हो, सूर्य के समान अज्ञान-अन्धकार को निज योगविद्या के प्रताप से—दूर करने को समर्थ हो।

---

१. प्रत्यु अदर्श्यायत्यू३च्छन्ती दुहिता दिवः।
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी॥—साम० ३०३

२. कविं शशासुः कवयोऽदब्धा निधारयन्तो दुर्यास्वायोः।
अतस्त्वं दृश्याँ अग्न एतान् पड्भिः पश्येरद्भुताँ अर्य एवैः॥
—ऋग्० ४।२।१२

३. यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि॥
—तै० १।११।२

४. त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः। त्वया यज्ञं वि तन्वते॥
—ऋग्० ५।१३।४

विद्यादान में किसी प्रकार का भेदभाव न रखता हो, जितेन्द्रिय एवं गौ के समान उपकारी हो। शिष्यों पर पितृभावना से व्यवहार करनेवाला हो।'[१] योगगुरु का स्वभाव चन्द्रसम शीतल-शान्तिदायक हो। प्राणायाम आदि योगक्रियाओं का भली-भाँति ज्ञाता हो।[२] 'योग का शिक्षक मनोनिग्रह की विविध क्रियाओं से चित्तवृत्ति-निरोध कराने में सहायक हो। ब्रह्मवर्चस की छटा उसके शरीर में झलकती हो एवं समुज्ज्वल किरणों के समान शुद्ध-हृदय की पवित्र-भावना सबको प्रभावित करनेवाली हो।'[३]

इसप्रकार 'योगविद्या के द्वारा आत्म-परमात्म-साक्षात्कार करने में समर्थ, जीवनमुक्त योग-गुरुओं से उपासक उपासना के सब रहस्यों को जानकर अविद्या-अन्धकार को दूर करे। योग्य गुरु के द्वारा योग-साधना में शीघ्र सफलता मिलती है। वास्तव में ऐसे ही गुरु उपदेश करने के योग्य हैं।'[४] वेद में अन्यत्र भी मेधावी तथा योगशिक्षक गुरुओं का निरूपण किया गया है।[५] साधक अधिक जानकारी वैदिक-स्वाध्याय से प्राप्त कर लें, यहाँ संक्षेप में परिशीलन करके अविद्या-विनाश करनेवाले अन्य साधनों का अनुशीलन करेंगे।

'अविद्या-विनाश के लिए उपासक सत्य को मन, वचन, कर्म से धारण करें। ब्रह्म के सत्यस्वरूप को समझें तथा सत्य का निर्णय करनेवाली प्राचीन वाणी वेद-शास्त्रों तथा आप्तग्रन्थों का आश्रय लें। बुद्धि के द्वारा प्रकृति से लेकर परमात्मा तक के पदार्थों का कार्य-कारणरूप विश्लेषण करें।'[६]

---

१. अदेदिष्ट वृत्रहा गोपतिर्गा अन्तः कृष्णां अरुषैर्धामभिर्गात्।
प्र सूनृता दिशमान ऋतेन दुरश्च विश्वा अवृणोदप स्वाः॥
—ऋग्० ३।३१।२१

२. तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्याशत। पवमानस्य मरुतः॥
—साम० १२२६

३. एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः।—साम० १२७०

४. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
—यजु० ११।५

५. यजु० १७।७३; ऋग्० ४।३४।१-११; ७।३४।८

६. ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः॥—ऋग्० ५।१२।२

वेदों में ईश्वरप्रणिधान तथा धारणा-ध्यानादि साधनों से बुद्धि के परिष्कार का संकेत है। 'धारणा, ध्यान से पूर्व जप-तप तथा संयम की सम्पन्नता अविद्या विनाश में परम सहायक है।'[1]

अविद्या विनाश का फल

वैदिक ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर आत्म-परमात्म-साक्षात्कार से जो विवेक-बुद्धि उत्पन्न होती है तथा अविद्या का अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, इसका सुफल वेदों में प्रतिपादित किया गया है—

'आत्मज्ञानी—धीर पुरुषों का कहना है कि—'जो मनुष्य अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र; दुःख को सुख तथा जड़ में चेतनवत् व्यवहार करते हैं उसका फल दूसरा है और जैसे को तैसा (सत्य) जाननेवाला एवं तद्वत् व्यवहार करनेवाला अन्य फल को प्राप्त करता है।'[2] इन दोनों पक्षों का फल क्या है? उसका निराकरण इससे पूर्वऋचा में किया गया है कि—'जो पुरुष अविद्या अर्थात् ज्ञानादि गुणों से रहित कार्यकारणरूप परमेश्वर से भिन्न जड़वस्तु की उपासना करते हैं वे ज्ञानदृष्टि को ढकनेवाले गाढ़ अज्ञान में प्रविष्ट होते हैं और जो अपने-आपको पण्डित माननेवाले शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को जानने मात्र तथा अवैदिक आचरण में रमण करते हैं, वे निश्चय से कहीं अधिक अज्ञान में प्रविष्ट होते हैं।'[3] अतः चेतन ब्रह्म की उपासना करना ही योग्य है। साधना के द्वारा 'जो विद्वान् विद्या और उसके उपासाधन तथा अविद्या और उसके उपसाधनों को सम्यक् प्रकार से साथ-साथ जानता है, वह शरीर आदि जड़ पदार्थों के द्वारा किए पुरुषार्थ से प्राण-त्याग में होनेवाले दुःख के भय को पार करके आत्मा और शुद्ध-अन्तःकरण से अविनाशी आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।'[4]

'यथार्थज्ञान=विद्या के प्राप्त हो जाने पर साधक परमात्मा का आदेश प्राप्त करने को समर्थ होता है, उससे प्रेरणा प्राप्त करता है और

---

१. कृत्वा शुक्रेभिरक्षभिर्ऋणोरप व्रजं दिवः।—ऋग्० ६।१०२।८

२. अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥—यजु० ४०।१३

३. अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँरताः॥—४०।१२

४. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।—यजु० ४०।१४

अन्तर्यामी समझकर पापवृत्ति से बच जाता है ।'[1] 'सब प्रकार का सहयोग प्राप्त करता है परन्तु अविद्याग्रस्त इन प्राप्तियों से वंचित करता है, क्योंकि परमात्मा ही उपासना के माध्यम से उपासक के आसुरी भावों को एवं पापों की बुद्धिको नष्ट कर, पञ्चपर्वा—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश तथा इनके परिणाम जाति, आयु, एवं भोग को समाप्त कर देता है ।'[2]

'उपासक जब इस भक्तिरस की धारा में विभोर हो जाता है तब इन्द्र=परमेश्वर उपासक के अविद्यारूपी ग्राह का पूर्णरूप से निग्रह करता है, जो अविद्यारूपी ग्राह सुवर्ण-सदृश उपासक को लोभायमान कर रहा था । परमात्मा इस ग्राह के हनन के निमित्त शक्तिशाली वज्र धारण करता है, इस प्रकार शारीरिक रसों और प्राणों में छिपी अविद्या पर उपासक विजय पाता है ।'[3]

'सूर्य जिस प्रकार उदित होकर अन्धकार को दूर करता है वैसे ही उपासक ईश्वरोपासना से अविद्या को दूर भगा देते हैं अर्थात् परमात्मा ही शक्ति प्रदान कर अविद्या-विनाश का हेतु है ।'[4] उपासक को यह दृढ़ निश्चय कराते हुए वेद में विधान है कि—

'परमेश्वर प्रज्ञा-रहित उपासक के लिए योगज-प्रज्ञा को प्रकट करता हुआ तथा योग-सम्बन्धी रूप से रहित उपासक के लिए नये योग-सम्बन्धी रूप को प्रकट करता हुआ, उषाकाल में सम्यक् प्रकट हो जाता है ।'[5] इस प्रकार अविद्या का विनाश मोक्षप्राप्ति का प्रमुख साधन है ।

---

१. मा न इन्द्राभ्या३दिशः सूरो अक्तुष्वा यमत् । त्वा युजा वनेम तत् ॥
—साम० १२८

२. अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥—साम० ६१२

३. अस्येदिन्द्रो मदेष्वा ग्राभं गृभ्णाति सानसिम् ।
वज्रं च वृष्णं भरत्समप्सुजित् ॥—साम० ६९६

४. आ चष्ट आसां पाथो नदीनां वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः ॥—ऋग्० ७।३४।१०
पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत् । कृष्णा तमांसि जङ्घनत् ॥
—ऋग्० ९।६६।२४

५. केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥
—साम० १४७०

पवित्रान्तःकरण से मुक्ति

अविद्या-अज्ञान के हट जाने पर तथा योगाभ्यास से अन्तःकरण-चतुष्टय की पवित्रता, मुक्ति-प्राप्ति में परम सहायक है। इसकी पुष्टि एक ऋचा से की गयी है कि 'हे सबको पवित्र करनेवाले परमात्मन्! बुद्धि से धारण किए हुए आप हृदयरूपी स्थान में सदुपदेश करते हुए और अपने अपहृत-पाप्मादि धर्मों द्वारा कर्म्मयोगी-विद्वान् के हृदय में आकर प्रवेश कीजिए।'[1] तात्पर्य यह है कि अपहृत-पाप्मादि परमात्मा के गुणों को वही पुरुष धारण कर सकता है जो योग-साधनादि द्वारा संस्कृत की हुई बुद्धि के साथ परमात्मा का ध्यान करता है। इसी अभिप्राय से कठोपनिषद् में कहा गया है कि—

'सब प्राणियों में छिपा हुआ यह परमात्मा सामान्यतया नहीं जाना जाता, प्रकाशित नहीं होता, परन्तु सूक्ष्मदर्शियों द्वारा तीव्र तथा सूक्ष्म बुद्धि से देखा जाता है।'[2] परमात्मा के साक्षात्कार से अज्ञान की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। उस समय योगी सद्रूप ब्रह्म के साथ सह-अवस्थान को प्राप्त होता है अर्थात् उस समय सद्रूप ब्रह्म से भिन्न और कुछ प्रतीत नहीं होता।

मोक्षार्थी विद्वान् यति के लिए वेद मुक्ति का प्रकार वर्णन करता है कि 'वेदवेत्ता संन्यासी वेदविषयक वाणी का वर्णन करता हुआ चित्त-वृत्ति-निरोध द्वारा सौम्यस्वरूप परमात्मा में मोक्ष नामक पूज्यपद का लाभ प्राप्त करता है, ऐसे उपासक के लिए परमात्मा अपने ज्ञान द्वारा पूर्णाभिषिक्त करता है।'[3]

परमात्मा मेधावी उपासकों की बुद्धि का विषय बनता है। एक ऋचा में प्रतिपादित है कि वेदरूप काव्यों का निर्माता वह परमात्मा अल्प प्रयत्न से ध्यानविषयी न होने के कारण दूरस्थ स्तुतियों द्वारा प्रसन्न होता हुआ, ज्ञानयोगियों की बुद्धि से साक्षात् किया गया, अपने

---

१. **पवमान धिया हितो३ऽभि योनिं कनिक्रदत्। धर्मणा वायुमा विश॥**
—ऋग्० ९।२५।२

२. **एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।**
दृश्यते त्वग्र्य्या बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥—कठ० ३।१२

३. **यत्र ब्रह्मा पवमान च्छन्दस्यां ३ वाचं वदन्।**
ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
—ऋग्० ९।११३।६

ब्रह्मानन्द की धारा से तृप्त करता है।'[1]

इस प्रकार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अन्तःकरण-चतुष्टय की पवित्रता मुमुक्षु को सतत अभ्यास तथा वैराग्य से प्राप्त होती है।

'जब मनुष्य इन्द्रियों की शुद्धि तथा परमात्मा में स्थिरतारूप धारणा को प्रमादरहित होकर करता है, तभी मोक्ष को प्राप्त करता है।' अतः उपासना-योग ही मुक्ति का साधन है। वेद की पुष्टि करता हुआ उपनिषद् का ऋषि स्पष्ट रूप से कहता है कि 'जब मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होकर शुद्ध हो जाता है, तभी वह अमृतत्व =मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है।[2]

योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश, इन पंचक्लेशों का निरूपण करते हुए समाधान करते हैं कि 'जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव सब बन्धनों से छूट के मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।'[3]

आगे मुक्ति-प्राप्ति का क्रम बताया है कि भूतों के पाँच रूपों में संयम करने से जैसे भूतजय होता है, 'वैसे ही इन्द्रियों के पाँच रूप, ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, और अर्थवत्त्व में संयम करने से इन्द्रिय-जय होता है। इन्द्रियजय से मन के समान वेगवाला हो जाना, देह के बिना इन्द्रियों का विषय-ग्रहण-सामर्थ्य और प्रधान [प्रकृति] जय, ये सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।'[4]

ग्राह्य और ग्रहण में संयम से सिद्धि प्राप्त करके ग्रहीता में संयम करता है तो 'बुद्धि और पुरुष के भेद का साक्षात्कार हो जानेवाले योगी को सब भावों-पदार्थों पर अधिष्ठातृत्व, स्वामित्व, प्रशासकत्व प्राप्त हो

---

१. मती जुष्टो धिया हितः सोमो हिन्वे परावति।
विप्रस्य धारया कविः॥—ऋग्० ९।४४।२

२. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययौ॥—कठ० ६।११
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥—वही १४

३. तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।—यो० २।२५

४. ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।—यो० ३।४७
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।—यो० ३।४८

जाता है, और सबका ज्ञाता हो जाता है।'[1] इन सिद्धियों को 'विशोका' नाम से कहा गया है। इस विवेकज्ञान में भी वैराग्य हो जाने पर दोषों के बीज का क्षय हो जाने पर मोक्ष हो जाता है।[2]

इन दिव्य विभूतियों की प्राप्ति हो जाने पर अनेक बार योगी पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं, उस दशा में अत्यन्त सतर्क रहना अपेक्षित है। इस भावना से सूत्रकार पतञ्जलि ने बताया है कि—'स्थानधारियों द्वारा सादर आमन्त्रित करने पर, योगी को सङ्ग=आसक्ति और स्मय=अभिमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे फिर अनिष्ट के प्रसंग की सम्भावना रहती है।'[3] इस अनिष्ट-प्रसंग से अपनी रक्षा करता हुआ, योगी विवेकजज्ञान को प्राप्त कर अन्त में 'बुद्धि, और पुरुष [आत्मा] के शुद्ध होने पर 'कैवल्य'=मोक्ष प्राप्त होता है।'[4]

उक्त विवेकजज्ञान की प्राप्त का प्रयास मुमुक्षुओं को नित्यप्रति अवश्य करते रहना चाहिए। वेदों में मुक्ति के अन्य साधनों का भी उल्लेख किया है जिनको सामान्यजन भी अपनाकर परमानन्द-प्राप्ति के भागी बन सकते हैं।

निष्कपटता से अध्ययन-अध्यापन

मोक्षदायक कर्मों के प्रसंग में ऋग्वेदीय ऋचा के आधार पर महर्षि दयानन्द ने प्रतिपादित किया है कि 'जो मनुष्य नर-देह धारण कर सत्पुरुषों का संग और धर्मानुकूल आचरण करते हैं वे सदैव सुखी रहते हैं अथवा जो विदुषी पण्डिता स्त्री, बालक, युवा तथा वृद्ध मनुष्यों तथा कन्या, युवती और बूढ़ी स्त्रियों को निष्कपटता से विद्या और उत्तम शिक्षा को निरन्तर प्राप्त कराते हैं, वे इस संसार में समग्र सुख को प्राप्त कर अन्तकाल में मोक्ष को प्राप्त होते हैं।'[5] अध्ययन-अध्यापन के साथ योगाभ्यास भी सतत आवश्यक है। वेद अमृतत्व की कामना-

---

१. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।
—यो० ३।४९

२. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।—यो० ३।५०

३. स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।—यो० ३।५१

४. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।—यो० ३।५५

५. नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो धृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥
—ऋग्० १।१२५।५

वालों को सुगम सोपान का निर्देश देता है कि 'मोक्षार्थी को बाल्यावस्था से ही सुन्दर शुद्ध संस्कार विद्यार्जन तथा योगाभ्यास करना चाहिए जिससे बुरे संस्कारों से बचकर धर्माचरण करता हुआ, मोक्ष के अनुकूल संस्कारों को परिपक्व कर सके।'[1]

व्रतपूर्वक तप

गत साधनों में कहीं-कहीं मोक्षार्थी को धर्माचरण का संकेत किया गया है परन्तु अथर्ववेद के मन्त्र में धर्माचरण का प्रयोग विशेष कृत्यों के साथ हुआ है। मोक्ष के उपाय बताते हुए कहा गया है कि 'धर्म के तप और व्रत से यशस्वी होते हुए सुकृत के लोक=मोक्ष को प्राप्त करें।'[2] मन्त्र में सुकृत का लोक' कहकर सुकर्मों को मुक्ति का साधन बताया है। तथापि स्पष्ट करने के लिए 'धर्मस्य तपसा व्रतेन' कहा है। धर्म का अर्थ स्वयं वेद ने स्पष्ट किया है कि—'मनुष्यों में उत्पन्न होकर, अत्यन्त दीप्तिमान् होकर तपस्या करता हुआ, इन्द्र=जीव जब विचरता है, तब वह 'धर्म' है। अर्थात् मनुष्य-योनि में आकर ज्ञान, वैराग्य और तप से युक्त जीव धर्म कहलाता है। **'धर्मस्य तपसा व्रतेन'** का अर्थ स्पष्ट यह हुआ कि 'तपस्वी, ज्ञानी, वैरागी जीव का व्रतपूर्वक तप।'

यहाँ तप के साथ व्रत विशेषण लगाने का विशेष प्रयोजन है। केवल तप तो दम्भ के लिए भी हो सकता है। जब तप व्रत के साथ, यमों के साथ हो, तब वह दम्भ नहीं हो सकता। विधिपूर्वक सेवित यम महाव्रत कहे जाते हैं। व्रत का भाव है जो नियमपूर्वक निरन्तर श्रद्धा से किया जाये। तप से अशुद्धि का नाश होता है और इन्द्रियों की सिद्धि होती है। इन्द्रियों की शुद्धि ही अन्त में मोक्षपद की प्राप्ति में सहायक बनती है।

आध्यात्मिक यज्ञ

गत प्रकरणों में यह प्रतिपादित किया गया है 'वेद-शास्त्रों में भौतिक यज्ञ की समता आध्यात्मिक यज्ञ से की गयी है। यह आध्यात्मिक यज्ञ

---

१. त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते।
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत् पित्रोरदीदेः॥—ऋग्० ६।७।४

२. येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥
—अथ० ४।११।६ [३०९ स्वा० सं०]

मुक्ति का मुख्य साधन है। अथर्ववेदीय मन्त्र में इस आध्यात्मिक यज्ञ का वर्णन करते हुए फल प्रदर्शित किया है।

साधना-क्रम में अग्रसर योगी बन्धनों का उच्छेद करता हुआ अन्त में इस निर्णय पर पहुँचता है कि अहं-(मैं)-मम=मेरा की वासना सबसे बड़ा बन्धन है, जिसमें हम सभी बँधे हैं। इस ज्ञान के होते ही साधक अहंता एवं ममतात्याग का अभ्यास करता है। इस त्याग का नाम योगदर्शन में अपरिग्रह बताया है। अपरिग्रह की भावना के परित्याग से या ममता के अभाव से अथवा अभिमानाभाव की दृढ़ता से जन्म के हेतु का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि यह हमारा मन बन्धन का, जन्म-मरण के चक्कर का प्रधान कारण है। मन का विलय होने से आत्मा इस बन्धन से छूट सकता है। अतः मन का त्याग—मन का यज्ञ करना चाहिए, तब मुक्ति मिलेगी। इसी तत्त्व को अपनाकर वेद ने कहा है—

'ज्ञानी लोग इस मारक मन को मारने का यत्न करते हैं। उनके यज्ञ का आरम्भ मन के त्याग से होता है।'[1] वे इस यज्ञ में मन को हवि बनाते हैं और फिर नचिकेता के शब्दों में कहने लगते हैं कि 'अनित्य द्रव्यों के द्वारा मैंने नित्य द्रव्यों को प्राप्त कर लिया है।'[2] इस त्यागमय यज्ञ में अनित्य, विनाशी, क्षणभंगुर पदार्थ लेकर नित्य, अविनाशी और शाश्वत पदार्थ मिलता है। इन विनाशी पदार्थों को तो वैसे ही चले जाना था, किन्तु अब साधकों के लिए कितनी अच्छी बात बन गई कि विनाशी पदार्थ यों ही नहीं चले गये। सोच-विचारकर उनका समर्पण किया है और हमें अविनाशी पदार्थ मिल गया, तभी तो हम साधक आनन्दविभोर होकर कह रहे हैं कि 'उस परम व्यापक जीवनाधार भगवान् में आनन्द मनायें और उसे सूर्य के उदयवत्, प्रचण्ड प्रकाश में देखें।' अर्थात् हम सदा उसके दर्शन करते रहें। भगवद्दर्शन, ज्ञानालोक में प्रभु-संगति ही भक्ति है। इसकी प्राप्ति यज्ञमय त्याग से होती है।

---

१. यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान्मनसा मर्त्येन।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य॥
—अथ० ७।५।३ (स्वा० सं० ५१)

२. ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।
—कठ० २।१०

ब्रह्म-ज्ञान

वेदादि शास्त्रों का ज्ञान एवं योग के साधनों का अनुष्ठान ब्रह्मज्ञान के लिए आवश्यक है। ब्रह्म-ज्ञान मुक्ति का परम साधन है। अथर्ववेदीय मन्त्र में प्रतिपादन है कि 'सत्य के प्रथम प्रवर्तक प्रजापति ने अपने तप से जिस ज्ञानरूपी ओदन को जीव के लिए, मुक्ति के लिए पकाया और जो लोगों का विशेष धारणकर्ता, जो सबका मध्य है, उसके पकाये हुए ज्ञानरूपी चावलों से मृत्यु के पार होता हूँ।'[1]

ब्रह्मज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। यजुर्वेद (३१।१८) ब्रह्मज्ञानी के द्वारा इसका प्रबल समर्थन करता है कि और कोई मार्ग ही नहीं, अर्थात् 'जो अविद्या-अन्धकार से परे, सूर्य के समान तेजस्वी=ज्ञानवान् महान् पुरुष है, उसको मैं जानता हूँ। उसको जानने से ही मृत्यु के पार हो सकता है। मृत्यु दूर करने का और कोई मार्ग नहीं है।'

शम, दम आदि गुणों का धारण

योगी शम, दम, तितिक्षा आदि श्रेष्ठ गुणों को अपने अन्दर धारण करके तथा अन्यों के अन्दर भी इस विषय का प्रचार करता हुआ, मोक्षानुगामी बनता है। यजुर्वेद एक मन्त्र के द्वारा योगी को शम-दम आदि के लिए प्रेरणा देता है—

पहले एक मन्त्र में उपमालंकार के द्वारा कहा गया है कि 'हे योगी! जैसे शम आदि गुणों से युक्त पुरुष योगबल से विद्याबल को उन्नत कर सकता है और अविद्या अन्धकार के दल को नष्ट करनेवाली योगविद्या पुरुषों को प्राप्त होकर यथार्थ सुख देती है वैसे तुझे भी सुख प्रदान करे।'[2] इस योगविद्या का फल आगे मन्त्र में बताया है कि 'शम-दम आदि गुणों का आधार, योगाभ्यास में रत योगी अपने योगविद्या के प्रचार से जिज्ञासुओं के आतमबल को बढ़ाता हुआ सर्वथा सूर्य के समान प्रकाशमान होता है।'[3]

---

१. **यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्।**
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥
—अथ० ४।३५।१ —अत्र ब्रह्म=मुक्तिः [न्यायभाष्य १।१।२]

२. **तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा।**—यजु० ७।१२

३. **सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्।**
संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्ड
शुक्रस्याधिष्ठानमसि॥—यजु० ७।१३

इसका आशय यह है कि जब योगी यम-नियमों का पूर्णतः पालन करता है और अभ्यास के बल से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश, इन पंचक्लेशों को समाप्त कर देता है जिसके फलस्वरूप शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, इस षटक् सम्पत्ति को प्राप्त करके मोक्षमार्ग का सच्चा पथिक होता है।

आत्मसमर्पण एवं निष्काम जनसेवा

विवेकबुद्धि प्राप्त कर उपासक सदैव आत्मसमर्पण की स्थिति में विचरता है तथा निष्काम होकर जनसेवा में तत्पर रहता है तो वह परमात्मा के कार्यों की सहायता करता हुआ मोक्ष का भागी होता है। इस विषय का स्पष्टीकरण सामवेद में किया गया है कि—'हे सैकड़ों कर्मोंवाले प्रभो ! स्ताओं की सेवाओं या स्तुतियों और उनके अभीष्ट मोक्ष को अपनी शक्तियों द्वारा जब आप परस्पर सम्बद्ध कर देते हैं, जैसेकि धुरी, रथ के चक्रों को परस्पर सम्बद्ध कर देती है—तब आप अपने स्वरूप के साथ स्तोताओं की आत्माओं को सम्बद्ध करते हैं।'[1]

इस मन्त्र में जनसेवा और मोक्ष में कार्यकारणभाव सूचित किया है। जनता जनार्दन की निष्काम सेवा कारण है—मोक्ष इस सेवा का अन्तिम फल है—परमेश्वरीय आत्मा का स्तोताओं की आत्माओं के साथ मेल। यही मोक्ष है।

आत्मसमर्पक, निष्काम सेवी उपासक को निश्चित ही मोक्षपद प्राप्त होता है। अन्य एक मन्त्र में किया गया प्रतिपादन भी सेवनीय है। 'सबके दाता, हिंसा रहित यज्ञिय कर्मों के ज्ञाता तथा ज्ञापक संसार-भार का वहन करनेवाले उस परमेश्वर को, दिव्य उपासक अपना लेते हैं, अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। प्रकाशस्वरूप, ज्ञानमय जगन्नेता सेवावृत्तिवाले आत्मसमर्पक उपासक के लिए उत्तम सामर्थ्य देनेवाले मोक्षरूपी रत्न धारण करता है।'[2]

---

१. आ यद् दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम्।
ऋणोरक्षं न शचीभिः॥

—साम० १०८६ द्रष्टव्य सा० आ० भा० टिप्पणी

२. तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत।
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे॥—साम० १५१४

इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि मोक्षपद की प्राप्ति के लिए केवल कर्म ही पर्याप्त नहीं है। वैदिक मान्यता है कि—

'जो जीव क्रियामात्र करता है इससे वह अपने रूप को नहीं जानता है; जो समस्त क्रिया को देखता और अपने रूप को जानता है, वह इससे अलग होता हुआ, माता के गर्भाशय के बीच सब ओर से ढंका हुआ, बहुत बार जन्म लेनेवाला भूमि को ही प्रवेश करता है अर्थात् जो जीव कर्ममात्र करते हुए उपासना और ज्ञान को नहीं प्राप्त होते वे अपने स्वरूप को भी नहीं जानते। अतः ज्ञान, कर्म, उपासना में निपुण व्यक्ति ही मोक्षाधिकारी होते हैं।'[1] इस प्रकार वैदिक संहिताओं में मोक्ष के अनेकविध साधनोपायों का उल्लेख मिलता है।

उक्त साधनों के अतिरिक्त मुमुक्षु को पंचकोश विवेक एवं उनका शुद्धिकरण-प्रकार ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में वर्णित रीति से जानकर अपनाना चाहिए। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्था तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा तुरीय शरीर इन सबसे जीवात्मा पृथक् है। योगी इनका समाधि आदि साधनों से विवेक प्राप्त करे। जीव इन सबका प्रेरक, सबका धारक, साक्षी तथा कर्त्ता एवं भोक्ता है। जीव के विना ये सब जड़ हैं। इनके सम्बन्ध से ही जीव पाप-पुण्यों का कर्ता तथा सुख-दुःखों का भोक्ता है। बुरे कार्य के समय भय, शंका, लज्जा का उत्पन्न होना तथा अच्छे कार्य में भीतर से आनन्द, उत्साह और निर्भयता होने की जो ईश्वरीय शिक्षा है उसके अनुकूल आचरण करनेवाला ही मुक्ति-जन्य सुखों को प्राप्त होता है।[2]

षष्ठाध्याय में प्रतिपादित यम-नियमसहित योगाङ्गों का अनुष्ठान, सर्वविधवैराग्य अर्थात् इहलौकिक, पारलौकिक सुखों तथा उनके साधनों में राग न होना मोक्षार्थी के मुख्य कर्तव्य हैं। साथ ही विवेक से सत्या-सत्य को जानकर, उसमें सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का परित्याग करना विवेक है। जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर तक पदार्थों

---

१. **य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।**
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥

—ऋग्० १।१६४।३२

२. द्रष्टव्य—आर्षदर्शनों, उपनिषदों में प्रतिपादित मोक्ष के साधनों का उल्लेख एवं सत्य० प्र० नवम समुल्लास।

के गुण-कर्म-स्वभाव से जानकर, उसकी आज्ञा का पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्धाचरण न करना, सृष्टि से उपकार लेना विवेक कहलाता है।

इन साधनों के अतिरिक्त षट्सम्पत्ति का पालन करना यथा—

शम—अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में प्रवृत्त करना।

दम—श्रोत्रादि इन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना।

उपरति—दुष्टकर्म करनेवाले पुरुषों से सदा दूर रहना।

तितिक्षा—चाहे निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ कितना ही क्यों न हो परन्तु हर्ष-शोक को छोड़कर मुक्ति के साधनों में सदा लगे रहना।

श्रद्धा—जो वेदादि सत्यशास्त्र और उनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान् सत्योपदेष्टा, महाशयों के वचनों पर विश्वास रखना।

समाधान—चित्त की एकाग्रता आदि मुक्ति के साधन हैं। 'मुमुक्षत्व' अर्थात् जैसे क्षुधा-तृषातुर को अन्न-जल के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे ही विना मुक्ति के साधन और मुक्ति से अन्य कार्यों में प्रीति न होना। इन साधनों से युक्त मोक्ष का अधिकारी होता है।

अनुबन्धों का ज्ञान

प्रथम ब्रह्म के प्राप्तिरूप मुक्ति-प्रतिपाद्य द्वितीय वेदादि शास्त्र; प्रतिपादक को यथावत् समझकर अन्वित करना; तीसरा 'विषयी' सब शास्त्रों का प्रतिपादन-विषय ब्रह्म, उसकी प्राप्तिरूप विषयवाले पुरुष का नाम विषयी है; चतुर्थ 'प्रयोजन' सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्ति-सुख का होना, इन चार अनुबन्धों का ज्ञान तथा पालन करना। तदनन्तर—श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार के द्वारा जैसा पदार्थ का स्वरूप-गुण और स्वभाव हो, वैसा यथातथ्य जान लेना 'श्रवणचतुष्ट्य' कहलाते हैं। सदा तमोगुण अर्थात् क्रोध, मलीनता, आलस्य, प्रमाद आदि, रजोगुण अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग होकर सत्त्व अर्थात् शान्त-प्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचार आदि गुणों को धारण करे। मैत्री, करुणा आदि उपायों से मन को सदैव प्रसन्न रखता हुआ नित्यप्रति न्यून-से-न्यून दो घंटे पर्यन्त ध्यान अवश्य करे। इन सभी साधनों का

उपयोग श्रद्धा, उत्साह एवं धैर्यपूर्वक आजीवन करते रहने से मोक्षाभिलाषी परमानन्द का उपभोग करे।

मोक्ष का काल

वैदिक संहिताओं में आगत संख्यावाची पदों का तात्पर्य प्रदर्शित करते हुए, अपने शोधप्रबन्ध में डॉ० विश्वपाल वेदालंकार ने ऋग्वेदीय तीन मन्त्रों से मुक्तिकाल निर्धारण किया है। उन्होंने मन्त्रों की संगति इस प्रकार लगाई है—'इन तीन मन्त्रों में जीव के मोक्ष और पुनरागमन तथा सृष्टि की लय और उत्पत्ति का अनोखा चित्रण है।'[1]

सबसे पहले **चतुरः ग्रहान्** ग्रहों में मिलने से जो बने हैं, ऐसे चार युग से चतुर्युगी **आ द्वादशः छन्दांसि च दधता** १२ तक स्वच्छन्दता से बनती रहती है। प्रातःकाल एवं सन्ध्याकालों-सहित १२,००० दिव्य वर्ष होते हैं। इस १२ बारह को १२ हजार बनाने के लिए ८वें मन्त्र में 'सहस्रम्' आया है; फिर १२ सहस्र दिव्यवर्षों को 'सहस्रधा' १२,००,००,००० [बारह करोड़ दिव्यवर्ष] बनाने के लिए आया है। यही ब्रह्मा का एक दिन है, यही सृष्टि का प्रलयकाल है। इतने ही दिन की ब्राह्म-रात्रि होती है। सूर्यसिद्धान्त में आया है—

इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्रह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती॥

—अ० १; श्लो० ६०

वेद ने केवल दिव्यवर्ष ही नहीं बनाये अपितु मानवीय वर्षों की भी गणना की है। अथर्व० ८।२०।२१ में **शतं ते युग हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः** उस परम प्रकाश प्रभु ने सृष्टि की आयु ४,३२,००,००,००० [चार अरब बत्तीस करोड़] वर्ष की दी है। एक युग—कलियुग की आयु ४,३२,००० [चार लाख बत्तीस सहस्र] वर्ष,

---

१. षट् त्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम्।
यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति॥

—ऋग्० १०।११४।६

चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्र णयन्ति सप्त।
आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य॥ वही० ७
सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥ वही ८

द्वापर की, ८,६४,००० [आठ लाख चौंसठ सहस्र] वर्ष, त्रेता की १२,९६,००० [बारह लाख छ्यानवे सहस्र वर्ष] तथा सतयुग की आयु १७,२८,००० [सत्रह लाख अट्ठाईस सहस्र] वर्ष की होती है। इन चारों युगों की आयु ४३,२०,००० [तैंतालीस लाख बीस सहस्र] वर्ष की होती है। ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है। यहाँ सातवें मन्त्र में दिया है, उसके १४ महिमान विभूतियाँ हैं। ये चौदह विभूतियाँ १४ मन्वन्तर हैं। इस प्रकार एक मन्वन्तर की आयु ३०,६७,२०,००० [तीस करोड़ सरसठ लाख बीस सहस्र] वर्ष हुई। दो मन्वन्तरों के बीच में एक सतयुग के परिमाण की सन्धि होती है। इस ढंग से १४ मन्वन्तरों में १४ सन्धियाँ हुईं। परन्तु एक कल्प सृष्टि के आदि में भी एक सतयुग जितनी संधि होती है। इस ढंग से १४ मन्वन्तर और १५ सन्धियाँ हुईं। इन १५ सन्धियों के लिए ही अष्टम मन्त्र में **'पञ्चदशान्युक्था'** पद आया है। ज्योतिष के ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त के अनुसार—

संराधयंस्ते मन्यवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दशः।
कृतप्रमाणाः कल्पादौ संधि पञ्चदशः स्मृतः॥

—सूर्यसिद्धान्त १।१९

१४ मन्वन्तरों का समय ४,२९,४०,८०,००० [चार अरब, उनत्तीस करोड़, चालीस लाख, अस्सी सहस्र] वर्ष होता है। १५ सन्धियों का समय २,५९,२०,००० [दो करोड़, उनसठ लाख, बीस सहस्र वर्ष] होता है। कुल ४, ३२, ००, ००, ००० [चार अरब, बत्तीस करोड़] वर्ष की आयु सृष्टि की है। अष्टम मन्त्र में सहस्रधा पढ़कर वेद ने फिर सरल रूप से बता दिया है कि एक चतुर्युगी ४३,२०,००० सहस्रधा अर्थात् १००० = ४,३२,००,००,००० [चार अरब बत्तीस करोड़] वर्ष सृष्टि का काल है। इस प्रकार सृष्टि की आयु तीन प्रकार से बताई गयी है।

१. चतुर्युगी के १२ × सहस्रम् × सहस्रधा = दिव्य वर्ष।
२. चतुर्युगी ७१ × १४ मन्वन्तर + १५ सन्धियाँ = मानवी वर्ष।
३. चतुर्युगी × सहस्रधा = मानवी वर्ष।

अन्त में षट्त्रिंशान् [३६ संख्या] देकर बताया है कि—'हे धीर पुरुषार्थी योगिजनो! यदि तुम सप्त = ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और आत्मा के सहारे से जगन्नियन्ता की भक्ति करोगे तो उपर्युक्त वर्षों के ३६

सहस्र अहोरात्र तक तुम्हें मोक्ष मिलेगा, उक्त गणना के अनुसार जीव ३१ नील १० खर्ब ४० अरब मानवी वर्षपर्यन्त मोक्ष में रहता है।'

इतनी लम्बी कालावधि को ध्यान में रखते हुए मुक्ति से पुनरावृत्ति को जन्म-मरण के समान तथा पौराणिक स्वर्ग की कल्पना के समान नहीं कहा जा सकता। सांख्यदर्शन भी मुक्ति को अनन्त काल तक रहनेवाली नहीं कहता।[1] सांख्य के इस सूत्र पर भाष्यकार 'विज्ञानभिक्षु' लिखते हैं कि—'किसी भी पुरुष के बन्ध का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता।'[2]

इस शंका का समाधान इस वैदिक सिद्धान्त के मान लेने पर स्वतः हो जाता है कि जीव अल्पज्ञ, अल्पसामर्थ्यवान्, सीमित शक्तिवाला है। मुक्ति के साधन भी अनन्त नहीं हैं। बन्धन से विमुक्त होकर शनैः-शनै मुक्ति की स्थिति मिलती है। अतः सम्पूर्ण सीमित तथा आदि साधनों का फल अनन्त एवं अनादि नहीं हो सकता। महर्षि दयानन्द ने भी मुण्डकोपनिषद् के प्रमाण से परान्तकाल अर्थात् महाकल्प के पश्चात् मोक्षानन्द को प्राप्त कर लौटना माना है।[3] इसकी संख्या इस प्रकार है—'तेंतालीस लाख बीस हजार वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का परान्तकाल होता है। गणित के आधार पर परान्तकाल ३१,१०,४४,००,००,०००००० [इकत्तीस नील, दस खर्ब चालीस अरब] वर्ष होता है।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

उपनिषद्,[4] वेदान्त दर्शन[5] तथा गीता[6] में आगत वचनों के आधार पर नवीन वेदान्तियों आदि कतिपय सम्प्रदायों की मान्यता है कि मोक्ष होने के बाद आत्मा, ब्रह्म में मिल जाता है—ब्रह्मस्वरूप हो जाता है,

---

१. इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः।—सां० द० १।१५९

२. सर्वत्रकाले बन्धस्यात्यन्तोच्छेदः कस्यापि पुंसो नास्ति।

द्रष्टव्य—उक्त सूत्र पर विज्ञानभिक्षु भाष्य।

३. ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।—मुण्ड० ३।२।६

४. न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति।—छान्दो० ८।१५

५. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥—वेदान्त० ४।४।२२

६. यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥—गीता० १५।६

पुनः नहीं लौटता। वास्तव में इन वचनों का तात्पर्य यही है कि परान्त-काल अर्थात् महाकल्प-पर्यन्त मुक्त जीव ब्रह्म में स्वेच्छापूर्वक सर्वानन्दों का उपभोग करता हुआ रहता है, अपने शुद्ध स्वरूप से विनष्ट नहीं होता। स्वरूप का विनाश मानने पर जीवात्मा विनाशी हो जायेगा, जब कि इन्हीं शास्त्रों में जीवात्मा को अविनाशी, शुद्ध-पवित्र आदि गुणवाला बताया गया है। साथ ही जीव का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और मुक्ति के साधन परिमित—सान्त हैं, पुनः उनका फल अनन्त कैसे हो सकता है ? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं इसलिए अनन्त सुख नहीं भोग सकते। जिन कर्मों के साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। इन वचनों में 'प्रसज्य प्रतिषेध' नितान्त निषेध नहीं, परन्तु 'पर्युदास प्रतिषेध' साधारण निषेध है जिसका तात्पर्य हुआ कि जीवात्मा लम्बे समय तक अवधि के बीच में जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता।

वेदों में भी मुक्ति से पुनरावृत्ति का समर्थन मिलता है। परमेश्वर की सत्ता, शक्ति एवं सामर्थ्य का अनुस्मरण करते हुए वैदिक साधक प्रश्न करता है कि—'कौन ऐसा पदार्थ है जो सनातन अर्थात् अविनाशी पदार्थों में भी सनातन और अविनाशी है कि जिसके अत्यन्त उत्कर्षयुक्त नाम का स्मरण करें या जानें ? और कौन देव हम लोगों के लिए किस-किस हेतु से एक जन्म से दूसरे जन्म का सम्पादन करता है तथा अमृत वा आनन्द युक्त के करानेवाली मुक्ति को प्राप्त होकर भी फिर हम लोगों को माता-पिता से दूसरे जन्म में धारण करता है ?'[1] आगामी ऋचा में उक्त प्रश्न का उत्तर दिया है कि—

हम लोग जिस ज्ञानस्वरूप विनाश-धर्मरहित पदार्थ वा मोक्षप्राप्त जीवों में अनादि विस्तृत, अद्वितीय स्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करने वा संसार में सब पदार्थों के देनेवाले परमेश्वर के पवित्र गुणों का गान करना जानते हैं। वही हमको अनेक गुणवाली पृथिवी के बीच में फिर जन्म देता है, जिससे हम लोग फिर माता, पिता, स्त्री, बन्धु, पुत्र आदि को देखते हैं।'[2]

---

१. कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च॥ —ऋग्० १।२४।१

२. अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च॥—वही २

आगे दो मन्त्रों में परमेश्वर के गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है—'विद्या-विज्ञान से युक्त शुभ-कर्मशील पुरुष को वही परमात्मा मुक्त दशा में माता-पिता से तथा सब प्रकार के दुःखों से छुड़ाता है। पुनः आत्मा मुक्ति से महाकल्प के अन्त में संसार में आता है।'[1] मुक्त-जीव की ईश्वराधीन व्यवस्था को स्पष्ट करनेवाले मन्त्र के आशय को महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—'जो ज्ञानी, धर्मात्मा मनुष्य मोक्षपद को प्राप्त होते हैं उनका उस समय ईश्वर ही आधार है, जो जन्म हो गया वह पहला और जो मृत्यु वा मोक्ष होके होगा वह दूसरा, जो है वह तीसरा और जो विद्या वा आचार्य से होता है वह चौथा जन्म है। ये चार जन्म मिलकर जो मोक्ष के पश्चात् होता है, वह दूसरा जन्म है। इन दोनों जन्मों के धारण करने के लिए सब जीव प्रवृत्त हो रहे हैं। मोक्षपद से छूटकर संसार की प्राप्ति होती है, यह भी व्यवस्था ईश्वर के आधीन है।'[2] मोक्षविषयक ईश्वरीय व्यवस्था का परिचय अन्य मन्त्रों में भी इसी प्रकार वर्णित है।

ऋग्वेद १०।६२ के प्रथम चार मन्त्रों के अन्तिम पद 'प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधसः' का अर्थ—'लौटकर मनुष्य-शरीर धारण करो' स्पष्ट है। इन मन्त्रों में प्रयुक्त 'सुमेधसः' और 'अङ्गिरसः' शब्द बहुत विचारणीय एवं रहस्यमय हैं। ये मुक्ति-प्राप्ति से पूर्व तथा मुक्ति से लौटने के पश्चात् की अवस्था द्योतित करते हैं। चतुर्थ मन्त्र में प्रयुक्त 'देवपुत्र' शब्द से मुक्ति से लौटनेवालों को देवपुत्र='परमात्मा के पुत्र' कहा गया है। मुक्ति के साधनरूप में यहाँ दक्षिणा=कर्म को स्वीकार किया है, इस प्रकार मुक्ति से पुनरावृत्ति का यह प्रथम पक्ष है।[3]

द्वितीय पक्ष

मोक्ष से पुनरावृत्ति-विषयक उक्त परिशीलन में वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् तथा गीता के वचनों द्वारा विस्तार से यह प्रतिपादन किया है

---

१. त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्त्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये॥
—ऋग्० ३।३१।७

२. यन्नियानं···आवर्तनं निवर्तनं···अपि गोपा नि वर्तताम्॥
—ऋग्० १०।१९।४-५

३. द्रष्टव्य—मुक्ति से पुनरावृत्ति [स्वा० सं० २७३]

कि मुक्त जीव की परान्तकाल अर्थात् महाकल्प के पश्चात् इस निश्चित अवधि में मोक्ष से पुनरावृत्ति होती है। परन्तु द्वितीय पक्ष में उपनिषद् तथा गीता के अन्य वचनों से यह भी संशय होता है कि मुक्त जीव की पुनरावृत्ति नहीं होती। जैसे—उपनिषदें स्पष्ट कहती हैं—'जो विद्यापूर्वक परमेश्वर को जानकर श्रद्धा से उपासना करते हैं वे प्रकाशमय लोकों को प्राप्त हो पश्चात् ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, जहाँ से फिर वापिस नहीं आते।'[1] 'ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष को शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जाती है।'[2] इसी को गीता इस प्रकार कहती है कि 'मुझे प्राप्त होकर हे अर्जुन! पुनर्जन्म नहीं होता।'[3]

उभयपक्ष के प्रमाणों को प्रामाणिक मानकर विद्वानों के मस्तिष्क में यह विचार आना स्वाभाविक है कि उपनिषद् तथा दर्शनों में कुछ स्थल ऐसे हैं अवश्य जहाँ मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं मानी। 'न च पुनरावर्त्तते' तथा उक्त उपनिषदों के स्थलों को स्पष्ट करते हुए डॉ० वेदप्रकाश-गुप्त का कहना है कि 'ये मुक्ति से पुनरावृत्ति के विरोधी वाक्य नहीं हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में विषय इस प्रकार है, **'स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते'** अर्थात् जो इस प्रकार वर्तता है वह आयुपर्यन्त ब्रह्मलोक में रहता है तथा वापिस नहीं आता। इस स्थल पर 'यावदायुषम्' शब्द ब्रह्मलोक में मुक्त जीव के रहने की अवधि के लिए आया है।'[4] इस मन्त्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य जी भी कुछ इसी प्रकार कहते हैं। उनका कहना है कि 'अर्चिरादि मार्ग से कार्य-ब्रह्म के लोक को प्राप्त हो जबतक ब्रह्मलोक की स्थिति रहती है तबतक वह वहीं रहता है। उसका नाश होने से पूर्व वह नहीं लौटता।' ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मलोक [मुक्ति अवस्था में जहाँ जीव रहता है] की आयु को स्वयं शंकर भी मानते थे। हमारे विचार से यहाँ ब्रह्मलोक की आयु का प्रसंग ही नहीं उठता, क्योंकि ब्रह्म तो अनादि है तथा ब्रह्म में सम्पन्न होने को ही

---

१. तेषां न पुनरावृत्तिः।—वृह० ६।२।१५
   यस्माद् भूयो न जायते।—कठो० १।३।८
   तस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः।—प्रश्नो० १।१०
२. तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।—कठो० २।२।१२
३. मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।—गीता ८।१६
४. द्रष्टव्य—दयानन्द दर्शन [जीवात्मा] पृ० १६८

जीव द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति करना कहा है; इसमें ब्रह्मलोक सदैव वर्तमान रहता है। हाँ, जीव की मुक्ति की आयु समाप्त होने पर अवश्य उसकी ब्रह्मलोक से वापसी होती है। इसी से इस मन्त्र में 'यावदायुषं' शब्द मुक्ति की आयु के लिए आया है कि मुक्ति की अवधि-[आयु]-पर्यन्त मुक्त जीव वापिस नहीं आता।

शारीरिक सूत्र 'अनावृत्तिः शब्दात्' का अर्थ भी यहाँ यही है कि जिस प्रकार श्रुति अनावृत्ति का विधान करती है, उसी प्रकार सूत्रकार भी अनावृत्ति को मानता है अर्थात् श्रुति आयुपर्यन्त अनावृत्ति मानती है, अतः ब्रह्मसूत्र भी श्रुति-अनुकूल अनावृत्ति को मानते हैं। गीता का भाव भी इसी प्रकार परान्तकाल के मध्य में जन्म न होने से स्पष्ट हो जाता है।

न्याय एवं सांख्य-शास्त्र मोक्ष को दुःखों का अत्यन्ताभाव मानते हैं। इनके अनुसार मुक्तावस्था वह है जहाँ पर दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाये।[1] परन्तु 'अत्यन्त' शब्द के अर्थ पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् 'पूर्ण अभाव' को अत्यन्ताभाव मानते हैं, परन्तु महर्षि दयानन्द ने अत्यन्त शब्द को बहुत अर्थ का वाची माना है। उन्होंने लिखा है कि 'यह आवश्यक नहीं कि अत्यन्य शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे। बल्कि बहुत का भी हो सकता है।'[2] यहाँ स्वामी दयानन्द की मान्यता तर्कसंगत प्रतीत होती है, क्योंकि मुक्ति को अनन्तकाल तक रहनेवाली नहीं माना जा सकता है जिसका निराकरण अभी हम गत पृष्ठों में विस्तार से कर चुके हैं।

मुक्ति से पुनरावृत्ति के विषय में जैन दर्शन का आक्षेप है कि 'जिस प्रकार धान के ऊपर से छिलका उतर जाने के बाद शुद्ध चावल रह जाता है, तब उसमें उगने की शक्ति नहीं रहती है, उसी प्रकार कर्मबन्धन-रूपी मल हट जाने पर मुक्त हुआ जीवात्मा पुनः कभी बन्धन में नहीं फँस सकता है। अतः मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं होगी।'

इसके समाधान में आचार्य डॉ० श्रीराम आर्य ने लिखा है कि 'यह दृष्टान्त सही नहीं है; न तो चावल अनादि है, न उसका छिलका। दोनों

---

१. तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।—न्याय १।१।२२

अथ त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः।—सां० १।१

२. द्रष्टव्य—सत्य० प्र० नवम० समु० पृ० २२७

की उत्पत्ति एक-साथ होती है। पैदा होनेवाले होने से दोनों का सम्बन्ध भी सादि है। अतः पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। जीव कर्म करता है, उसका फल भोगता है। कुछ जन्मों में कर्मफल-भोग तथा संस्कार दोनों मिट जाते हैं। जीव उन कर्मों के संस्कार व फलों से शुद्ध हो जाता है। पुनः नये कर्म करता है और पुनः फल-भोग के बाद संस्कार मिट जाते हैं। इस प्रकार कर्मफल के संस्कार लगते व मिटते रहते हैं। यह प्रवाह से अनादि क्रम चला आता है। जीव का स्वभाव कर्म करने का है। वह आनन्द की खोज में प्रयत्नशील रहता है, अतः आनन्द-मोक्ष मिलने पर भोगता है। अल्पज्ञ जीव अल्प सामर्थ्यवान् होने से आनन्द का भोग भोगते-भोगते जब उकता जाता है तो पुनः सृष्टि में आकर कर्म करने की उसकी भावना होती है।

जैसे थका हुआ मनुष्य विश्राम करके थकान दूर करना चाहता है। खाटपर लेटकर वह सोता है। किन्तु कुछ समय के बाद मनुष्य खाट-पर पड़े-पड़े उकता जाता है और वह विवश होकर पुनः काम करने की इच्छा से उठ बैठता है। यदि उस समय उसकी मनोभावना के विपरीत हठात् उसे खाट पर पड़े रहने को विवश किया जाय, तो वही सुखमय सेज जो उसे स्वर्गिक सुखदायक थी, अब उसे भयानक दुःखदायी मालूम होने लगती है। ठीक वैसे ही मुक्त जीवात्मा जब उकता जाता है तो उसके बाद भी यदि उसे मोक्ष में रखा जावेगा तो वही मोक्ष उसके लिए कारागारवत् बन जायेगा। भेद इतना ही होगा कि यहाँ कारागार में मजदूरी करनी पड़ती है, वहाँ नहीं करनी पड़ेगी। अल्प सामर्थ्यवान् जीवात्मा का आनन्द-भोग का सामर्थ्य अनन्त नहीं हो सकता। अतः मोक्ष से पुनरावृत्ति का वैदिक सिद्धान्त सत्य है।"[1]

मुक्ति से पुनरावृत्ति के दोनों पक्षों का वैदिक परिप्रेक्ष्य में विशद परिशीलन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुक्ति से पुनरावृत्ति का सिद्धान्त ही पूर्ण वेदानुमोदित है, जो सर्वमान्य है। यह व्यवस्था परमेश्वराधीन मानना ही न्यायसंगत है, क्योंकि—

मुक्ति से पुनरावृत्ति की प्रार्थना

ऋग्वेदीय एक ऋचा में स्वयं मुक्त जीव परमात्मा से प्रार्थना करता है कि—'हे प्राणसंचालक प्रभो! हममें दर्शन-शक्ति फिर से धारण

१. द्रष्टव्य—ईश्वरसिद्धि—मोक्ष : पृ० १७७-१७८

कीजिए। हमें इस संसार में फिर से जीवनशक्ति तथा अभ्युदय-साधन व भोग दीजिये। हम उदय होते सूर्य को चिरकाल तक देखें। हे अनुमते! हमें सुख दीजिए एवं हमारा कल्याण कीजिए।"[1]

इस प्रकार मोक्षाभिलाषी उपासक का परमकर्तव्य हो जाता है कि वह वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करके, अविद्या-अज्ञान का निराकरण करके, श्रद्धामयी भावना से मोक्ष के सच्चे स्वरूप को जानकर तथा तदनुकूल आचरण करे एवं अपने लक्ष्य को प्राप्त करे। प्रस्तुत अध्याय में भी उपासक के लिए जो उपादेय सामग्री का संग्रह किया है, इस वर्णित विधि से जीवनपर्यन्त उपासना करने से उपासक निस्सन्देह सांसारिक सभी क्लेशों से छूटकर परमधाम मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, इसमें कोई संशय नहीं। यही जीवन का चरम लक्ष्य है। 'यदि ब्रह्म को जान लिया तो जीवन धन्य है, सार्थक है; यदि इस मानव-जीवन को धारण कर परमपद-प्राप्ति का प्रयास नहीं किया, ब्रह्म नहीं जाना, तो उपनिषद् के शब्दों में—'हे मनुष्य! तूने अपना महान् विनाश कर लिया, मानव-जन्म निष्फल गया। सभी भूत-प्राणियों में व्याप्त परमेश्वरीय सत्ता का चिन्तन करके धीरजन इस लोक से मरकर मुक्त हो जाते हैं।"[2]

योगाभिलाषी पाठकों की सुविधा के लिए वैदिक योग-पद्धति का संक्षिप्त संकेत प्रस्तुत है—

अभ्यास-विधि

प्राथमिक योगाभ्यासी प्रतिदिन शौच-स्नानादि से पवित्र होकर निश्चित समय, एकान्त-स्थान पर अपने अभ्यस्त एक आसन से योगाभ्यास के लिए बैठें। श्रद्धामय तीव्र अभिलाषा को उत्पन्न करते हुए 'विश्वानि-देव' तथा गायत्री आदि मन्त्रों से सार्थक भावनापूर्वक प्रार्थना करें।

---

१. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति॥
—ऋग्० १०।५९।६ (वेदा०)

२. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहा वेदीन्महति विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
—केन उ० २।५

मन में उस समय सभी कार्यों से अधिक महत्त्व साधना को दीजिए। शान्तभाव से परमेश्वर की व्यापकता का अनुभव करने के लिए प्रारम्भ में सामवेदीय उद्गीथ उपासना के अनुसार तीन बार लम्बे स्वर से ओ३म्···३ का उच्चारण कीजिए। ध्वनि के ऊपर मनोनिग्रह का प्रयत्न कीजिए। पुनः ५-७ भस्त्रा प्राणायाम से स्वर-प्रणाली को शुद्ध करके बाह्याभ्यन्तर प्राणायाम की ३ से ७ आवृत्ति करें, फिर नाड़ी-शोधन प्राणायाम, बायें नासिका-छिद्र से प्रारम्भ करें, श्वास को धीरे-धीरे अन्दर लेते हुए, श्वास पूरा होने पर बिना रोके शनैः-शनैः बाहर निकालें। मन को श्वास के साथ ही रखें। कम-से-कम तीन प्राणायाम करने पर स्तम्बवृत्ति प्राणायाम से श्वासगति स्थिर करके प्रत्याहार की अवस्था में सभी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाने का प्रयास करें। प्रत्याहार सफल होने पर मन को भ्रूमध्य में एकाग्र करके धीरे-धीरे हृदय में ले आइए। हृदय में मन से ओ३म् का जप अर्थ-चिन्तन-सहित प्रारम्भ कीजिए। मन जब कुछ समय स्थिर होने लगे तो वह धारणा की स्थिति है। धारणा कुछ समय तक रुकने लगे तो वह ध्यान की अवस्था होगी। यही अवस्था जब लगभग तीन घण्टे ३६ मिनट तक स्थिर बनी रहे तो समाधि की अवस्था समझें। शेष विस्तृत विवेचन ग्रन्थ में प्रकरण के अनुसार पढ़ें। अभ्यास में विशेष प्रगति के लिए योग्य गुरुओं के पास प्रशिक्षण प्राप्त करें।* □

---

* वर्ष में दो बार 'ध्यानयोगशिविर' योगधाम, ज्वालापुर, (हरिद्वार) में आयोजित किये जाते हैं। सम्पर्क करके प्रशिक्षण से लाभ प्राप्त करें।

उपसंहार

वेद अपौरुषेय हैं नित्य हैं एवं स्वतः प्रमाण हैं। वेद विश्व में व्यापक परम चैतन्य का आभामय शाब्दिक विग्रह हैं। वह देश तथा काल से अतीत हैं। वेद मानवमात्र के कल्याणकारक ज्ञानरत्नाकर हैं। विश्वगत व्यावहारिक ज्ञान के उपदेष्टा होने के साथ-साथ विश्व-नियन्ता अक्षर-ब्रह्म की परमानन्द अनुभूति कराने के सुगम सोपान एवं परा-अध्यात्म-विद्या के धनी हैं। वेद, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमज्योतिपुञ्ज प्रभु का ज्ञानवर्धक, उद्बोधक, कल्याणकारी मधुर उपदेश हैं। अभ्युदय-निःश्रेयस उभयपथ के प्रकाशस्तम्भ हैं।

अनन्त ज्ञाननिकर वेदराशि से निष्कासित यह 'योगविद्या' महनीय-महिमायुक्त प्रचण्ड-मार्तण्ड की एक लघु चिनगारी है।

इसके अन्तर्गत वैदिक-संस्कृति के सर्वोत्तम पक्ष मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के अमूल्य गूढ़तत्त्व निगूढ़ हैं।

इतर योनियों से मानव-शरीर सर्वोत्कृष्ट योनि है। पुराकृत्यों का भोग तथा आगामी कृत्यों को सुधारकर श्रेय पथानुगामी बनने की क्षमता इसी विग्रह में निग्रहीत है। योग-प्रासाद के उच्चतर शिखर पर आरूढ़ होने में यह स्थूल-शरीर सुगम सोपान है एवं भवताप-तापित उत्तुंग उर्मियों से परिपूरित संसार के पार जाने की यही दृढ़ नौका है। इसका वाह्य तथा आन्तरिक ज्ञान, रक्षण, अन्नमयकोश की विहित साधना विधि से सम्भव है। रथी=जीवात्मा के लिए मानवदेह-रूप रथ, परमप्रिय-परमसखा से मिलने का अनन्यतम साधन है। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, शौच, तप आदि संयम इसके रक्षक हैं।

मानव-शरीर की संरचना की दष्टि से प्राणों का शरीर की स्थिरता में सर्वाधिक सहयोग है। निखिल शरीर की चेतनाशक्ति के आधार ये प्राण ही हैं। प्राण ही शरीर की दृढ़ता, बलिष्ठता एवं नीरोगता

बनाये रखने के अपरिहार्य, अनिवार्य साधन हैं, एतदर्थ प्राणायाम आदि प्राणसाधना का ज्ञान एवं अभ्यास ही प्राणमयकोश के पोषक एवं शोधक हैं।

प्राण के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राण के निरुद्ध होते ही चित्तवृत्तियाँ स्वयमेव निरुद्ध हो जाती हैं। मनोनिग्रह की सफल साधना के लिए उषाकाल से पूर्व सर्वोत्तम समय है। साथ ही रुचिकर स्थान, तीव्र-वैराग्य, सात्त्विक भोजन तथा आत्मसमर्पण की प्रबल भावना बनाये रखना आवश्यक है।

मन के साथ बुद्धि का नियन्त्रण, संशोधन एवं सात्त्विक बुद्धि के लिए सात्त्विक, परिमित भोजन आवश्यक है। ओ३म् आदि पवित्र मन्त्रों का जप, आलस्यरहित होकर प्राणायाम, प्रत्याहार तथा धारणा का अभ्यास करना, एवं श्रद्धा-समन्वित होकर ज्ञानार्जन का सतत प्रयास करना विज्ञानमयकोश की साधना के लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। बुद्धि के समीपवर्ती आत्मतत्त्व का अन्वेषण उपासक का अन्तिम लक्ष्य है। उस आत्मतत्त्व के द्वारा आनन्दानुभूति करना ही मुख्य अभिप्रेत है। एतदर्थ उपासक हृदय-पुण्डरीक में आत्मतत्त्व को निहित जानकर समाधि आदि विशिष्ट साधनों से उपासना का मार्ग प्रशस्त करता हुआ आत्मदर्शन का लाभ प्राप्त कर लेता है। यही पंचकोश-शुद्धि का परिणाम तथा पंचकोशानुसारी साधना का उत्कृष्ट फल है। ग्रन्थ में पंचकोशानुसारी साधना-पद्धति का संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में परिज्ञान कराने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय मोक्षसाधन-प्रकार अष्टाङ्गयोग का सर्वाङ्गपूर्ण परिशीलन षष्ठाध्याय प्रस्तुत करता है। साधनामार्ग में सर्वप्रथम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच यमों का मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक रूप से परिपालन आवश्यक बताया है। यमों का परिपालन, साधना का मूल आधार है। समाज के साथ मधुर सम्बन्ध तथा सद्-व्यवहार के लिए यमों का साधना-क्रम में प्रमुख स्थान है। स्वान्तः-सुखाय नियमों का नित्यप्रति दैनिक जीवन में उपयोग करना परमावश्यक है। साधक के लिए मानसिक, वाचिक और शारीरिक पवित्रता नितान्त उपयोगी है। उसे परिश्रम करने से प्राप्त फल पर सन्तोष करना चाहिए। शीत, उष्णता, वर्षा एवं मान-अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय में सम रहना और तपस्वी जीवन व्यतीत करना चाहिए।

मोक्षशास्त्रों का स्वाध्याय तथा 'ओ३म्' का अधिकाधिक जप करना, सब-कुछ ईश्वरार्पण करते हुए सदैव निरभिमान होकर साधना में संलग्न रहना ही साधक के प्रमुख कर्तव्य हैं।

संसार की सेवा करता हुआ भी निर्लिप्त रहे, राग न रखे। संसार को बन्धन का हेतु मानता हुआ इससे मुक्त होने की अभिलाषा करता रहे। मोक्ष के लिए शास्त्रोक्त साधनों के परिपालन में कभी भी प्रमाद न करे, सदैव ब्रह्मज्ञान का रसास्वादन करता रहे। जीवनमुक्त के लक्षणों को धारण एवं संवर्धन करने से परान्तकाल तक मोक्षानन्द की प्राप्ति होती है जोकि मानव-जीवन का अन्तिम परम लक्ष्य है। इस प्रकार सृष्टि में अबाध गति से सर्वत्र परिभ्रमण करता हुआ आत्मा, परमानन्द की अनुभूति ३६ सहस्रवार सृष्टि-प्रलय के परान्तकाल तक करता है। मुक्ति-सुख से पुनः माता-पिता-आचार्यों के दर्शन की स्वाभाविक इच्छा पुनरावृत्ति का कारण है, पुनः इसी प्रकार परोपकारमय संयम से जीवन व्यतीत करके परमात्मा की उपासना-आराधना जीवनपर्यन्त करने में निमग्न रहे।

यही है वेदरूपी हिमशैल-शिखर से निःसृत योगचर्यामय सुर-सरिता, जिसके आसेवन से योगी-यति, ऋषि-महर्षि अपने जीवन की कालिमा व क्लान्ति को दूर कर निर्मलः निशान्त अवस्था में जीवनचर्या चलाते हैं।

ग्रन्थ का मूल्यांकन

अमूल्यज्ञान-निधि

वेद का महत्त्व किसी कल्याणाभिलाषी से तिरोहित नहीं है। उससे संकलित योगविद्या की बहुमूल्य रत्नमयी योगमाला धारक के लिए विशेष हितकारी है। वैदिक संहिताओं के निर्भ्रान्त यौगिक सिद्धान्तों को जो योगाभिलाषी अपनायेगा, निश्चित ही उसके जीवन में नवीन निखार आ जायगा। इसके विपरीत योगचर्या से विरहित नर, जीवन-संग्राम में सदैव असफल देखा गया है। यहाँ तक कि सांसारिक सुखों की प्राप्ति भी संयमी को ही होती है; असंयमी पदे-पदे दुःखसागर में डूबते हैं। ऐसे लोग पुरुषार्थहीन होकर भाग्य को दोष देते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के ब्रह्मचर्यप्रकरण में संयमविषयक पूर्णपरिशीलन प्रस्तुत किया गया है।

सांस्कृतिक मूल्यांकन

वही संस्कृति उत्कृष्ट मानी गयी है जो अपने अन्दर निहित साधनों से मानव का सर्वाङ्गीण विकास कर सके। इस सम्बन्ध में वेद का उद्घोष—'सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा'—नितान्त सत्य है कि 'वैदिक संस्कृति' ही विश्व की प्रथम एवं श्रेष्ठ संस्कृति है, जिसका मूलतत्त्व ब्रह्मविद्या अर्थात् योग-साधना है। इस प्रकार यह परिशीलन सांस्कृतिक महत्त्व के संवर्धन में सहायक है। शोध-प्रबन्ध का प्रथमाध्याय इसी विषय को स्पष्ट करता है।

सामाजिक मूल्यांकन

सामाजिक स्थिति तभी सुख और शान्तियुक्त होती है जब समाज का प्रत्येक नागरिक परस्पर प्रेम, सद्व्यवहार से युक्त, चरित्रवान् हो। अन्यों के कष्ट को अपने कष्ट के समान समझे। 'अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा'—ऐसे सभी अटल नियमों को समझने-समझाने के लिए योगतत्त्वों का परिज्ञान आवश्यक हो जाता है। अधिक सन्तानोत्पत्ति, काला बाजारी, झूठ-छल-कपट का व्यवहार, चोरी-व्यभिचार-हिंसा आदि दुष्कर्मों की प्रवृत्तियों को समाज से हटाने के लिए दण्ड-विधान तो बहुत सामान्यरूप से सहायक हैं, क्योंकि अपराधी जीवनपर्यन्त कारावास में रहकर भी अपराध से विमुख नहीं होते; उनकी मूल प्रवृत्तियों को बदलने में परम सहायक योगमय जीवनचर्या प्रमुख साधन है। अतः समाज में सुख और शान्ति का साम्राज्य यम-नियमों के पालन से सम्भव है। इस विषय के लिए ग्रन्थ के षष्ठाध्याय में अहिंसा आदि का प्रकरण चिन्तनीय एवं सेवनीय है।

पारिवारिक संगठन में योगदान

परिवार का प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे की उन्नति में हानि, लाभ, सुख, दुःख आदि में सहायक रहे तो परिवार स्वर्ग बन जाता है एवं इनके अभाव में दुःखविशेष-नरक बन जाता है। अहिंसा-सत्य आदि यम और शौच-सन्तोष आदि नियमों का पालन ऐसे गुण हैं जो पारिवारिक संगठन को दृढ़ करते हैं। महाभारत-कालपर्यन्त प्रत्येक गृहस्थ नित्य-कर्म में योगमय-जीवन व्यतीत करते थे, अतः पारिवारिक विघटन की सम्भावना कम रहती थी। वेद में 'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्' आदि मन्त्रों-

वाला सांमनस्यसूक्त—'भाई भाई से द्वेष न करे तथा बहन बहन से द्वेष न करे' आदि पारिवारिक जनों से विद्वेष की भावना को समाप्त करने का उपदेश देता है, जिसका क्रियात्मकरूप योगसाधन से ही भलीभाँति सफल होता है। इसलिए परिवार को संगठित रखने तथा प्रेमपूर्ण स्वर्ग बनाने में यह ग्रन्थ सहायक सिद्ध होगा।

राजनैतिक सफलता

किसी भी देश में सामान्य कर्मचारियों से लेकर प्रधान मन्त्री एवं राष्ट्रपति तक सभी जब राष्ट्र के रक्षक, संवर्धक, पालक होते हैं तो राष्ट्र-समृद्धि की योजना तथा रक्षा के कानून एवं उन्नति के साधन निरन्तर बढ़ते रहते हैं। जिस राष्ट्र के नेता और कर्मचारी धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, न्यायप्रिय, निष्पक्ष, जितेन्द्रिय, त्यागी, लोकोपकारी होते हैं वह राष्ट्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति शीघ्र कर लेता है। इसके विपरीत अधर्मी, असत्यवादी, असत्यकारी, असत्यमानी, अन्यायी, पक्षपाती, आचारभ्रष्ट, स्वार्थी तथा विलासी राजनेता या कर्मचारी होने से राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है। इसी को वेद ने संक्षेप में कहा है—**'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति'** (अथ० ११।५।१७) अर्थात् ब्रह्मचर्य तथा संयमरूपी तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है तथा जितेन्द्रिय, धर्मात्मा नेता या राजा ही प्रजा को वश में रख सकता है।

राष्ट्र-कार्यों में सहायक विशेष शक्ति सामर्थ्यों के लिए योगाभ्यास से प्राप्त विभूतियों का आश्रय लेकर शासन में पर्याप्त सुविधा हो सकती है। उपासना का फल निर्भयता, राजकार्यों में परम सहायक है। योगचर्या से प्राप्त निष्काम-भावना राजकार्यों तथा लोकोपकार में नितान्त उपयोगी है। इसीलिए वेद में योग की उत्कृष्ट साधना के उपरान्त लोकोपकार में उसका प्रयोग करने के सन्देश मिलते हैं। इसी प्रकार समाज तथा राष्ट्र के प्रत्येक नर-नारी के व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को समुन्नत बनाने में वैदिक योगतत्त्वों का यह परिशीलन उच्चतर भूमिका निभायेगा तथा अनेकों भ्रान्तियों को निर्भ्रान्त करता हुआ, वैदिक संस्कृति के उच्चादर्शों को स्थापित तथा परिवर्धित करेगा, ऐसी आशा है।

वेद अनन्त विद्या-विज्ञान के भण्डार होने के कारण इस सामान्य

प्रयास से उनका पार कैसे पाया जा सकता है ! योग के एक-एक तत्त्व को लेकर वेद का इतर साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन, चिन्तन किया जा सकता है। वेदों के रहस्यों को योग-प्रक्रिया से उद्घाटित करना आदि महान् कार्य हैं। शोध-परम्परा के नवीन विद्वान् शेष कार्य को पूर्ण करते हुए, वैदिक ज्योति को अधिक द्युतिमान् करते रहेंगे, इसी आशा से इस विषय को प्रभुकृपाभिलाषापूर्वक, दो पद्यों के साथ विराम देता हूँ।

निदानं कोशानामुदितमथशुद्धिश्च कथिता,
सहाङ्गैरष्टाभिर्विहितमिह योगद्वयमपि।
विभूतिर्योगस्य श्रुतिविहितमुक्तेश्चकरणम्,
यतेरन् भोगार्त्ताः परमपदमाप्तुं निशिदिवा॥

बुधजन-पदकञ्जेष्वर्पिता 'योगविद्या',
सुरतरुसुमनोभिर्गुम्फिता मालिकेव।
तदपि तव गुणानामीश ! पारं न यातम्,
विरमति मम सिद्धा लेखनी योगभूत्यै॥

□□□

मन्त्र-सूची

मन्त्रांश-सूची

श

स

ह

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ	लेखक/सम्पादक
अथर्ववेद पदानुक्रमणिका	विश्वेश्वरानन्द वैं० शो०
अथर्ववेद भाष्य	क्षेमकरण त्रिवेदी
अथर्ववेद भाषाभाष्य भाग १-२	पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
अथर्ववेद संहिता	सं० परोपकारिणी सभा
अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र	स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक
अभ्यास वैराग्य	,, ,,
अमृतोपनिषद्	अज्ञात
अमृतनादोपनिषद्	अज्ञात
अष्टाध्यायी	महर्षि पाणिनि
आत्मविज्ञान	स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती
आर्याभिविनय	स्वामी दयानन्द सरस्वती
ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषत् संग्रह	अज्ञात
उणादिकोष	स्वामी दयानन्द सरस्वती
उरुज्योति	वासुदेवशरण अग्रवाल
ऋग्वेद संहिता	दामोदर सातवलेकर
ऋग्वेद हिन्दी भाष्य	स्वामी दयानन्द सरस्वती
ऋग्वेद भाषाभाष्य भाग २-३	स्वामी दयानन्द सरस्वती
,, ,, भाग ४ मं० ७-८	आर्यमुनि, शिवशंकर काव्यतीर्थ
,, ,, ,, ,,	हरिश्चन्द्र विद्यालंकार
,, ,, ,, मं० ९-१०	,, ,,
ऋग्वेद भाष्यम् भाग १-९	स्वामी दयानन्द सरस्वती
ऋग्वेद भाष्य भाग १०	,, ब्रह्ममुनि परिव्राजक
एकादशोपनिषत्संग्रह	स्वामी सत्यानन्द
कल्याण (योगांक)	हनुमानप्रसाद पोद्दार
गुरुकुल पत्रिका (वेदयोगांक)	भगवद्दत्त वेदालंकार

धातुपाठ	पाणिनिमुनिकृत
ध्यानबिन्दूपनिषद्	अज्ञात
निघण्टु	स्वामी दयानन्द
निरुक्त	पं० भगवद्दत्त
न्यायदर्शन	पद्मप्रसाद शास्त्री/हरिराम शुक्ल
पातंजल योगदर्शन	स्वामी विज्ञानाश्रम
पातंजल योगदर्शन	उदयवीर शास्त्री
पातंजल योगसाधना	स्वामी सच्चिदानन्द योगी
पारस्कर गृह्यसूत्र	डॉ० हरिदत्त शास्त्री
ब्रह्मविज्ञान	स्वामी० योगेश्वरानन्द सरस्वती
भारतीय संस्कृति का विकास — वैदिक धारा	डॉ० मंगलदेव शास्त्री
भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन	डॉ० अशोककुमार लाड
मनुस्मृति	स्वामी तुलसीराम
मनुस्मृति	पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार
मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प	स्वामी आत्मानन्द सरस्वती
यजुर्वेद संहिता	परोपकारिणी सभा
यजुर्वेदभाष्य भास्कर, भाग १-४	स्वामी दयानन्द सरस्वती/सुदर्शनदेव आचार्य
यजुर्वेद पदानुक्रमणिका	विश्वेश्वरानन्द
विश्वज्योति (योगांक)	सन्तराम बी० ए०
वेदविद्या निदर्शन	पं० भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर
वेदामृत	स्वामी वेदानन्द (दयानन्द तीर्थ)
वैदिक योगसूत्र	पं० हरिशंकर जोशी
सत्यार्थप्रकाश	स्वामी दयानन्द सरस्वती
सत्यार्थप्रकाश	स्वामी दयानन्द (सं० भगवद्दत्त)
सांख्यदर्शनम्	स्वामी तुलसीराम
सांख्यदर्शन	स्वामी ब्रह्ममुनि
सामवेद पदानुक्रमणिका	विश्वेश्वरानन्द
सामवेद अध्यात्मभाष्य	पं० विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड
सामवेद संहिता	परोपकारिणी सभा
स्वाध्यायसन्दीप	वेदानन्द तीर्थ
स्वाध्याय सन्दोह	" "
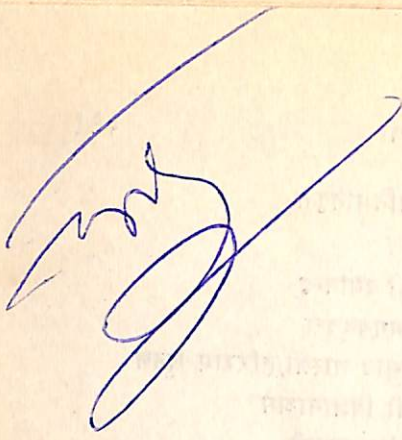
सहायकग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ	सम्पादक/लेखक
अथर्ववेदभाष्य	दामोदर सातवलेकर
अथर्ववेद भाषाभाष्य	पं० जयदेव शर्मा
अथर्ववेद भाग १-२	सायणाचार्य
आख्यातिक	स्वामी दयानन्द सरस्वती
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	आपस्तम्बऋषिकृत
आश्वलायन गृह्यसूत्र	आश्वलायनऋषिकृत
आर्ष-योगोपनिषद्	स्वामी वेदानन्दतीर्थ
ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद्	भीमसेन शर्मा
ऐतरेय ब्राह्मण भाग १-२	सायणाचार्य
काशिका	श्री शोभित मिश्र
गोपथ ब्राह्मण	क्षेमकरणदास त्रिवेदी
चतुर्वेदीय विषयसूची	स्वामी दयानन्द सरस्वती
चरक संहिता	महर्षि चरक
तैत्तिरीय ब्राह्मण	सायणाचार्य
तैत्तिरीय आरण्यक	” ”
धर्म का आदि स्रोत	पं० गंगाप्रसाद, एम० ए०
ध्यानयोग प्रकाश	स्वामी लक्ष्मणानन्द
पञ्चतन्त्र	विष्णु शर्मा
प्रत्यक्शारीरिक भाग ३	निर्णयसागर प्रेस
पातंजलयोग दर्शनम्	नारायण मिश्र
पातंजलयोग दर्शन	पं० रुद्रदत्त शर्मा
प्राण विज्ञान	स्वामी योगेश्वरानन्द
पुरुषार्थ-प्रकाश	स्वामी नित्यानन्द/विश्वेश्वरानन्द
ब्रह्मविद्या	स्वामी कृष्णानन्द
ब्राह्मणोद्धारकोष:	विश्वबन्धुशास्त्री

भगवद्गीतारहस्य	बालगंगाधर तिलक
भगवद्गीता	स्वामी समर्पणानन्द
भारतवर्षीय प्राचीनचरित्रकोष	म० म० विद्यानिधि सिद्धेश्वर शास्त्री
भारतीय साहित्य संस्कृति	डॉ० हरिदत्त शास्त्री
मनोवैज्ञानिक अनुभव	लालराम शुक्ल
महाभारत	हनुमानप्रसाद पोद्दार
महायोगविज्ञान	नारायणदेव तीर्थ
माधवीयाधातुवृत्तिः	द्वारिकादासशास्त्री
मुक्तिपथ	गंगागिरि आचार्य
योगदर्शन	ईश्वरीप्रसाद प्रेम
योगदर्शन	स्वामी ब्रह्मलीन मुनि
योगदर्शन	पं० राजाराम प्रोफेसर
योगी का आत्मचरित्र	दीनबन्धुशास्त्री/सच्चिदानन्द योगी
वाल्मीकि रामायण	हनुमानप्रसाद पोद्दार
वेद और श्रीअरविन्द	पं० जगन्नाथ वेदालंकार
वेदतत्त्व प्रकाश (ऋग्वेदभाष्यभूमिका)	सुखदेव विद्यावाचस्पति
वेदप्रकाश	प्रो० राजाराम
वेददर्शन योग	मैं ही दास परमहंस
वेद तथा ऋषि दयानन्द	डॉ० श्रीनिवास शास्त्री
वेदार्षकोष भाग १, २, ३	पं० चमूपति आचार्य
वैदिक चिकित्सा	दामोदर सातवलेकर
वैदिक योगपद्धति	स्वामी विद्यानन्दविदेह
वैदिक वन्दन	स्वामी ब्रह्ममुनि
वैदिक ऋषि एक परिशीलन	डॉ० कपिलदेव शास्त्री
वैदिक सम्पदा	पं० वीरसेन वेदश्रमी
वैदिक साहित्य और संस्कृति	आ० बलदेव उपाध्याय
वेदों में भारतीय संस्कृति	पं० आद्यादत्त ठाकुर
शाङ्र्गधर संहिता	निर्णयसागर प्रेस
सन्ध्योपासना	दामोदर सातवलेकर
सन्ध्याष्टांगयोग	स्वामी आत्मानन्द सरस्वती
सन्ध्यायोग एवं ब्रह्म साक्षात्कार	ब्र० जगन्नाथ पथिक
संस्कृत साहित्य का सरल सुबोध इतिहास	जितेन्द्रचन्द्र भारतीय
संस्कृत हिन्दीकोष	रघुवीरशरण
सांख्यदर्शन का इतिहास	आ० उदयवीर शास्त्री

साङ्ख्ययोगदर्शनम्	दामोदर शास्त्री
सामवेद भाष्य	हरिशरण सिद्धान्तालंकार
सुश्रुत संहिता	धन्वन्तरिप्रणीता
सामवेदभाष्य	पं० स्वामी तुलसीराम
हठयोगप्रदीपिका	गोरक्षनाथ

ENGLISH BOOKS

Yog Darshan of Patanjali	Gopal
Yog	Earnest Wood
The Crown of Life	Sant Kirpal Singh
The Six System of Indian Philosophy	Max Mullar
The Yoga System of Patanjali	James Haug
Easy Steps of Yoga	Shivanand
Synthesis of Yoga	Shri Arvind
Base of Yoga	Shri Arvind
Father Light on Yoga	Shri Arvind

आशीर्वचन एवं सम्मति

ब्रह्मचारी योगेन्द्र पुरुषार्थी ने 'वेदों में योगविद्या' नामक ग्रन्थ लिखकर एक महान् कार्य किया है। इस ग्रन्थ को लिखने एवं प्रकाशन में आपने कठिन परिश्रम किया है। यह ग्रन्थ योग-जिज्ञासुओं को उचित मार्ग-दर्शन करेगा, ऐसी आशा करता हूँ।

ग्रन्थ-लेखक को इसके लिए मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूँ और उन्नतमय जीवन की कामना करता हूँ—

मंगलाभिलाषी—
स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती
योग निकेतन—दिल्ली

गुरोरन्तस्तदा प्रसीदति यदास्यान्तेवासिनाऽस्यैव कर्माग्रं सार्यते। प्रियात्म-शिष्येन योगेन्द्रपुरुषार्थिना मम संम्प्रसादस्तावदीदृशो गतदशाब्द्यां सततं समुत्पा-दितः। योगविद्याया अध्ययन-मनन-निदिध्यासनमेवास्य लक्ष्यम्। इत्थं च योगस्य ज्ञाने क्रियायां चापि उभयथाऽनिशं प्रगतिं विन्दमानः नरत्वं सफली करोत्यसौ सच्छिष्योऽस्मदीयः।

यथाऽन्येषां भारतीयदर्शनानां तथैव योगदर्शनस्यापि मूलं सर्व-सत्य-विद्या-पुस्तके वेदे स्थितमिति विश्रम्भेन अनुसन्धानविषयेऽस्मिन् प्रेरितः। यादृशी च कल्पना तदाऽभवत् तामद्य रचनायामस्याम् आकृतिमतीमुपलभ्य, प्रमुदितमनसा च आशीर्वचांसि व्याहरन्नहम् अर्थवत्-साफल्यस्य आह्लादं स्वयमपि लेखकवदेव अनुभवामि। मन्ये निगमागमाकृष्ट-योग-विद्या-सुग्रथितोऽयं ग्रन्थः योगजिज्ञासून् सद्योग-मार्ग-प्रदर्शकतया भारतीय-वाङ्मयस्य अमूल्योंऽशः सेत्स्यतीति।

शुभेच्छु:
सच्चिदानन्दः सरस्वती योगी

आपकी पुस्तक 'वेदों में योगविद्या' प्रकाशित हो रही है, बड़े हर्ष की बात है। इस पुस्तक के लिखने में अपने नाम पुरुषार्थी के अनुरूप, आपने सराहनीय पुरुषार्थ किया है। महर्षि दयानन्द के लेख "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है" के अनुसार इस परमपवित्र योगविद्या के बहुत से प्रमाण वेदमन्त्रों द्वारा उद्धृत करके पूर्वोक्त सत्य को सिद्ध करके दिखाया है। मेरी इच्छा है कि इस पुस्तक का प्रचार व प्रसार अच्छी प्रकार से हो, जिससे योग के प्रेमी इसका स्वाध्याय करके यथोचित लाभ उठा सकें। यही मेरी हार्दिक इच्छा है। प्रकाशित होने पर इसकी १०० प्रतियाँ यथोचित् मूल्य पर मेरे पास भिजवा दें। आपके इस पवित्र कार्य की सफलता के लिए मेरी शुभ कामनायें व आशीर्वाद है।

ओमानन्द सरस्वती
गुरुकुल झज्जर (रोहतक)

प्रस्तुत पुस्तक यौगिक ज्ञान पर उत्तम प्रकाश डालती है। ज्ञान के दो भेद हैं—पुस्तकजन्य और आत्मज। पुस्तकीय बोध पुस्तकों के अध्ययन से उपलब्ध होता है और आत्मज्ञान योग-समाधि द्वारा प्रतीति में आता है।

इन दोनों में आत्मद्वारा प्रकटित ज्ञान वास्तविक, निर्भ्रान्त और प्रत्यक्ष कोटि का है। जैसे किसी वस्तु के श्रवण कर लेने पर मानव की इच्छा उसे देखने के लिए उभर आती है और दृष्टिगत कर लेने पर वह शान्त हो जाती है इसी प्रकार योग समाधि से आत्मबोध के उद्बुद्ध हो जाने पर संशय को अवकाश नहीं रहता। एवं विधिज्ञान की तुलना हम सूर्य के प्रकाश में आलोकित पदार्थों से कर सकते हैं। ऐसा ज्ञान अत्यन्त पवित्र माना गया है, जैसा कि गीता का वचन है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। ४-३८

यह योग-सम्बन्धि विविध विषयों के परिप्रेक्ष्य में ग्रथित ग्रन्थ आत्मजन्यबोध की दिशा का निर्देशन करता है। लेखक महोदय ने ७७ एतद्विषयक पुस्तक-पुस्तिकाओं, पत्र-पत्रिकाओं का अवगाहन कर इसे समीचीन तथा हृदयङ्गम कराने में भूरि परिश्रम किया है।

आद्यन्त ग्रन्थ का अवलोकन कर मेरा कथन है कि जिस अन्तः प्रसूत स्निग्धता और पुरुषार्थ से श्री योगेन्द्र पुरुषार्थी ने योग विषय को सन्दृब्ध किया है, आशा है साधक सुधी भी उसी भावना से इसे स्वीकार कर उनके प्रयास को सफल करेंगे।

प्रस्तोता
श्रीमद् दयानन्दार्ष विद्यापीठ
C/O झज्जर गुरुकुल (रोहतक)

वेदानन्द वेदवागीश

डॉ० योगेन्द्र पुरुषार्थी द्वारा लिखित पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध "वेदों में योग विद्या" ग्रन्थ को पढ़ने का मुझे अवसर मिला है। योग के सम्बन्ध में रिसर्च का कार्य साधारण कार्य नहीं है। इसके लिए कोई अष्टाङ्ग-योग का साधक जिज्ञासु ही समर्थ हो सकता है। पिछले २५ वर्ष से मैं पुरुषार्थी जी के पवित्र जीवन से, सम्यक्तया परिचित हूँ। धन-धान्य और सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण परिवार और कालेज की शिक्षा को छोड़कर वैराग्य के मार्ग पर आप जीवन के प्रारम्भ में ही अग्रसर हो गये थे। आज से २४ साल पहले मैनपुरी जिले के सिरसागंज कस्बे के समीप एक छोटे गाँव देवनगर से जीवन यात्रा प्रारम्भ की थी। संसार का ऐसा कोई भी कष्ट नहीं बचा होगा, जो पुरुषार्थी जी के जीवन में न आया हो 'किन्तु पूर्वजन्म के दृढ़ संस्कारों के कारण आप निरन्तर तपस्या के रास्ते पर बढ़ते रहे। लम्बे काल के, साधना, विद्या, धार्मिकता और संयम की दृष्टि से यदि मैं किसी एक व्यक्ति को प्रामाणिक रूप से मानता रहा हूँ तो वे पुरुषार्थी जी हैं। अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त, दर्शन, वेद आदि सभी आर्य ग्रन्थों के गहन अनुशीलन के साथ, योग साधना भी आपकी निरन्तर चलती रही है। महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी वर्ष के अवसर पर आप अपने योगसाधना के अनुभव को ग्रन्थ रूप में "वेदों में योगविद्या" नाम से साधक जनों को समर्पित कर रहे हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास आश्रम की दीक्षा लेकर स्वयं को भी सर्वात्मना समर्पित कर रहे हैं।

मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि डॉ० योगेन्द्र पुरुषार्थी जैसे निष्ठावान् व्यक्तित्व आज आर्यसमाज के क्षेत्र में हैं। मेरा विश्वास है कि 'वेदों में योगविद्या' ग्रन्थ मुमुक्षुजनों को पथ-प्रदर्शन कर सकेगा और आदरणीय पुरुषार्थी जी अपने जीवन से हजारों जीवनों का निर्माण कर सकेंगे।

इन्द्रवेश (संसद सदस्य)
६९ साउथ एवेन्यू, नई दिल्ली-१

आज पश्चिम में योग का व्यापार जिस प्रकार से हो रहा है, उसे देखकर अनेक भ्रान्तियाँ जन्मीं हैं। 'योगः कर्मसु कौशलम्' है अथवा कुछ और ? योग प्राणमय से आनन्दमय तक की सुखद-कठिन यात्रा है। विद्वान् लेखक डॉ० योगेन्द्र पुरुषार्थी (स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती) ने इस यात्रा को जिया है और आवाहन किया है समूचे विश्व को इसमें सम्मिलित होने के लिए। सम्भवतः योग की यह अपने ढंग की प्रथम कृति है, जिसमें योगविद्या का सही रूप निखरकर आया है। आशा है, देश-विदेश के सभी योगाभिलाषी इस ग्रंथ से लाभान्वित होंगे।

सं० निदेशक
प्रकाशन विभाग, भारत सरकार
नई दिल्ली

(डॉ०) श्यामसिंह शशि
एम० ए०, पी०-एच० डी०

कोऽयं वरेण्यचरितोऽसमये ह्यकस्मात्
वैराग्य-भाव-परिपूरित-चित्त-भाण्डः ।
तत्याज गेहममतामिमितामिदानीम्,
भेजे त्वनन्यशरणः सरणिं वनस्य ॥१॥

कोऽयं नु भौतिक-सुखं परिकल्पयित्रीम्,
सज्जां विहाय मसृणां गृहजीवनस्य ।
अशिश्रिये शरकुशाग्रजसूचिविद्धम्,
पन्थानमाशु बहुहिंस्रक जन्तुजालम् ॥२॥

रात्रौ सरितटगतश्च रथाङ्ग एषः,
प्रत्याह वीक्ष्यं विमनाः सुमुखं युवानम् ।
"योगेन्द्रनाम पुरुषार्थरतो विरक्तः,
पर्यव्रजद् विमल-मुक्तिमवाप्तुकामः" ॥३॥

योऽध्यापयद् बहुदिनानि च शब्दशास्त्रम्,
प्राधीत्य दर्शनमिदं निगमं पवित्रम् ।
पातञ्जलस्य पठने मनसे ततोऽनु—
सन्धित्सुराशु निरतो निगमेषु योगम् ॥४॥

सद्यः श्रुतीडितवचांसि समुद्धरत् यः,
सिद्धां व्यधात् श्रुतिप्रमाणितयोगविद्याम् ।
तच्छोध कार्यमनुवीक्ष्य मम प्रकामम्,
चेतोऽनुशंसनपरां मुदमादधाति ॥५॥

चक्रे च 'देवनगरं' निजजन्मना यः,
सद्गौरवान्वितमहो वरणीयवृत्तः ।
आम्नाय-दर्शन-समर्चित शब्दशास्त्रे,
प्रावीण्यमाप शुचिगैरिकवस्त्रधारी ॥६॥

यो वै वैदिक-संहितासु विहितं सद्योगतत्त्वं परम्,
व्याचख्यौ स्वकृतौ सुधीवरयतिर्योगेन्द्रनामा व्रती ।
चक्रे यो ह्यनिकेतनो निवसनं ज्वालापुरे साम्प्रतम्,
नो कस्यापचितिं समर्हति बुधः सद्योगधाम्नि स्थितः ॥७॥

यद्बाला जनुषः प्रभृत्यनुदिनं गीर्वाणवाण्यां मुदा,
क्रीड़न्तः कलहं चरन्त इह वा स्तन्येन साकं सदा ।
श्रोत्राभ्यां च पिबन्ति मन्त्रसुरसं श्री 'निर्मलाङ्कस्थिता,
तस्मै सिध्यतु मुक्तये-खलु विशुद्धानन्ददेयं कृतिः ॥८॥

आचार्यो विशुद्धानन्दः
वेदमन्दिर कचापाड़ा, बदायूँ

ग्रन्थप्रकाशन के सहयोगी दानी सज्जन

सर्वश्री…

रायसाहिब चौ० प्रतापसिंह, करनाल	११००-००
यदुवंश सहाय, वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर	१००१-००
डॉ० वेदप्रकाश गुप्ता आगरा	१००१-००
काशीनाथ-सीताराम गुप्ता, ग्वालियर	१००१-००
माता सरला गुप्ता, रूपनगर दिल्ली	५०१-००
डॉ० ओम्प्रकाश अग्रवाल, सिरसागंज	५०१-००
राधामोहन ओम्प्रकाश फरसैया सिरसागंज	५०१-००
बृजमोहन, बृजगोपाल, सिरसागंज	५०१-००
हरिश्चन्द्र, ओम्प्रकाश, सुभाष बाजार आगरा	५०१-००
आचार्य हरिदेव, दया० वे० वि०, गौतम नगर दिल्ली	५०१-००
विद्याराम ओम्शरण, सिरसागंज	३०१-००
माता लीलावती प्रधाना आ० स०, शक्तिनगर	२५१-००
परमानन्द जी० भूटानी, जेतपुर	२५०-००
मनसाराम सोना साबुन वाले मोदीनगर	२०१-००
सुरेन्द्रदेव फरसैया, सिरसागंज	१५१-००
रामास्टील सीरेवाले, मोदीनगर	१२५-००
भगवतसिंह भट्टेवाले, मोदीनगर	१०२-००
रामनारायण भगवानगंज, मोदीनगर	१०१-००
जवाहरलाल, नगले वाले मोदीनगर	१०१-००
जगदीश प्रसाद, नगले वाले मोदी नगर	१०१-००
अचरजलाल प्रधान आ०, मोदीनगर	१०१-००
किरनदेवी धर्मपत्नी स्व० श्री हुब्बलाल, सिरसागंज	१०१-००
यज्ञदत्त दोनेरिया, सिरसागंज	१०१-००
ध्यानपालसिंह, सिरसागंज	१०१-००
रामरतन वर्मा, सिरसागंज	१०१-००
ब्रह्मानन्द आर्य, सिरसागंज	१०१-००
राजेन्द्र कुमार, सिरसागंज	१०१-००

डॉ० सुभाषचन्द्र, सिरसागंज	१०१-००
मुंशीलाल बांसवाले, सिरसागंज	१०१-००
शिवदयाल जी गुप्ता एक्जी० इं०, लखनऊ	१०१-००
अमरचन्द गुप्ता, आगरा	१०१-००
श्रीमती भारतहरी c/o हितेश मोहन, इलाहाबाद	१०१-००
माता नारायणीयति वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर	१०१-००
सुशीलादेवी शारद वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर	१०१-००
स्वामी ब्रह्मानन्द योगधाम, ज्वालापुर	१०१-००
स्वामी यज्ञानन्द योगधाम, ज्वालापुर	१०१-००
रोशनलाल, यमुनानगर	१०१-००
प्रेमपाल शास्त्री, आ० स० शक्तिनगर दिल्ली	१०१-००
ब्र० राजसिंह प्रधान केन्द्रीय आ० यु० प०, दिल्ली	१०१-००
वान० देवमुनि सहजवा उमाहीकलाँ, सहारनपुर	१०१-००
वेदपाल आर्य, कोथलखुर्द महेन्द्रगढ़	५१-००
माता जयवन्ती प्रधानाध्यापिका, बी० एच० ई० एल० हरिद्वार	५१-००
अम्बरीश गुप्ता, कमलानगर दिल्ली	५१-००
शाहप्रतापसिंह, सिरसागंज	५१-००
ब्र० नन्दकिशोर एम० ए०, ज्वालापुर	५१-००

□

वेदों में योगविद्या

डॉ॰ योगेन्द्र पुरुषार्थी